VIDYA UNIVERSITY PRESS

TOUCH n PASS

सर्वश्रेष्ठ परीक्षा पथ-प्रदर्शक

B.A.
प्रथम वर्ष
(सर्टिफिकेट कोर्स)
सेमेस्टर-I

भूगोल

भौतिक भूगोल

SYLLABUS

UNIT-I Nature and Scope of Physical Geography, Origin of Universe, solar system and Earth (Big Bang Theory and Indian Concepts). Geological Time Scale (with special reference to evidences from India), Interior of the Earth.

UNIT-II Origin of Continents and Oceans, Isostacy, Earthquakes and Volcanoes, Geosynclines, Continental Drift theory, Concept of Plate Tectonics.

UNIT-III Rocks, Folding, Faulting, Weathering, Erosion, Cycle of Erosion by Davis and Penck, Drainage Pattern.

UNIT-IV Fluvial, Karst, Aeoliant, Glacial and Coastal Landforms.

UNIT-V Composition and Structure of atmosphere: Insolation, Atmospheric pressure and winds.

UNIT-VI Airmasses and Fronts, cyclones and anti-cyclones, Humidity, precipitation and rainfall types.

UNIT-VII Ocean Bottoms, composition of marine water-temperature and salinity. Circulation of Ocean water Waves, Currents and Tides, Ocean deposits, Corals reefs and it's type.

UNIT-VIII Biosphere : Meaning and Concept, components of Biosphere, concept of Biotic succession, Biome : Tropical evergreen rainforest biome, Savanna biome, Temperate grassland biome, Tundra biome, Hot desert and semi desert biome.

TOUCH n PASS

VIDYA®
UNIVERSITY PRESS

पंजीकृत कार्यालय
विद्या लोक, टी०पी० नगर, बागपत रोड,
मेरठ, उत्तर प्रदेश (NCR) 250 002
फोन : 0121-2513177, 2513277
www.vidyauniversitypress.com

© प्रकाशक

सम्पादन एवं लेखन
शोध एवं अनुसन्धान प्रकोष्ठ

मुद्रक
विद्या यूनिवर्सिटी प्रेस

TOUCH n' PASS

विषय-सूची

UNIT-I ...3
UNIT-II ...23
UNIT-III ...49
UNIT-IV ...74
UNIT-V ...108
UNIT-VI ...128
UNIT-VII ...152
UNIT-VIII ...181
○ **मॉडल पेपर** ...199

UNIT-I

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भौतिक भूगोल से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में लिखिए।

उत्तर भौतिक भूगोल का सम्बन्ध भौतिक वातावरण से है, जिसमें स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल एवं जीवमण्डल के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया जाता है अर्थात् भौतिक वातावरण का अध्ययन ही भौतिक भूगोल है।

प्र.2. भौतिक भूगोल का जीव विज्ञान से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर भौतिक भूगोल में जीवमण्डल का विस्तार, पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति, विकास, आवास, वनस्पति के प्रकार, वितरण, जन्तुओं के प्रकार, वितरण, प्रवसन, पारिस्थितिक तंत्र आदि का अध्ययन किया जाता है, जो कि जीव विज्ञान (वनस्पति शास्त्र व प्राणी शास्त्र) की भी विषय-वस्तु है।

भौतिक भूगोल का अन्य पृथ्वी विज्ञानों से व्यापक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ अन्य विज्ञान पृथ्वी के विशिष्ट पक्षों का अलग-अलग एवं गहनतम अध्ययन करते हैं, वहाँ भौतिक भूगोल सभी विज्ञानों से उपलब्ध परिणामों का समन्वय कर भूपटल तथा सजीवों के संबंध में युक्तिसंगत करता है।

प्र.3. आकाशगंगा के विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर ब्रह्माण्ड में असंख्य आकाशगंगाएँ हैं। साधारण शब्दों में अन्तरिक्ष में पाए जाने वाले लाखों तारों के विशाल पुंज को मंदाकिनी या आकाशगंगा कहते हैं। आकाशगंगा में तारों के अतिरिक्त गैस तथा धूल भी व्याप्त होती है। इनका आकार सर्पिलाकार, दीर्घ वृत्ताकार तथा अनियमित होता है। 1876 में खगोलविद् विलियम टेम्पल द्वार खोजी गई आकाशगंगा एन०जी०सी० 2336 की अमरीकी अंतरिक्ष एजेंसी नासा (NASA) ने हबल टेलीस्कोप से ली गई नवीनतम् तस्वीर 5 मार्च, 2021 को जारी की। सर्पिलाकार की यह आकाशगंगा पृथ्वी से लगभग 10 करोड़ प्रकाश वर्ष दूर है। हमारी पृथ्वी तथा सौरमण्डल जिस आकाशगंगा में आते हैं, उसे दुग्धमेखला या दूधिया मार्ग (Milky Way) या ऐरावत पथ कहते हैं।

प्र.4. ब्रह्माण्ड से आप क्या समझते है?

उत्तर पृथ्वी के चतुर्दिक विस्तृत अनन्त आकाश को अन्तरिक्ष (Space) कहते हैं। आकाशीय पिण्डों के मध्य के इस स्थान को शून्य व रिक्तस्थान भी कहा गया है। अन्तरिक्ष का अध्ययन करने वाले विषय या विज्ञान को अंतरिक्ष विज्ञान (Space Science) कहते हैं। जहाँ पृथ्वी का वायुमण्डल समाप्त होता है, वहाँ से बाह्य अंतरिक्ष (Outer Space) प्रारम्भ होता है। ब्रह्माण्ड (Universe) से सभी खगोलीय पिण्डों के साथ-साथ अंतरिक्ष भी समाहित होता है अर्थात् ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण अन्तरिक्ष उसमें स्थित द्रव्य एवं ऊर्जा का समग्र रूप है। इसका अनुमानित विस्तार 20 अरब वर्ष है।

प्र.5. 'चन्द्रमा' क्या है? चन्द्रमा को पृथ्वी की एक परिक्रमा पूर्ण करने में कितना समय लगता है तथा इस अवधि को क्या कहाँ जाता है? संक्षेप में लिखिए।

उत्तर यह पृथ्वी का एकमात्र उपग्रह है। यह पृथ्वी का मात्र एक-चौथाई है। पृथ्वी से इसकी औसत दूरी 3,84,467 किमी है। इसका घनत्व 3.3 है। चन्द्रमा की गतियाँ तीन प्रकार की हैं—घूर्णन, परिक्रमण तथा सूर्य से संबंधित। घूर्णन गति में चन्द्रमा अपने अक्ष पर 27 दिन 7 घण्टे में एक चक्कर पूरा करता है। अण्डाकार पथ पर पृथ्वी की परिक्रमा 27 दिन 7 घण्टे में करता है। इसलिए चन्द्रमा का केवल आधा भाग ही सदैव पृथ्वी के सामने रहता है। सूर्य से संबंधित गति में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती हुई आगे बढ़ जाती है, जिससे चन्द्रमा पीछे रह जाता है। इसलिए चन्द्रमा को पृथ्वी की एक परिक्रमा पूर्ण करने में $29\frac{1}{2}$ दिन का समय लग जाता है। इस अवधि को चन्द्र मास (Lunar Month) भी कहते हैं।

प्र.6. आकार तथा संरचना की दृष्टि से सौरमण्डल के ग्रहों को कितने भागों में विभाजित किया गया हैं?

उत्तर आकार तथा संरचना की दृष्टि से सौरमण्डल के ग्रहों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—आन्तरिक ग्रह तथा बाह्य ग्रह। बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल आन्तरिक ग्रह हैं। ब्राह्य ग्रहों की तुलना में इनकी परिभ्रमण की गति तीव्र है तथा सामान्यत:

आकार छोटा है। इनकी संरचना लगभग समान है। उपग्रहों की संख्या बहुत कम है। बाह्य ग्रहों में वृहस्पति, शनि, अरुण और वरुण सम्मिलित हैं। इनकी परिभ्रमण गति मन्द है, किन्तु उपग्रहों की संख्या अधिक है। ये सभी ग्रह आकार में बड़े हैं।

प्र.7. सूर्य का कोणीय संवेग कुल सौरमण्डल के कोणीय संवेग से कितना प्रतिशत कम है?

उत्तर यद्यपि सूर्य का द्रव्यमान कुल सौरमण्डल के द्रव्यमान के 99 प्रतिशत से अधिक है, किन्तु इसका कोणीय संवेग कुल सौरमण्डल के कोणीय संवेग के 2 प्रतिशत से भी कम है। इससे सूर्य व ग्रहों की रचना में आधारभूत अन्तर की पुष्टि होती है।

प्र.8. भू-वैज्ञानिक समय मापनी से क्या तात्पर्य है?

उत्तर पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर आज तक के भूवैज्ञानिक इतिहास को भू-वैज्ञानिक समय मापनी कहते हैं। इसके अन्तर्गत धरातल पर विभिन्न स्थलाकृतियों, प्राणियों तथा वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं विकास को एक निश्चित क्रम में विभिन्न कालों व काल खण्डों में बाँटते हुए अध्ययन किया जाता है। चूँकि पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर वर्तमान तक की अवधि बहुत लम्बी है अत: इसे बड़े-बड़े कालखण्डों, विभागों व उपविभागों में बाँटने से सम्पूर्ण कालक्रम को समझने में सुविधा रहती है।

प्र.9. "पृथ्वी के केन्द्र में अधिक भारी पदार्थ विद्यमान है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के सम्बन्ध में पृथ्वी पर घनत्व के वितरण प्रतिरूप से काफी जानकारी मिलती है। पृथ्वी की उत्पत्ति के समय ही इसके घनत्व का प्रारूप निश्चित हो गया था। जिसके अनुसार कम घनत्व वाली चट्टानें ऊपरी सतह पर तथा उत्तरोत्तर गहराई की ओर अधिक घनत्व वाली परतें विस्तृत है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण पृथ्वी पिण्ड का घनत्व 5.5 आंका गया। पृथ्वी की ऊपरी सतह पर अधिकांशत: परतदार चट्टानें विस्तृत हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व मात्र 2.7 है। परतदार चट्टानों के नीचे आग्नेय चट्टानों के जमाव पाए जाते हैं, जिनका घनत्व 2.9 से 3.5 के मध्य है। अधिकांश सागर तली पर भी ऐसी ही संरचना पाई जाती है। पृथ्वी के केन्द्रीय भाग या भू क्रोड (Core) का घनत्व 11 से अधिक अनुमानित किया गया है। यदि सम्पूर्ण पृथ्वी धरातल की ऊपरी परत जैसे पदार्थों से बनी होती तो उसका घनत्व एवं भार वर्तमान से आधा होता, अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी के केन्द्र में अधिक भारी पदार्थ विद्यमान हैं।

प्र.10. प्राथमिक लहर अथवा 'P' लहर के विषय में आप क्या जानते हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर प्राथमिक लहर की गति सबसे अधिक 6 से 9 किमी प्रति सेकण्ड होती है। इसमें कणों की गति तरंग की रेखा की सीध में होती है अर्थात् ये ध्वनि की लहर के समान होती हैं। ये ठोस पदार्थों में शीघ्रता से अधिक गहराई पर पहुँच जाती हैं, किन्तु द्रव या लचीले पदार्थों में इनकी गति कुछ घटने लगती है। ऐसे पदार्थों में यह मोड़ लेकर आगे बढ़ती हैं। सर्वाधिक वेगवान लहरें होने के कारण इनका प्रभाव भूकम्पलेखी (Seismograph) पर सबसे पहले अंकित किया जाता है। संक्षेप में इन्हें 'P' लहरें कहते हैं। इनकी लघु तरंगें Pg एवं P कहलाती हैं।

प्र.11. पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न परिकल्पनाओं को बताइए।

उत्तर विद्वानों ने पृथ्वी को ठोस, द्रव तथा गैस तीनों रूपों में माना है। काण्ट की वायव्य-राशि परिकल्पना तथा लाप्लास की 'निहारिका परिकल्पना' में पृथ्वी की उत्पत्ति गैसीय निहारिका से मानी गई है। इस प्रकार पृथ्वी का आन्तरिक भूगर्भ वायव्य अवस्था में होना चाहिए। 'ग्रहाणु परिकल्पना' के अनुसार पृथ्वी का निर्माण एक प्रकार के ठोस कणों में एकत्रित होने से हुआ है। अत: सम्पूर्ण पृथ्वी ठोस अवस्था में होनी चाहिए लेकिन ज्वारीय परिकल्पना भूगर्भ को तरल अवस्था में ही प्रमाणित करती है। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त द्वैतारक परिकल्पना, विद्युत् चुम्बकीय सिद्धान्त, वोन विसेकर की परिकल्पना, ओटो श्मिड की अन्तरातारक धूल परिकल्पना आदि में अलग-अलग विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

प्र.12. निफे से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर सिमा (Sima) के निचले तल से लेकर पृथ्वी के केन्द्रीय भाग तक चारों ओर का विस्तारित भाग निफे कहलाता है। इसे केन्द्रीय परत या भूक्रोड (Core) भी कहते हैं। यहाँ पर निकिल (Ni) एवं लौह (फेरियम या Fe) जैसे अधिक भारी एवं चुम्बकीय गुणों वाली धातुओं की अधिकता पाई जाती है। पृथ्वी का चुम्बकीय गुण भी इसी कारण से है। यहाँ की चट्टानों का घनत्व 11 तक है। इसकी गहराई 2,900 किमी से भूकेन्द्र तक है। इस मध्य पिण्ड का व्यास लगभग 7,000 किमी है।

प्र.13. पृथ्वी में गहराई के अनुसार तापमान का क्या प्रभाव होता है?

उत्तर पृथ्वी में गहराई के अनुसार तापमान बढ़ता जाता है। इसकी वृद्धि पर प्रति 32 मीटर गहराई पर 1°C है। इस आधार पर भूगर्भ के तापमान में इतनी अधिक वृद्धि हो जाएगी कि वहाँ कोई भी खनिज या शैल ठोस अवस्था में नहीं रह सकता। इसका प्रमाण

ज्वालामुखी उद्‌गार के समय निकलते तप्त लावा को माना गया। इस आधार पर पृथ्वी का आन्तरिक भाग तरल है, किन्तु इसके विपक्ष में वैज्ञानिकों का कहना है कि गहराई पर दबाव की वृद्धि भी होती है, जिससे शैलों का द्रवणांक बिन्दु बढ़ जाता है एवं शैलें ठोस ही रहती हैं। महाद्वीपीय क्रस्ट में तापमान की वृद्धि दर का परिकलन करने पर वैज्ञानिकों ने पाया कि विवर्तनिक रूप से सक्रिय क्षेत्रों में सतह से 40 किमी की गहराई पर तापमान लगभग 1000°C रहता है, जबकि स्थिर व शान्त प्रदेशों में इसी गहराई पर तापमान 500°C ही रहता है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भौतिक भूगोल के विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

भौतिक भूगोल का विकास
(Development of Physical Geography)

भूगोल के विकास के साथ ही भौतिक परिवेश का अध्ययन किया जाने लगा। ईसा पूर्व की शताब्दियों में यूनानी विद्वानों ने अन्वेषण, पर्यवेक्षण व परिकल्पना विधियों का प्रयोग भौगोलिक वर्णन में किया। बेल्स ने पृथ्वी की उत्पत्ति और नक्षत्रों का वर्णन पर भौतिक भूगोल के अध्ययनों में गणितीय भूगोल का सूत्रपात किया। अनेग्जीमैण्डर ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति विषयक लेख लिखे तथा ज्ञात भू-भाग का मानचित्र भी बनाया। हैरोडोटस ने यूरोप, एशिया व अफ्रीका के प्रदेशों की यात्राएँ की तथा जलराशियों व मिट्‌टी का वर्णन किया। अरस्तू ने पृथ्वी की गोलीय आकृति तथा कटिबंधों का वर्णन किया। थियोफ्रेस्टस ने भूमध्य सागरीय क्षेत्र में वनस्पति पर जलवायु एवं उच्चावच के प्रभाव का वर्णन कर पादप भूगोल का प्रारम्भ किया। इरेटोस्थनीज को भौतिक भूगोल का पूर्वगामी विद्वान माना जाता है। उसने ईसा पूर्व काल में सर्वप्रथम पृथ्वी की परिधि की गणना करने के साथ ही ज्ञात विश्व का मानचित्र अक्षांश व देशान्तर रेखाओं सहित बनाया। अन्य यूनानी एवं रोमन भूगोलवेत्ताओं ने नदियों, सागरों, पर्वतों, द्वीपों व ज्वालामुखी क्षेत्रों का वर्णन किया। अरब भूगोलवेत्ता खगोलकी व ज्यामिती के क्षेत्र में यूनानियों से श्रेष्ठ थे। पुनर्जागरण काल में की गई लम्बी यात्राओं के परिणामस्वरूप नई दुनिया की भौतिक एवं नवीन जानकारियाँ मिली। 18वीं और 19वीं शताब्दी के जर्मन भूगोलवेत्ता वारेनियस, काण्ट, हम्बोल्ट आदि ने भौतिक भूगोल शब्द का प्रयोग सामान्य भूगोल के लिए किया। हम्बोल्ट द्वारा भौगोलिक ज्ञानार्जन के लिए की गई लम्बी यात्राओं के वर्णन तथा लिखित ग्रन्थों में तत्कालीन भौतिक भूगोल की विषयवस्तु को देखा जा सकता है। इस समय भौतिक वातावरण के अध्ययनों के लिए भौतिक भूगोल के स्थान पर प्राकृतिक भूगोल शब्द का अधिक प्रयोग किया गया। अमेरिका में भौतिक भूगोल को विकसित करने में गिलबर्ट, सैलिसबरी, थार्नबरी, मैथ्यू मौरी, डेविस आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 19वीं शताब्दी के मध्य विलियम मोरिस डेविस ने सर्वप्रथम स्थलरूपों के निर्माण तथा विकास से सम्बन्धित सामान्य अपरदन चक्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा Physical Geography पुस्तक लिखी। इस सिद्धान्त की आलोचना एवं संशोधन के रूप में वाल्टर पेंक, एल०सी० किंग, क्रिकमे आदि विद्वानों के सिद्धान्त प्रकाश में आए। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक भूगोल का वैज्ञानिक आधार तैयार हुआ। बीसवीं शताब्दी में हार्टन, स्ट्रालर, चोर्ले आदि द्वारा प्रक्रम एवं स्थलरूपों के अध्ययन में मात्रात्मक विधियों का प्रयोग कर भूआकृतिक सिद्धान्तों का सवंर्द्धन किया गया।

प्र.2. भौतिक भूगोल के अध्ययन क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

उत्तर

भौतिक भूगोल का अध्ययन क्षेत्र
(Scope of Physical Geography)

भौतिक भूगोल के अध्ययन क्षेत्र निम्नलिखित हैं—

1. **पृथ्वी के ग्रहीय सम्बन्ध**—सौरमण्डल के एक सदस्य के रूप में पृथ्वी के ग्रहीय सम्बन्ध उसके घूर्णन (Rotation), परिक्रमण (Revolution), प्राकृतिक शक्तियों तथा प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। पृथ्वी के कृत्रिम या मानव निर्मित उपग्रहों का संचालन भी ग्रहीय सम्बन्धों से प्रभावित होता है, अत: इनका अध्ययन आवश्यक है। इसके अन्तर्गत सौर जगत एवं पृथ्वी की उत्पत्ति, आयु, अन्य ग्रहों से पृथ्वी के सम्बन्ध, गुरुत्व का प्रभाव, पृथ्वी की गतियाँ आदि का अध्ययन सम्मिलित है।
2. **स्थलमण्डल**—स्थलमण्डल के अन्तर्गत पृथ्वी तल पर स्थित समस्त स्थल खण्डों तथा उनके विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत उन अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं पर भी विचार किया जाता है, जिनके फलस्वरूप भूतल वर्तमान दशा में पहुँचा है अर्थात् पृथ्वी तल से थोड़ी गहराई तक की सीधी प्रभावकारी शैल परत इसमें आती है। पृथ्वी का भू-वैज्ञानिक इतिहास, भू-गर्भ की रचना, शैलों के प्रकार, अन्तर्जात एवं बहिर्जात बल, संरचना, प्रक्रम, अवस्था आदि का अध्ययन इसमें सम्मिलित है।

3. **जलमण्डल**—पृथ्वी तल पर विस्तृत समुद्रों एवं महासागरों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न तथ्यों का ज्ञान जलमण्डल में होता है। इसमें महासागरीय तल का विन्यास, महासागरीय निक्षेप, महासागरों में ताप, लवणता, घनत्व, जल संचरण, जल की संरचना, ज्वार-भाटा, प्रवाल भित्तियाँ आदि का अध्ययन किया जाता है।
4. **वायुमण्डल**—वायु से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों; जैसे—वायुमण्डल की संरचना, ऊँचाई, तापमान, वायुदाब, पवनों की उत्पत्ति व प्रकार, आर्द्रता के रूप, वायुराशियाँ एवं विक्षोभ, विश्व जलवायु आदि का अध्ययन वायुमण्डल में सम्मिलित है, किन्तु वायुमण्डल का अध्ययन वहीं तक किया जाता है जहाँ तक कि यह स्थल, जल एवं जीवन को प्रभावित करता है।
5. **जीवमण्डल**—पृथ्वी का पृष्ठीय कटिबन्ध एवं उसका समीपवर्ती वायुमण्डल, जिसमें जीव पाए जाते हैं, इसमें सम्मिलित है। समस्त प्रकार के जीवों की उत्पत्ति, विकास, वितरण, आवास, जीवन चक्र को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व, सजीवों तथा पर्यावरण के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध आदि पक्षों का अध्ययन जीवमण्डल के अंतर्गत किया जाता है।

प्र.3. उल्काएँ क्या हैं? इनका संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर

उल्काएँ (Meteors)

उल्काएँ आकाश में टूटते तारों (Shooting Starts) के रूप में दिखाई देती हैं। ये सौरमण्डल के सूक्ष्म आकाशीय पिण्ड हैं, जो सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं और कभी-कभी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित होकर पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश कर जाते हैं। वायुमण्डल के घर्षण से उत्पन्न ताप से ये जलने लग जाते हैं। इसी कारण हमें आकाश में प्रकाश की रेखा के रूप में दिखाई देते हैं। बड़ी उल्काएँ कभी-कभी घर्षण के प्रभाव से पूर्णत: जल नहीं पाती हैं। वे पृथ्वी पर ठोस चट्टानों के रूप में गिर जाती हैं, जिन्हें उल्कापात (Meteorite) कहते हैं। अन्तरिक्ष में उल्कापात रात-दिन होते रहते हैं। जिन ग्रहों व उपग्रहों पर वायुमण्डल नहीं है या हल्का है वहाँ उल्कापात बहुत अधिक होते हैं। उल्का में लगभग 90 प्रतिशत तक लोहा तथा 7 प्रतिशत निकिल धातु होता है। उल्कापात के कारण धरातल पर बनने वाले गड्ढे तथा क्रेटरनुमा आकृति को MIC (Meteorite Impact Crater) कहते हैं। विश्व में ऐसे लगभग 200 क्रेटर हैं। भारत में चार स्थानों पर उल्कापात निर्मित क्रेटर हैं—लोनार क्रेटर (महाराष्ट्र), ढाला क्रेटर (मध्य प्रदेश), शिव क्रेटर (महाराष्ट्र) व रामगढ़ क्रेटर (राजस्थान)।

चित्र : रामगढ़ क्रेटर (उल्कापात)

प्र.4. पुच्छल तारा किसे कहते हैं? समझाइए।

उत्तर पुच्छल तारे सौर परिवार के ही अंग हैं, जो निश्चित अवधि पर देखे जाते हैं और सूर्य की परिक्रमा करते हैं। इनकी गति सूर्य के निकट आकर बढ़ जाती है। हैली ने इनका विस्तृत अध्ययन किया। एक पुच्छल तारे का नामकरण भी हैली के नाम पर किया गया। पुच्छल तारों का भ्रमण कक्ष दीर्घवृत्ताकार होता है। अत: सूर्य के बहुत निकट आने पर ही ये हमें दिखाई देते हैं। पुच्छल तारों को प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है।

संरचना की दृष्टि से पुच्छल तारे के तीन भाग होते हैं—सिर, मध्यपिण्ड तथा पूँछ। सिर गोलाकार, चमकीला तथा बड़ा होता है। हैली के पुच्छल तारे का

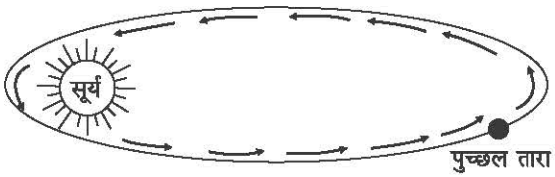

चित्र : पुच्छल तारे का परिभ्रमण पथ

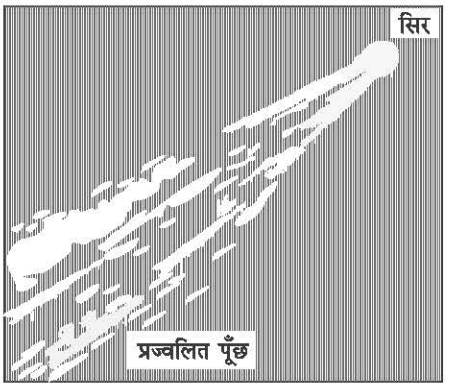

चित्र : पुच्छल तारा

सिर बृहस्पति ग्रह से भी दुगुना बड़ा है। इसे 'कोमा' भी कहते हैं। सिर वाले भाग से निरन्तर धूल कणों का विसरण होता रहता है। मध्यपिण्ड ठोस रूप में बहुत छोटा होता है। सूर्य के निकट आने पर ठोस मध्यपिण्ड जलकर गैसें उत्पन्न करता है। ये गैसें ही पूँछ का निर्माण करती हैं। विकर्षण प्रभाव के कारण पूँछ सदैव सूर्य की विपरीत दिशा में दिखाई देती है, जोकि लाखों किमी तक लम्बी होती है।

प्र.5. बफन की परिकल्पना की आलोचना किस आधार पर की जाती है? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

बफन की परिकल्पना
(Hypothesis of Buffon)

वैज्ञानिक आधार पर सर्वप्रथम फ्रांसीसी वैज्ञानिक जॉर्ज डी० बफन ने 1745 में पृथ्वी की उत्पत्ति को समझाने के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए। उनके अनुसार बहुत समय पहले ब्रह्माण्ड में घूमता हुआ एक बहुत बड़ा पुच्छल तारा सूर्य के नजदीक होकर गुजरा, जिससे दोनों आपस में टकरा गए। इस टक्कर के उपरान्त बहुत सारा पदार्थ सूर्य से अलग हो गया। सूर्य के इस द्रव्य पदार्थ से कालान्तर में घनीभूत होकर ग्रहों तथा उपग्रहों की उत्पत्ति हुई। द्रव्य पदार्थ के जो बड़े भाग थे वह ग्रह बने तथा छोटे-छोटे भाग उपग्रह एवं अवान्तर ग्रह बने। बाकी का बहुत-सा पदार्थ ब्रह्माण्ड में ही विलीन हो गया।

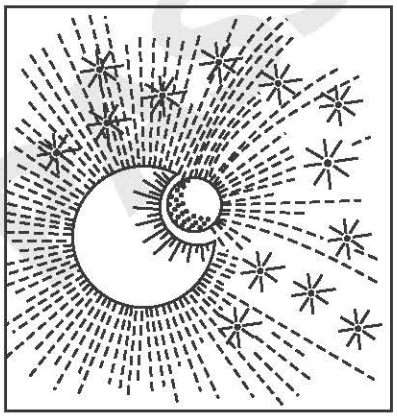

चित्र : बफन की परिकल्पना

आलोचना—यह परिकल्पना अपने समय में बहुत सत्य प्रतीत हुई। लगभग 50 वर्षों तक इसके विपरीत किसी ने कोई तर्क नहीं दिया लेकिन वैज्ञानिक युग में इसका भारी विरोध किया गया, जो निम्न प्रकार है—

1. विशालकाय सूर्य से पुच्छल तारे की टक्कर इतना महत्त्व नहीं रखती कि वह बहुत सारा द्रव्य पदार्थ सूर्य से अलग कर देता। साथ ही सूर्य की आकर्षण शक्ति इतनी तीव्र है कि वह अपने निकले हुए पदार्थ को तुरन्त अपने में सोख लेता। अत: किसी भी प्रकार से सूर्य का पदार्थ अलग होना संभव नहीं है।
2. यदि सूर्य से पिघला हुआ पदार्थ अलग भी हो गया, तो उससे बने ग्रह तथा उपग्रह गोलाकार कैसे हो गए क्योंकि सूर्य का पिघला पदार्थ तो अनियमित था।
3. बफन ने ग्रहों तथा उपग्रहों के सूर्य के साथ क्रम को स्पष्ट नहीं किया, जैसे सूर्य के पास पहले छोटे ग्रह तथा बीच में कुछ बड़े ग्रह तथा बाद में फिर छोटे ग्रह स्थापित हैं।
4. यदि पुच्छल तारा सूर्य से टकरा भी जाए तो पुच्छल तारे का परिमाण इतना कम है कि सूर्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं हो सकती है।

प्र.6. बिग बैंग सिद्धान्त व स्फीति सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

बिग बैंग तथा स्फीति सिद्धान्त
(Big Bang and Inflationary Theory)

बिग बैंग सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम जॉर्ज लेमेटेयर ने किया था, किन्तु इसकी विशद् व्याख्या 1967 में रॉबर्ट वेगोनर ने की। ब्रह्माण्ड आकाशगंगा, तारे, ग्रह आदि की उत्पत्ति को समझाने के लिए प्रस्तुत इस सिद्धान्त में ब्रह्माण्ड के अदृश्य घटकों या काले पदार्थों का सहारा लिया गया। इसके अनुसार अपने उत्पत्ति काल से लेकर आज तक ब्रह्माण्ड निरन्तर फैलता रहा है तथा उसके पदार्थ शीतल होते रहे हैं। सर्वप्रथम एक विशालकाय अग्निपिण्ड था, जिसकी रचना भारी पदार्थों से हुई थी। इस अग्निपिण्ड में अचानक विस्फोट होने से पदार्थों का बिखराव हो गया। शीघ्र ही इन सामान्य पदार्थों के अलगाव के कारण काले पदार्थों (गर्म एवं ठण्डे) का निर्माण हुआ। काले पदार्थों के समूह में एकत्रित होने से अनेक पिण्डों का निर्माण हुआ। इन पिण्डों के आकार में वृद्धि होने से आकाशगंगाओं का निर्माण हुआ। आकाशगंगाएँ निरन्तर दूर होती गईं एवं ब्रह्माण्ड का फैलाव होता रहा। कालान्तर में आकाशगंगाओं में भी भारी विस्फोट हुए। इससे निकले पदार्थों के समूहन से असंख्य तारों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक तारे के विस्फोटजनित पदार्थ से ग्रहों का निर्माण हुआ। यह सिद्धान्त भी सर्वस्वीकार्य नहीं हुआ।

1980 में अमेरिकी वैज्ञानिक अलनगुथ ने स्फीति सिद्धान्त प्रस्तुत किया। बिग बैंग तथा स्फीति सिद्धान्त में काफी समानताएँ हैं। अन्तर मात्र समय को लेकर है। इस सिद्धान्त के अनुसार अग्निपिण्ड में विस्फोट के मात्र एक सेकण्ड जैसे अति अल्पकाल में ही ब्रह्माण्ड का तीव्र गति से फैलाव हो गया। पिण्डों के विस्फोटन एवं काले पदार्थों के समूहन से आकाशगंगा, तारे व उपग्रह की रचना हुई किन्तु यह सिद्धान्त भी सर्वग्राह्य नहीं हो सका।

प्र.7. अधिनव तारा (Super Nova) क्या है? इसकी उत्पत्ति का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर होयल और लिटिलटन ने बताया कि हाइड्रोजन के जलने से भारी तत्त्व बनते हैं, किन्तु साधारण ताप पर सूर्य के द्वारा हाइड्रोजन से हीलियम गैस की उत्पत्ति होती है। अधिक भारी तत्त्वों के निर्माण में हाइड्रोजन की जलने की क्रिया बहुत अधिक ऊँचे तापमान पर ही होनी चाहिए। ऐसा ऊँचा तापमान केवल अधिनव तारा (Super Nova) में ही पाया जाता है। इस तरह से अन्तरिक्ष में 15-20 अधिनव तारे प्रतिवर्ष बनते हैं। जब कोई तारा अधिनव तारा बन जाता है तो उसका प्रकाश पहले से लाखों गुना बढ़ जाता है। वह सूर्य की अपेक्षा लगभग एक अरब गुना प्रकाश उत्पन्न करता है। यह तारा 200-300 वर्ष बाद कभी दिखाई देता है। कुछ प्रज्वलित निहारिकाओं की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई है। क्राब निहारिका से 1,200 किलोमीटर प्रति सेकण्ड की गति से पदार्थ बाहर की ओर फैलते देखा गया है। इस निहारिका में एक अधिनव तारा है, जो अपने व्यास में पृथ्वी से दुगना है। यह अपने प्रकाश में सूर्य से 30,000 गुना अधिक है और इसकी सतह पर 5,00,000°C तापक्रम पाया जाता है।

होयल और लिटिलटन के अनुसार अन्तरिक्ष में युग्म तारे थे, उनमें से एक सूर्य तथा दूसरा अधिनव तारा था। दोनों के मध्य सूर्य से वृहस्पति जितनी दूरी थी। आणविक प्रतिक्रिया के कारण अधिनव तारे में भारी विस्फोट होता है। इस विस्फोट में तारे का बहुत-सा पदार्थ बाहर निकल जाता है। यह बाहर निकला हुआ पदार्थ एक दिशा में कम तथा दूसरी दिशा में अधिक होता है। जो पदार्थ बाहर फैल गया था उसे सूर्य ने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सूर्य द्वारा आकर्षित हुआ वह पदार्थ बाद में संगठित होकर ग्रहों में परिवर्तित हो गया और इन ग्रहों से उपग्रहों की उत्पत्ति हुई।

प्र.8. पुराजीवी कल्प को कितने युगों में विभाजित किया गया है?

उत्तर

पैलिओजोइक या पुराजीवी कल्प
(Palaeozoic Era)

इस कल्प की अवधि 60 करोड़ वर्ष पूर्व से लेकर 22.5 करोड़ वर्ष पूर्व तक मानी जाती है। इस कल्प को छ: युगों (Periods) में विभक्त किया जाता है—

1. **कैम्ब्रियन युग** (Cambrian Period)—यह पुराजीवी कल्प का प्रारम्भिक काल है। इसकी अवधि 60 करोड वर्ष पूर्व से 50 करोड़ वर्ष पूर्व तक अर्थात् 10 करोड़ वर्ष मानी जाती है। इस काल में भूवैज्ञानिक इतिहास में प्रथम बार स्थलीय भागों पर समुद्रों का अतिक्रमण हुआ। इसके परिणामस्वरूप अवसादी चट्टानों का निर्माण हुआ; जैसे—सैण्ड स्टोन, लाइम स्टोन आदि। इन चट्टानों में रीढ़विहीन बहुत ही निम्न श्रेणी के जीवाश्म पाए जाते हैं। इस काल की शैलों का पर्याप्त कायान्तरण हुआ। स्थल पर जीवन विकसित नहीं हुआ था। कैम्ब्रियन शैलें वेल्स, पश्चिमी इंग्लैण्ड, कनाडा, अमेरिका व ऑस्ट्रेलिया में पायी जाती हैं।
2. **ओर्डोविसियन युग** (Ordovician Period)—कैम्ब्रियन युग के बाद प्रारम्भ हुए ओर्डोविसियन युग की अवधि 6.5 करोड़ वर्ष है। इस समय पृथ्वी के समुद्री भाग स्थलीय भागों पर विस्तार करते रहे। अधिकांश महाद्वीप जलमग्न हो गए। इसी काल में अनेक ज्वालामुखी उद्‌गार हुए। जैविक विकास की दृष्टि से ट्रिबिलाइट्स एवं ग्रेप्टेलाइट्स जीव तथा समुद्री वनस्पति उत्पन्न हुई। इसी समय उत्तर-पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में सीमित पर्वतीय रचनाएँ हुईं। अप्लेशियन पर्वतमाला उनमें से एक है। जीवन सागरों तक सीमित था।
3. **सिल्युरियन युग** (Silurian Period)—ओर्डोविसियन के बाद प्रारम्भ हुए इस युग की अवधि 4 करोड़ वर्ष है। इस युग में रीढ़ की हड्डी वाले जीवों का उदय हुआ, अत: इसे 'रीढ़ की हड्डी वाले जीवों का काल' (Age of Vertebrates) भी कहा गया। अपृष्ठवंशी जीव भी उत्पन्न हुए। समुद्रों में मछलियाँ तथा स्थल पर बिना पत्तियों वाली वनस्पति उत्पन्न हुई अर्थात् स्थल पर प्रथम पादपों की उत्पत्ति हुई। समुद्रों में प्रवालों का विस्तार हुआ। कैलिडोनियन संचलन के कारण विस्तृत पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ। स्केण्डीनेविया, स्कॉटलैण्ड व स्पिट्सवर्जन की पर्वत श्रेणियाँ इसी काल की हैं।

4. **डेवोनियन युग** (Devonian Period)—सिल्युरिन युग के बाद डेवोनियन युग प्रारम्भ होता है, जिसकी अवधि 5 करोड़ वर्ष है। इस काल में समुद्रों में बड़ी मात्रा में मछलियाँ उत्पन्न होने के कारण इसे मत्स्य युग (Fish Age) भी कहा जाता है। इस काल में पर्वतीकरण तथा ज्वालामुखी क्रिया व्यापक रूप से हुई। कैलिडोनियन संचलन की प्रधानता के कारण पर्वतों की ऊँचाई बढ़ी। मुख्यत: सैण्ड स्टोन तथा लाइम स्टोन चट्टानों का निर्माण हुआ। डेवोनियन युग के अन्त में महाद्वीपीय भागों का अवतलन भी हुआ।
5. **कार्बोनिफेरस युग** (Carboniferous Period)—डेवोनियन के बाद प्रारम्भ हुए कार्बोनिफेरस युग की अवधि 6.5 करोड़ वर्ष है। इस युग में पृथ्वी की जलवायु अत्यन्त उष्ण एवं आर्द्र थी। इसके कारण सघन वनों की उत्पत्ति हुई, किन्तु भूपटल की उथल-पुथल व अवतलन के कारण वे जलमग्न हो गए। इन पर अवसादों के जमाव, ऊपरी दबाव, पृथ्वी की भीतरी गर्मी एवं रासायनिक परिवर्तनों के कारण कालान्तर में ये वन कोयले में बदल गए। विस्तृत पैमाने पर कोयले की परतें बनने के कारण इस युग को 'कोयला युग' भी कहा गया। इस काल में आर्मोरिकन भूसंचलन हुआ। जिसके कारण समुद्र स्थल की ओर अग्रसर हुए तथा व्यापक अवसादों के निक्षेप से समुद्र उथले हुए। इसके परिणामस्वरूप समुद्री जीवों को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस काल में जल-स्थलचरी (Amphibians) जीवों का विकास हुआ।
6. **पर्मियन युग** (Permian Period)—पुराजीवी कल्प के इस अन्तिम युग की अवधि 5.5 करोड़ वर्ष है। इस युग में पर्णपाती पादपों का विकास हुआ। जल-स्थलचरी जीवों का भी काफी विकास हुआ। रेंगने वाले जीवों की उत्पत्ति हुई तथा कीटों की असंख्य प्रजातियाँ विकसित हुईं। पर्मियन युग में हरसीयन भूसंचलनों के कारण मोड़दार पर्वत उत्पन्न हुए। इस युग के अन्त में पृथ्वी पर तापमान में वृद्धि के कारण अधिकांश भागों में जलवायु शुष्क हो गई। इस युग के साथ ही पैलिओजोइक कल्प का अन्त हुआ।

प्र.9. जुरासिक युग एवं क्रीटेशस युग पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर

जुरासिक युग
(Jurassic Period)

ट्रियासिक के पश्चात् प्रारम्भ हुए जुरासिक युग की अवधि 6 करोड़ वर्ष है। अधिकांश भागों में अब भी उष्ण एवं शुष्क जलवायु थी। स्तनपोषी जीवों का प्रसार जल, स्थल एवं नभ अर्थात् सर्वत्र हो गया। इनमें से कुछ प्राणी तो हाथी व गैंडे के समान विशालकाय थे। जुरासिक युगीन जलीय जीवों में प्लीओसोरस, स्थलीय जीवों में डाइनोसोरस तथा पक्षियों में रोडेक्टाइल प्रमुख हैं। इसे 'डाइनोसोर युग' भी कहते हैं। इसी काल में निवादा एवं लारेमाइड भूसंचलन हुए। भारत में राजमहल एवं सिलहट की पहाड़ियों का निर्माण हुआ।

क्रीटेशस युग
(Cretaceous Period)

इसकी समयावधि 7 करोड़ वर्ष है। मध्य जीवी कल्प के इस अन्तिम युग में खड़िया या खटी की परतों का विशाल जमाव हुआ। अत: इसे 'खड़िया युग' (Chalk Period) भी कहा गया। कनाडा, अलास्का, मैक्सिको व यूरोप में इसका जमाव बड़े पैमाने पर हुआ। उत्तरी गोलार्द्ध में भूमि का अवतलन हुआ। इस समय ज्वालामुखी भी सक्रिय रहे। दक्कन के पठार पर लावा का जमाव इसी काल में हुआ। वनस्पति की दृष्टि से ओक, वालनट, नारियल आदि बड़े वृक्षों का जन्म हुआ। रेंगने वाले व स्तनपोषी जीवों में विविधता आई तथा महान सरीसृप युग का अन्त हुआ। नदियों का प्रवाह धीमा होने के कारण विशाल डेल्टा प्रदेश बने। भूसंचलन के कारण एण्डीज, कॉर्डिलेरा व रॉकीज पर्वतों का निर्माण हुआ।

प्र.10. भूकम्पीय लहरों के अध्ययन के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग को कितनी परतों में वर्गीकृत किया गया है?

उत्तर भूकम्पीय लहरों के अध्ययन के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग को चार परतों में वर्गीकृत किया गया है—

1. **ऊपरी परत**—सन् 1909 में क्रोशिया में आए भूकम्प के तथ्यों एवं विशेष तरंगों Pg व Sg का अन्य भागों में अध्ययन कर पता लगाया गया कि धरातल की ऊपरी परत में ग्रेनाइट जैसी चट्टानें अधिक पाई जाती हैं। यहाँ का घनत्व 2.7 है। इसकी ऊपरी सतह अर्थात् भूपृष्ठ पर परतदार चट्टानों का आवरण पाया जाता है।
2. **मध्यवर्ती परत**—सन् 1923 में ट्यूर्न में आए भूकम्प के अध्ययन के समय ज्ञात तृतीय प्रकार की तरंगों P* व S* के विस्तृत अध्ययन से पता चलता है कि Pg व Sg तरंगें मध्यवर्ती परत में प्रवेश नहीं कर पातीं। जैफे के अनुसार, यहाँ पर

भारी बेसाल्ट एवं ग्लासी बेसाल्ट वाली चट्टानें पाई जाती हैं। **होम्स** एवं **वेगनर** के अनुसार यहाँ पर एम्फीबोलाइट चट्टानें पाई जाती हैं। इस परत की मोटाई लगभग 30 किमी आँकी गई। इस मध्यवर्ती परत का घनत्व 3 है।

3. **निचली परत**—इस परत में उपर्युक्त नवीन प्रकार की Pg व Sg एवं P* व S* तरंगें प्रवेश नहीं कर पातीं, अर्थात् यहाँ पर सिर्फ P एवं S तरंगें ही प्रवेश कर पाती हैं। इस भीतरी परत का घनत्व अपेक्षतया अधिक अर्थात् 5.5 के आस-पास रहता है। यह भाग बहुत ही ऊँचे तापमान वाला होता है, क्योंकि 30-35 किमी की गहराई तक तापमान 1,000°C से भी अधिक पहुँच जाता है। इससे चट्टानों के गुणों में परिवर्तन आने लगता है। फिर यहाँ इनका घनत्व भी अधिक रहता है। इसमें बेसाल्ट से भी भारी पदार्थ पाये जाते हैं। यह स्थिति 2,900 किमी तक पाई जाती है।
4. **केन्द्रीय भाग**—2,900 किमी के बाद पुन: पृथ्वी की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखा जाता है। इस गहराई के पश्चात् S तरंगें भू-गर्भ में प्रवेश नहीं कर पातीं, अत: पृथ्वी के केन्द्रीय भाग में सिर्फ P तरंगें ही प्रवेश कर पाती हैं। इनकी भी गति यहाँ कम होने लगती है एवं उनमें विशेष वक्राकार स्वरूप आ जाता है, अत: यह भाग सर्वाधिक घनत्व वाला है। यहाँ की दशा द्रव अवस्था में या द्रव की भाँति अत्यधिक लचीली अवस्था में है। इसके साथ ही एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पृथ्वी का केन्द्रीय भाग चारों ओर से अनन्त भार से इस भांति दबा पड़ा है कि वहाँ की तरल या द्रव अवस्था भी लचीली तो होगी पर वह अत्यन्त दृढ़ता से ठोस से भी कठोर रहेगी। इसका घनत्व 8-11 है। इसमें निकिल व लोहा जैसे भारी पदार्थ पाये जाते हैं।

प्र.11. स्वेस के अनुसार भू-गर्भ की विभिन्न परतें एवं उनकी रासायनिक संरचना का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर

भू-गर्भ की विभिन्न परत एवं उनकी संरचना
(Layers of Earth's Interior and their Structure)

ऑस्ट्रियाई भूविज्ञानी **एडवर्ड स्वेस** ने 1860 में पृथ्वी के आन्तरिक भाग को चट्टानों की रासायनिक संरचना में होने वाले स्पष्ट अन्तर के आधार पर निम्न परतों में बाँटा—

1. **सियाल** (Sial)—पृथ्वी की ऊपरी सतह पर विस्तृत परतदार चट्टानों के ठीक नीचे सियाल परत फैली है। इसमें सिलिका एवं एलुमिनियम तत्त्वों की अधिकता रहती है। इसके आधार पर इसका नाम Si (सिलिका), Al (ऐलुमिनियम) रखा गया। इसका घनत्व 2.4 से 2.9 के मध्य रहता है। यहाँ की प्रमुख चट्टानें ग्रेनाइट समूह से सम्बन्धित हैं। इस परत की मोटाई महासागरों की तली के निकट कम है। यह 50 से 300 किमी तक मानी गई। महाद्वीपों की रचना मुख्यत: इसी परत से मानी जाती है।

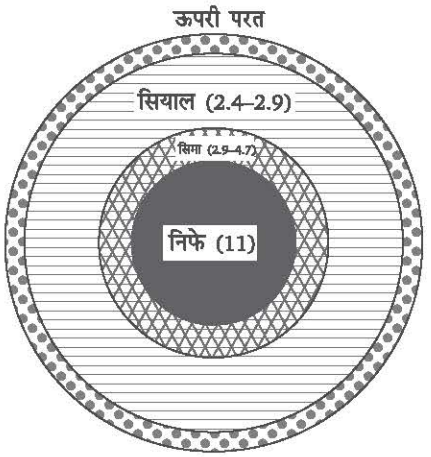

चित्र : स्वेस के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक रचना

2. **सिमा** (Sima)—सियाल से ठीक नीचे सिमा परत का विस्तार है। यहाँ पर सिलिका (Si) एवं मैग्नीशियम (Mg) अधिक पाया जाता है, इसीलिए इसका नाम सिमा (Sima) रखा गया। यहाँ पर भारी व क्षारीय पदार्थ अधिक पाए जाते हैं। यहाँ का घनत्व 2.9 से 4.7 के मध्य रहता है। इस परत की औसत गहराई 1,000 से लेकर 2,000 किमी तक है। इसमें भारी बेसाल्ट आग्नेय चट्टानें पाई जाती हैं, जिनमें से कुछ का घनत्व 5.5 तक भी रहता है।
3. **निफे** (Nife)—सिमा के निचले तल से लेकर पृथ्वी के केन्द्रीय भाग तक चारों ओर इसका विस्तार है। इसे केन्द्रीय परत या भूक्रोड (Core) भी कहते हैं। यहाँ पर निकिल (Ni) एवं लोहा (फेरियम या Fe) जैसे अधिक भारी एवं चुम्बकीय गुणों वाली धातुओं की अधिकता पाई जाती है। पृथ्वी का चुम्बकीय गुण भी इसी कारण से है। यहाँ की चट्टानों का घनत्व 11 तक है। इसकी गहराई 2,900 किमी से भूकेन्द्र तक है। इस मध्य पिण्ड का व्यास लगभग 7,000 किमी है।

यद्यपि स्वेस का यह वर्गीकरण आज भी मोटे तौर पर मान्य है, किन्तु परवर्ती काल में ज्ञात होने वाली विशिष्ट एवं स्पष्ट जानकारी के आधार पर केन्द्रीय भाग को छोड़ शेष परतों की संख्या, मोटाई, संरचना आदि के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है।

प्र.12. होम्स ने पृथ्वी की परतों को कितने भागों में वर्गीकृत किया है?

उत्तर

आर्थर होम्स का मत
(Opinion of Arthur Holmes)

आर्थर होम्स ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना को केवल दो भागों में विभाजित किया है—

1. **भूपर्पटी** (Crust)—ऊपरी तथा मध्यम परत को मिलाकर आर्थर होम्स ने पपड़ी (क्रस्ट) का नाम दिया है। इस परत में सियाल की सम्पूर्ण परत तथा 'सिमा' की ऊपरी परत को सम्मिलित किया गया है।
2. **अधःस्तर** (Substratum)—इस परत में 'सिमा' परत का निचला आधा भाग तथा सम्पूर्ण निफे को सम्मिलित किया गया है। आर्थर होम्स ने महाद्वीपों के नीचे सियाल परत की मोटाई की भिन्नता को निम्न प्रमाणों के आधार पर समझाया है—
   (i) तापीय प्रमाणों द्वारा—21 किलोमीटर तक,
   (ii) भूकम्प की धरातलीय तरंगों द्वारा—15 किलोमीटर से अधिक,
   (iii) प्राथमिक तरंगों द्वारा 20 से 32 किलोमीटर गहराई तक,
   (iv) सबसे गहरी भू-सन्नति के धंसाव की गहराई के आधार पर 20 किमी से अधिक।

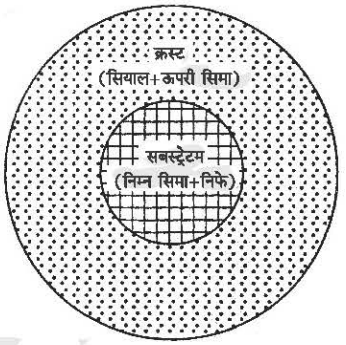

चित्र : होम्स के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक संरचना

प्र.13. रसेल व लिटिलटन की द्वैतारक परिकल्पना का वर्णन कीजिए।

उत्तर

रसेल व लिटिलटन की द्वैतारक परिकल्पना
(Binary Star Hypothesis of Russel and Lyttleton)

रसेल तथा लिटिलटन ने 1937 में पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में द्वैतारक या युग्म तारक परिकल्पना प्रस्तुत की। इनके अनुसार प्रारम्भ में सूर्य तथा एक अन्य तारा समान केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगा रहे थे। उसी समय एक तीसरा विशाल तारा सूर्य तथा साथी तारे के पास आने लगा। इस तारे की आकर्षण शक्ति से सूर्य के साथी तारे से ज्वार की तरंगें उठने लगीं तथा धीरे-धीरे बहुत-सा पदार्थ तारे से अलग हो गया। कालान्तर में इस निकले हुए ज्वारीय पदार्थ से ग्रह बने। प्रारम्भ में बने हुए ग्रह सूर्य के आस-पास घूमने लगे तथा बाद में इनमें स्वयं पारस्परिक आकर्षण के कारण ज्वार उत्पन्न हुआ तथा इस ज्वार से उपग्रहों की रचना हुई। **रसेल** का कहना है कि उस विशाल तारे का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि यह सूर्य से काफी दूर था।

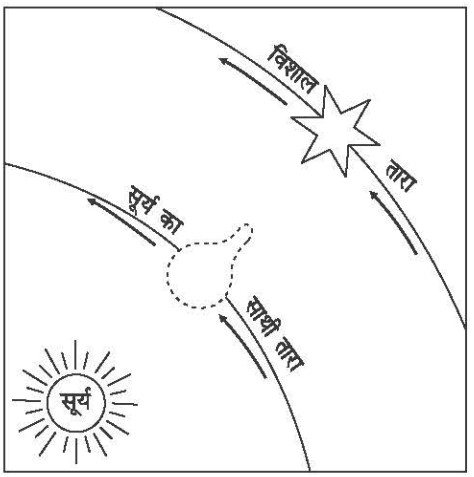

चित्र : रसैल की द्वैतारक परिकल्पना

यह परिकल्पना पूर्ववर्ती परिकल्पनाओं के अनेक दोषों से मुक्त थी। **क्वीपर** के मतानुसार अन्तरिक्ष के 80 प्रतिशत तारे युग्म तारों या समूहों के रूप में पाए जाते हैं, अतः युग्म तारे का विचार आश्चर्यजनक नहीं है। ग्रहों के अधिक कोणीय संवेग का कारण अधिक संवेग वाले साथी तारे से उनकी उत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है। ग्रहों के मध्य अत्यधिक दूरियाँ होना भी इससे सिद्ध हो जाता है।

आलोचनाएँ इस परिकल्पना के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ उठाई गईं, जो निम्न हैं—

1. सूर्य के साथी तारे से जो ज्वारीय पदार्थ निकला उससे तो ग्रह-उपग्रह बन गये, लेकिन शेष भाग का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।
2. विशालकाय तारा बाद में कहाँ चला गया, इसका कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया।
3. अनन्त में दूर-दूर फैले हुए ग्रह किस प्रकार परिक्रमा मार्ग पर भ्रमणशील हो गए?

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भू-चुम्बकत्व के मूल आधार का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

भू-चुम्बकत्व के मूल आधार
(Fundamentals of Geomagnetism)

पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की गतिकी (dynamics) के अध्ययन को भू-चुम्बकत्व (Geomagnetism) कहते हैं, जो कि पृथ्वी के आंतरिक कोर में उत्पन्न होता है। पृथ्वी के चुम्बकीय गुण के बारे में सर्वप्रथम अंग्रेज चिकित्सक, भौतिकशास्त्री एवं दर्शनशास्त्री विलियम गिलबर्ट ने 1600 ई० में बताया। उसने प्रतिपादित किया कि पृथ्वी एक विशाल चुम्बक की भाँति व्यवहार करती है। यह चुम्बकत्व पृथ्वी के आंतरिक भाग से उत्पन्न होता है। पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र एक विशाल छड़ चुम्बक (bar magnet) की तरह है। इसके दो ध्रुव होते हैं तथा यह लगभग पृथ्वी के परिभ्रमण अक्ष (axis of rotation) की सीध में होता है। विशाल छड़ चुम्बक की अनुदैर्ध्य अक्ष (longitudinal axis) को विस्तृत करने पर वह पृथ्वी की सतह को दो स्थानों पर काटती है, जो उत्तरी एवं दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव (magnetic poles) कहलाते हैं। पृथ्वी का दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव उसके भौगोलिक उत्तरी ध्रुव के पास तथा उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव पृथ्वी के भौगोलिक दक्षिणी ध्रुव के निकट स्थित होता है। भौतिकी के सामान्य नियमानुसार दो चुम्बकों को निकट लाने पर उनके समान ध्रुव एक-दूसरे को प्रतिकर्षित (repel) करते हैं तथा असमान ध्रुव एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं। अत: जब पृथ्वी की सतह पर एक लघु चुम्बक लटकाया जाता है, तो पृथ्वी का दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव लघु चुम्बक के उत्तरी ध्रुव को आकर्षित करता है एवं पृथ्वी का उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव लघु चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव को आकर्षित करता है।

जब हम चुम्बक को पृथ्वी की सतह पर किसी स्थान पर स्वतंत्र रूप से लटकाते हैं, तो वह भौगोलिक उत्तर तथा दक्षिण को पूरी तरह इंगित नहीं करता है, क्योंकि पृथ्वी का चुम्बक (भूचुम्बक) पृथ्वी के भौगोलिक उत्तरी तथा दक्षिणी अक्ष रेखा पर पूर्ण रूप से समान नहीं होता है। इस प्रकार पृथ्वी के चुम्बकीय अक्ष एवं भौगोलिक उत्तर दक्षिण अक्ष में कोणिक झुकाव पाया जाता है, जिसे चुम्बकीय दिकपात या विचलन (magnetic declination) कहते हैं। स्वतंत्र रूप से लटकती चुम्बकीय सुई एवं पृथ्वी के क्षैतिज तल के बीच चुम्बकीय नति (magnetic inclination or dip) पायी जाती है। दोनों ध्रुवों पर चुम्बकीय सुई अधिक आकर्षित होने के कारण लम्बवत हो जाएगी अर्थात् ध्रुवों पर चुम्बकीय नति 90° होती है। पृथ्वी की सतह पर जहाँ लघु चुम्बक क्षैतिज अवस्था में हो जाता है, वहाँ चुम्बकीय गति शून्य होती है। शून्य चुम्बकीय नति वाले स्थानों को मिलाने वाली कल्पित रेखा को चुम्बकीय भूमध्य रेखा (magnetic equator) कहते हैं। काल्पनिक चुम्बकीय अक्ष के सिरे पृथ्वी की सतह को जिन बिन्दुओं पर काटते हैं वे भू-चुम्बकीय ध्रुव (geomagnetic poles) कहलाते हैं। पृथ्वी के सामान्य द्विध्रुवीय चुम्बकीय क्षेत्र (simple dipole magnetic field) की तीव्रता में स्थानीय एवं कालिक अन्तर या परिवर्तन होते रहते हैं।

पृथ्वी के चुम्बकत्व का कारण एवं भू-चुम्बकीय क्षेत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भू-वैज्ञानिकों में काफी मतभेद है। सर्वप्रथम गिलबर्ट ने बताया कि पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र पृथ्वी के आंतरिक भाग में स्थित चुम्बकीय शैलों के कारण है। पृथ्वी का कोर या अन्तरतम मुख्यत: निकिल व लोहे से निर्मित माना गया है, किन्तु यह भी माना जाता है कि अधिक गहराई पर चुम्बकीय पदार्थों का चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी का चुम्बकत्व स्थायी रूप से चुम्बकित पदार्थों के कारण नहीं है। कुछ भौतिक विज्ञानियों ने पृथ्वी के परिभ्रमण को पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के लिए उत्तरदायी माना। सर्वाधिक मान्य मत के अनुसार पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का स्रोत या चुम्बकत्व का कारण पृथ्वी का अन्तरतम भाग है, जो एक स्वत: उर्जित डायनमो की भाँति कार्य करता है। इसका बाह्य भाग तरल लोहे से निर्मित है, जिसमें विद्युत चुम्बकीय तरंगें चलती हैं। चुम्बकीकरण (magnetization) के निरंतर जनन एवं पोषण के लिए आवश्यक ऊर्जा के तीन सम्भावित स्रोत बताए गए हैं—पृथ्वी के अन्तरतम में रेडियो सक्रिय पदार्थों से निकलती ऊष्मा, मेण्टल से लोहे का कोर की ओर स्थानांतरण तथा आंतरिक कोर (अंतरतम) से पदार्थों का बाह्य कोर में परिवर्तन। इस प्रकार पृथ्वी के कोर में उत्पन्न विद्युत् तरंगें ही पृथ्वी के द्विध्रुव चुम्बकीय क्षेत्र को उत्पन्न करती है। भूकेन्द्रीय चुम्बकीय क्षेत्र पृथ्वी के 95 प्रतिशत चुम्बकत्व को प्रदर्शित करता है। शेष चुम्बकत्व पृथ्वी के छिटपुट चुम्बकीय क्षेत्रों द्वारा होता है। चुम्बकत्व का रिकॉर्ड चट्टानों में दस्तावेज की भाँति सुरक्षित रहता है, जिसे अवशिष्ट चुम्बकत्व (remanent magnetism) या पुराचुम्बकत्व कहते हैं।

प्र.2. पृथ्वी की आन्तरिक संरचना में प्राकृतिक स्त्रोत ज्वालामुखी उद्‌गार, भूकम्प विज्ञान के साक्ष्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

पृथ्वी की आन्तरिक संरचना में प्राकृतिक स्त्रोत
(Natural Sources in Internal Structure of Earth)

पृथ्वी की आन्तरिक संरचना में विद्यमान प्राकृतिक स्त्रोतों का वर्णन निम्न प्रकार है—

1. **ज्वालामुखी उद्‌गार** (Volcanic Eruption)—ज्वालामुखी उद्‌गार के समय निकलने वाले तप्त लावा, गैसें, धूल, राख, वाष्प इत्यादि पदार्थों के अध्ययन से पृथ्वी की आन्तरिक अवस्था का पता लगाने में सहायता मिलती है। ज्वालामुखी क्रिया से निष्कासित लावा का स्त्रोत पृथ्वी के भीतर स्थित मैग्मा भण्डार है। यद्यपि पृथ्वी के आन्तरिक भाग पर पड़ने वाले अत्यधिक दबाव के कारण ऊँचे तापक्रम पर भी शैलें पिघलती नहीं हैं, किन्तु जब कभी भी भूपृष्ठ पर असन्तुलन या दरार पड़ जाती है, तो आन्तरिक शैलों पर ऊपरी परतों का दबाव घट जाता है। इसके फलस्वरूप शैलों का द्रवणांक गिर जाता है और वे पिघल कर लावा के रूप में बाहर आ जाती हैं। चूँकि लावा व अन्य पदार्थों की निकासी धरातल से मात्र 50 किमी नीचे से मानी जाती है, अत: सम्पूर्ण पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का स्पष्टीकरण इससे सम्भव नहीं है।
2. **भूकम्प विज्ञान के साक्ष्य** (Evidences of Seismology)—भूकम्पों का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण करने वाली विज्ञान की शाखा को भूकम्प विज्ञान (Seismology) कहते हैं। भूकम्प विज्ञान द्वारा भूकम्पीय तरंगों के अध्ययन से पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में प्रामाणिक जानकारी मिलती है। भू-गर्भ में जिस स्थान से भूकम्पी तरंगों का उद्‌गम होता है, वह भूकम्प मूल या केन्द्र (Focus) कहलाता है तथा भूकम्प मूल के ठीक ऊपर भूपटल पर जो केन्द्र होता है उसे अधिकेन्द्र (Epicentre) कहते हैं। भूकम्प से विभिन्न प्रकार की लहरें या तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो कि मुख्यत: तीन प्रकार की होती हैं—

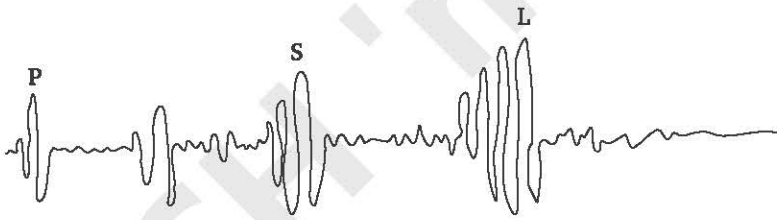

चित्र : भूकम्पीय लहरों का अंकन

(i) **प्राथमिक अथवा अनुदैर्ध्य लहरें** (Primary or Longitudinal Waves)—इनकी गति सबसे अधिक 6 से 9 किमी प्रति सेकण्ड होती है। इनमें कणों की गति तरंग की रेखा की सीध में होती है अर्थात् ये ध्वनि की लहर के समान होती हैं। ठोस पदार्थों में शीघ्रता से अधिक गहराई पर पहुँच जाती हैं, किन्तु द्रव या लचीले पदार्थों में इनकी गति कुछ घटने लगती है। ऐसे पदार्थों में यह मोड़ लेकर आगे बढ़ती हैं। सर्वाधिक वेगवान लहरें होने के कारण इनका प्रभाव भूकम्पलेखी (Seismograph) पर सबसे पहले अंकित किया जाता है। संक्षेप में इन्हें 'P' लहरें कहते हैं। इनकी लघु तरंगे Pg एवं P* कहलाती हैं।

(ii) **द्वितीयक अथवा आड़ी लहरें** (Secondary or Transverse Waves)—द्वितीयक लहरें जल अथवा प्रकाश तरंगों के समान होती हैं। इनमें कणों की गति लहर की दिशा के समकोण पर होती है; अत: इन्हें आड़ी तरंगें भी कहते हैं। ये भूसतह पर सबसे अधिक हानि पहुँचाने वाली मानी जाती हैं, इन्हें संक्षेप में 'S' लहरें कहते हैं। इनकी गति 3 से 4.5 किमी प्रति सेकण्ड होती है। ठोस पदार्थों में तो ये अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती है, किन्तु घनत्व बढ़ने पर इनकी गति पर प्रभाव पड़ने लगता है। 'S' लहरें द्रव या लचीले पदार्थों में तेजी से लुप्त होने लगती हैं। इनकी लघु तरंगें Sg एवं S* कहलाती हैं।

(iii) **धरातलीय अथवा दीर्घ अवधि लहरें** (Surface or Long Period Waves)—यह लहरें धरातल के ऊपरी भाग तक ही सीमित रहती हैं। इनका प्रभाव भूतल पर ही विशेष विनाशकारी रहता है। इनकी गति लगभग 2 किमी प्रति सेकण्ड होती है। ये पृथ्वी के भीतरी भागों में प्रवेश नहीं कर पातीं, अत: इनसे भू-गर्भ के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इन्हें 'L' तरंगें भी कहते हैं। इन लहरों को सर्वाधिक लंबा मार्ग तय करना पड़ता है तथा गति सबसे कम होती है।

भू-चुम्बकीय तरंगों का प्रामाणिक ज्ञान भूकम्पलेखी द्वारा ही सम्भव है। भूकम्पीय तरंगें भू-गर्भ की सही-सही स्थिति ज्ञात करने में विशेष सहायक रही हैं। प्राथमिक या P तरंगें पृथ्वी के भीतरी भाग तक प्रवेश तो कर जाती हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों यह आन्तरिक भाग की ओर जाती हैं इनकी दिशा वक्राकार होती जाती है। पृथ्वी के केन्द्रीय भाग में यह अधिक तेजी से आवर्त की भाँति मोड़ खाती हैं। यहाँ इनकी गति भी धीमी हो जाती है। इस केन्द्रीय भाग से दूसरी ओर जाने पर ये तरंगें पुन: अधिक वक्राकार मार्ग लेकर अपेक्षतया तेज गति से पृथ्वी के दूसरी ओर चली जाती हैं। इसके विपरीत द्वितीयक या S तरंगें भूकम्प मूल केन्द्र से 120° मुड़कर किनारे की ओर फैल जाती हैं। यही नहीं जो S तरंगें भू-गर्भ की ओर वक्राकार मार्ग से जाती हैं वह भी पृथ्वी के केन्द्रीय भाग (Core) के किनारे पर ही लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार 2,900 किमी के पश्चात् के केन्द्रीय भाग में S लहरें प्रवेश नहीं कर पातीं। इससे यही सिद्ध होता है कि पृथ्वी का केन्द्रीय भाग विशेष रूप से लचीला एवं द्रव जैसा व्यवहार करता है। यही नहीं यह आन्तरिक भाग अत्यधिक ऊँचे घनत्व, कठोरता एवं चुम्बकत्व वाले पदार्थों का बना है। यहाँ पर लोहा, निकिल आदि भारी पदार्थों की अधिकता का अनुमान लगाया गया है।

छाया क्षेत्र (Shadow Zone)—भूकम्प तरंगों के भू-गर्भ की ओर जाने पर वक्राकार मार्ग बनता है। आन्तरिक भाग में S तरंगें प्रवेश नहीं कर पातीं और P तरंगें भी यहाँ पर विशेष प्रकार से आवर्तन करके मोड़ लेती हैं। अत: भूकम्प मूलकेन्द्र से दोनों ओर पृथ्वी के विपरीत भाग के किनारों की ओर ऐसा छाया क्षेत्र बन जाता है, जहाँ कि किसी प्रकार की तरंगों का प्रभाव नहीं रहता। इसे ही तरंग प्रभाव से मुक्त क्षेत्र या छाया क्षेत्र कहते हैं।

गौण तरंगें (Minor Waves)—कुछ विशेष प्रदेशों का विस्तृत अध्ययन करते समय विशेषज्ञों ने नवीन प्रकार की कम गति वाली तरंगों की खोज की है। इन गौण लहरों का सीधा संबंध भू-गर्भ में कई घनत्व क्षेत्रों से है। सन् 1909 में क्रोशिया द्वीप की कुल्पा घाटी (Kulpa Valley) में आए भूकम्प के निरीक्षण के समय जैफ्रे को पता चला कि P एवं S तरंगों के साथ ही उनसे कुछ कम गति वाली तरंगें अंकित की जाती हैं। चट्टानों की सघनता के आधार पर इनका परीक्षण बाद में अन्य स्थानों पर भी किया गया। इन तरंगों को Pg व Sg नाम दिया गया। Pg तरंग की गति धरातल पर 5.4 किमी प्रति सेकण्ड तथा Sg तरंग की गति 3.3 किमी प्रति सेकण्ड आँकी गई। 1923 में ट्यूर्न (Tauern) नामक स्थान पर नई प्रकार की कुछ कमजोर तरंगें P व Pg के बीच एवं S व Sg के बीच कोनार्ड द्वारा अंकित की गईं। इन लहरों को बाद में P* एवं S* कहा गया। मध्यवर्ती धरातल में P* तरंग की गति 6-7 किमी प्रति सेकण्ड तथा S* तरंग की गति 3-4 किमी प्रति सेकण्ड आँकी गई। अत: अब विशेषज्ञ यह मानते हैं कि भूकम्प तरंगों की गति के आधार पर तीन सेट या युग्म—प्रथम P तथा S, द्वितीय P*S* तथा तृतीय Pg Sg पाये जाते हैं। इन तरंगों की गति एवं स्वरूप पर घनत्व की भिन्नता का गहरा प्रभाव पड़ता है।

प्र.3. पृथ्वी की आयु की गणना के प्रमुख साक्ष्यों का सविस्तार विवेचन कीजिए।

उत्तर

पृथ्वी की आयु
(Age of the Earth)

पृथ्वी की उत्पत्ति का इतिहास सौरमंडल की उत्पत्ति से जुड़ा है। पृथ्वी का निर्माण कब हुआ? इसका उत्तर धर्मवेत्ता, दार्शनिक, ज्योतिषी एवं वैज्ञानिक अपने-अपने ढंग से देते हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार पृथ्वी का विकास काल 2 अरब वर्ष से अधिक बताया गया है, जो कि वर्तमान वैज्ञानिक गणनाओं के काफी निकट है। यद्यपि वर्तमान समय तक किसी ऐसी सर्वसम्मत विधि या सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है जिससे पृथ्वी की आयु निर्धारित हो, तथापि जो साक्ष्य इस हेतु अब तक प्रयुक्त किये गये हैं, वे निम्न हैं—

1. **चन्द्रमा की आयु तथा ज्वारीय प्रभाव**—पृथ्वी पर चन्द्रमा के आकर्षण से उत्पन्न ज्वार के कारण पृथ्वी की घूर्णन गति प्रभावित होती है। इससे पृथ्वी के घूर्णन का समय बढ़ रहा है तथा चन्द्रमा शनै: शनै: पृथ्वी से दूर हो रहा है। गैमो ने आकलन कर बताया कि चन्द्रमा की वर्तमान दूरी 400 करोड़ वर्ष का परिणाम है। इस आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष आँकी गई, जो कि बहुत अधिक है।
2. **पृथ्वी का शीतलन**—उत्पत्ति के समय पृथ्वी तप्त गैसों का पुंज थी। इसकी ऊपरी परत धीरे-धीरे ठण्डी होकर ठोस हो चुकी है, किन्तु आन्तरिक भाग अब भी उष्ण एवं आंशिक रूप से तरल अवस्था में है। पृथ्वी के शीतलन (cooling) या ठण्डा होने की दर के आधार पर पृथ्वी की आयु निर्धारित करने के प्रयास किए गए। इस सम्बन्ध में उन्नीसवीं शताब्दी में लॉर्ड केल्विन ने वैज्ञानिक संकल्पना प्रस्तुत करते हुए बताया कि पृथ्वी की आयु लगभग 4 करोड़ वर्ष है। बीसवीं शताब्दी

में रेडियो सक्रिय पदार्थों के नियोजन तथा विघटन से ताप उत्पन्न होने का वैज्ञानिक तथ्य सामने आने के बाद केलविन के मत को त्रुटिपूर्ण माना गया।

3. **सागरीय लवणता**—ऐसा अनुमान है कि सागरों की उत्पत्ति के समय उनका जल खारा नहीं था। बाद में नदियों द्वारा धरातलीय भागों से लाये गये लवण निरंतर इसमें मिलते रहे एवं खारापन बढ़ता गया। सागरों में प्रतिवर्ष लवण वृद्धि की दर के आधार पर पृथ्वी के उत्पत्ति काल का पता लगाया जा सकता है। जोली ने प्रयोगों के आधार पर बताया कि सागरों में लवण की कुल मात्रा 1.26×10^{22} ग्राम है तथा भूसतह से प्रतिवर्ष 1.56×10^{14} ग्राम लवण सागरों में नदियों द्वारा जमा किया जाता है। इस आधार पर सागरों की आयु 8 करोड़ वर्ष है तथा पृथ्वी का निर्माण इससे भी पूर्व हुआ। इस आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग 12 करोड़ वर्ष ठहरती है। यह अवधि बहुत ही कम है। सागरों में विद्यमान कुल लवण की मात्रा ज्ञात करना तथा प्रतिवर्ष वृद्धि की गणना करना नितान्त कठिन कार्य है। नदियों द्वारा प्रतिवर्ष लाये जाने वाले लवण की मात्रा व दर भी भिन्न-भिन्न होती है। प्रारंभ से ही सागरों को लवणता रहित मानना भी उचित नहीं है। लवणता की प्राप्ति सागर तली से चलने वाली संवाहनिक तरंगों, ज्वालामुखी उद्‌गार व तटीय पवनों से भी होती है। इस प्रकार, सागरीय लवणता के आधार पर पृथ्वी की आयु की गणना सर्वमान्य नहीं है।
4. **तलछट का जमाव**—पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही आग्नेय शैलों का निर्माण हुआ। कालान्तर में उनके अपक्षय व अनाच्छादन से प्राप्त पदार्थ से अवसादी शैलों की रचना हुई। पृथ्वी पर अवसादों के जमाव की क्रिया सदैव जारी रही है। अवसादी चट्टानों की गहराई तथा प्रतिवर्ष जमाव की दर के आधार पर पृथ्वी की आयु को आँकने के प्रयास किये गये हैं। **होम्स** के अनुसार, पृथ्वी पर अवसादों की अधिकतम मोटाई 112 किमी तथा आयु 130 करोड़ वर्ष है। इस आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग 250 करोड़ वर्ष आँकी गयी। इस आकलन के प्रति सबसे बड़ी आपत्ति अपरदन के विभिन्न कारकों द्वारा अवसादों के निक्षेपण की दर में असमानता का पाया जाना है। अन्य आपत्ति यह है कि अवसादी शैलों के निर्माण की प्रक्रिया में क्षेत्र विशेष में होने वाली उत्क्षेप, अवतलन, अपरदन तथा पुन: अवसादन की क्रियाओं की अवधि अंकित करना सरल नहीं है। इनके कारण अवसादीकरण की पूर्ववर्ती जानकारी लुप्त हो जाती है।
5. **रेडियो एक्टिव तत्त्वों के साक्ष्य**—पृथ्वी की आयु की गणना में रेडियो सक्रिय पदार्थ के साक्ष्य अधिक विश्वसनीय माने गये हैं। इन पदार्थों के विघटन से निरंतर ऊष्मा उत्पन्न होती है। यूरेनियम तथा थोरियम किसी-न-किसी रूप व मात्रा में प्रत्येक शैल में पाये जाते हैं। जब इनका विघटन होता है, तो ऊष्मा की उत्पत्ति के साथ ही सीसा में रूपान्तरण होता है। प्रत्येक शैल में सीसा की वर्तमान मात्रा का पता लगाकर शैल की आयु की गणना की जा सकती है। रेडियो सक्रिय तत्त्वों की सहायता से पृथ्वी की आयु जानने की विधियों में कार्बन डेटिंग, यूरेनियम विधि, पोटैशियम व रूबीडियम विधि आदि सम्मिलित हैं। इस आधार पर पृथ्वी की आयु 2 अरब से 3 अरब वर्ष के मध्य मानी गयी है।
6. **जीवाश्म के साक्ष्य**—वनस्पति एवं जीवों के अंश कई बार चट्टानों के मध्य गहरी छाप के रूप में करोड़ों वर्षों तक सुरक्षित रह जाते हैं। इनका चट्टानों के कालक्रम निर्धारण में विशेष महत्व है। कोई प्राणी या वनस्पति जिसके कि जीवाश्म (Fossils) पाए गए हैं, किसी चट्टान में तभी मिलेगा जबकि वह चट्टान के जमाव एवं विकास काल का समकालीन रहा हो। अत: ऐसे जीवाश्मों के आधार पर चट्टानों एवं सम्बन्धित शैल संरचना व स्वरूप की आयु निश्चित की जा सकती है। भूतल पर कौन-से प्रकार के जीवों का विकास कितने लाख वर्ष पूर्व हुआ या सम्भावित रहा होगा इसका वर्तमान में पर्याप्त शुद्धता से ज्ञान उपलब्ध है। अत: जिस चट्टान में जो जीवाश्म मिलेगा, उस जीव का सम्भावित काल ही चट्टान का काल होगा। विश्व के अनेक क्षेत्रों में आज भी परतदार चट्टानें बिना विशेष हलचल या परिवर्तन के पाई जाती हैं, अत: ऐसे अध्ययन से जीवों के विकास की कड़ी को जोड़ा जा सकता है। जीवाश्मों के साक्ष्य के आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग 2 अरब वर्ष आँकी गयी है।

इस प्रकार पृथ्वी की आयु के संबंध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ कल्पनाओं पर आधारित हैं, तो कुछ अनुमानों पर आधारित हैं। वस्तुत: रेडियो एक्टिव पदार्थों के प्रमाण अधिक विश्वसनीय लगते हैं।

प्र.4. भारत के सन्दर्भ में भू-वैज्ञानिक समय मापनी को विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर

भारत के संदर्भ में भू-वैज्ञानिक समय मापनी
(Geological Time Scale with Reference to India)

भारत का भू-वैज्ञानिक इतिहास अत्यन्त जटिल एवं विविधतापूर्ण है। पृथ्वी के विभिन्न कालों के शिला समूह यहाँ पाए जाते हैं। प्रायद्वीपीय भू-भाग को तो भू-वैज्ञानिक संग्रहालय (Geological Museum) कहा गया है। भारत के भू-गर्भिक इतिहास का

विस्तार प्रथम भू-पृष्ठ के निर्माण, प्रथम अवसादी शैलों के जमाव एवं प्रथम पर्वत निर्माण की क्रिया से लेकर वर्तमान काल के जलोढ़ निक्षेपों तक पाया जाता है।

विश्व के भू-वैज्ञानिक इतिहास को यूरोप में विकसित भू-वैज्ञानिक समय मापनी के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है, यथा महाकल्प, कल्प, युग व युगान्तर (शक)। भारत का भू-गर्भिक इतिहास व अभिलेख पूरी तरह यूरोप से मेल नहीं खाते हैं। अत: अनेक भू-वैज्ञानिकों ने भारतीय भू-भाग की भौमिकीय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इसका मौलिक वर्गीकरण करने के प्रयास किए हैं। ब्रिटिश भू-गर्भशास्त्री **सर थोमस एच० हॉलेण्ड** ने 1903 से 1910 तक जियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (G.S.I.) के निदेशक रहते हुए भारतीय उपमहाद्वीप के भू-वैज्ञानिक इतिहास एवं समय मापनी विषयक महत्वपूर्ण कार्य किए। हॉलेण्ड ने *Sketch of the Mineral Resources of India* पुस्तक लेखन के साथ ही *'Provincial Geographies of India'* के चार वॉल्यूम का सम्पादन किया। भारतीय भू-भाग की भू-गर्भिक विशेषताओं एवं विषम विन्यासों के आधार पर सर हॉलेण्ड ने भारत के भू-वैज्ञानिक इतिहास को चार प्रमुख कल्पों में बाँटा—(1) आद्य (Archaean), (2) पुराण (Purana), (3) द्रविड़ (Dravidian), (4) आर्य (Aryan)।

भारत का प्राचीनतम काल आद्य कल्प यूरोप के आर्कियन कल्प के अनुरूप है, जिसके लिए प्रोटेरोजोइक, एजोइक तथा प्रिकैम्ब्रियन शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप से किया जाता है। समस्त भू-वैज्ञानिक काल का तीन-चौथाई से अधिक भाग इसी कल्प का है। भूपृष्ठ के शीतल होकर दृढ़ीकरण के इस काल में भारत के प्रायद्वीपीय भाग में आर्कियन नीस और ग्रेनाइट शैलों का निर्माण हुआ। अरावली पर्वत श्रेणियों का निर्माण इस काल की अन्य प्रमुख घटना है। ग्रेनाइट और नीस के अलावा धारवाड़ क्रम की शिलाएँ भी इसी कल्प में उत्पन्न हुई। आद्य कल्प की शिलाएँ जीवविहीन एवं जीवाश्म रहित है। दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में राजस्थान (दक्षिण-पूर्वी भाग) तक प्रायद्वीपीय भारत के दो-तिहाई क्षेत्र पर आर्कियन शिलाओं का विस्तार है। इन शिलाओं का अत्यधिक कायान्तरण हो चुका है। लोहा, ताम्बा, मैगनीज, अभ्रक, सोना आदि खनिजों का भण्डार होने के कारण आद्य कल्प की शैलों का आर्थिक महत्व है। प्रिकैम्ब्रियन का अन्तिम भाग पुराण कल्प है। यह पृथ्वी के भू-वैज्ञानिक इतिहास के प्रोटेरोजोइक कल्प (600 मिलियन वर्ष पूर्व) के समकक्ष है। इस अवस्था में धारवाड़ कालीन भू-गर्भिक हलचलों व अनाच्छादन के कारण विषमताओं का समतलीकरण होता रहा एवं कालान्तर में पुराण समूह की मिश्रित अवसादी व कायान्तरित शिलाओं का निर्माण हुआ। कुडप्पा एवं विन्ध्य क्रम की चट्टानों को पुराण कल्प में सम्मिलित करते हैं। ये भी जीवविहीन एवं जीवाश्म रहित हैं। कुडप्पा चट्टानों के चार प्रमुख क्षेत्र हैं—आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान-दिल्ली क्षेत्र एवं मध्य हिमालय। विन्ध्य क्रम की चट्टानों का नामकरण विन्ध्य श्रेणियों के नाम किया गया है। यह क्रम पश्चिम में राजस्थान के चित्तौड़गढ़ से लेकर पूर्व में बिहार के सासाराम जिले तक फैला हुआ है। विन्ध्य क्रम को निचले एवं ऊपरी खण्डों में बाँटा जाता है। इसमें चूना पत्थर, बलुआ पत्थर एवं शेल प्रमुख चट्टानें हैं। इनके पाँच प्रमुख क्षेत्र हैं—आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, पश्चिमी राजस्थान (मालानी), मध्य प्रदेश एवं बिहार। पुराण कल्प की विंध्य शैलों से बहुमूल्य पत्थर, हीरा, इमारती पत्थर (लाल पत्थर), चूना पत्थर (सीमेन्ट उद्योग हेतु) व गृह निर्माण पदार्थ प्राप्त होते हैं।

द्रविड़ कल्प जीवन की शुरुआत से जुड़ा है। यह 600 मिलियन वर्ष पूर्व से 300 मिलियन वर्ष पूर्व तक फैला हुआ है। कैम्ब्रियन से मध्य कार्बनी काल तक विस्तृत द्रविड़ कल्प की अवधि यूरोप के पेलियोजोइक कल्प से कम पाई जाती है। कुछ निक्षेपों को छोड़कर प्रायद्वीपीय भारत में इस कल्प के शैल जमावों का अभाव पाया जाता है। इस कल्प में विन्ध्य श्रेणियों के पुनरुत्थान और पश्चिमी घाट पर्वतों का निर्माण हुआ। द्रविड़ कल्प में पश्चिम के कैम्ब्रियन, ओर्डोविसियन, सिल्यूरियन, डेवोनियन तथा मध्यवर्ती कार्बनीफेरस युग सम्मिलित है। द्रविड़ कल्प की शैलों का विस्तार मुख्यत: कश्मीर व हिमाचल प्रदेश में पाया जाता है। इसमें बलुआ पत्थर, स्लेट, चीका, शेल, चूना पत्थर, क्वार्टजाइट आदि शिलाएँ सम्मिलित हैं। भारतीय भू-वैज्ञानिक इतिहास के आर्य कल्प की शुरुआत यूरोप के ऊपरी कार्बनीफरस युग से होती है। इसमें ऊपरी कार्बनीफरस, परमियन, ट्रायेसिक, जुरैसिक, क्रिटेशस, पेलिओसीन, इओसीन, ओलिगोसीन, मायोसीन, प्लायोसीन, प्लिस्टोसीन एवं होलोसीन काल आते हैं। कार्बनीफरस युग में 270 मिलियन वर्ष पूर्व गोण्डवाना शैल तंत्र का निर्माण हुआ, जिसमें देश का 95 प्रतिशत कोयला पाया जाता है। गोण्डवानालैण्ड का विखण्डन व उत्तर की ओर प्रवाहित होकर अंगारालैण्ड से टकराना तथा टर्शरी काल के दौरान हिमालय के वलित पर्वतों का निर्माण आर्यकल्प की महत्वपूर्ण भू-वैज्ञानिक घटनाएँ हैं। प्रायद्वीपीय भारत के पश्चिमी क्षेत्र में क्रिटेशस काल के दौरान लावा के जमावों से दकन ट्रेप का निर्माण हुआ। हिमालय श्रेणियों के निर्माण के साथ ही सिन्धु-गंगा गर्त का निर्माण हुआ, जो प्लायोसीन से लेकर होलोसीन कालों के दौरान अवसादों के निक्षेपण के फलस्वरूप सिन्धु-गंगा मैदान बना। उत्तर भारत के विशाल मैदान की वर्तमान अपवाह प्रणाली का निर्माण, प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का धंसाव व नर्मदा-तापी भ्रंश घाटियों का निर्माण, हिमालय श्रेणियों की चापीय आकृति आदि भारत के विवर्तनिक इतिहास की नवीन घटनाएँ हैं।

प्र.5. लाप्लास की निहारिका परिकल्पना पृथ्वी की उत्पत्ति को समझने में कहाँ तक सफल है? विवेचना कीजिए।

उत्तर

लाप्लास की निहारिका परिकल्पना
(Nebular Hypothesis of Laplace)

फ्रांसीसी विद्वान **लाप्लास** ने अपना मत सन् 1796 में अपनी पुस्तक 'Exposition of the World System' में प्रस्तुत किया। उसने **काण्ट** के विचार को किसी हद तक माना है, लेकिन काण्ट की कुछ गलतियों को दूर करके अपने सिद्धान्त को संशोधित किया है।

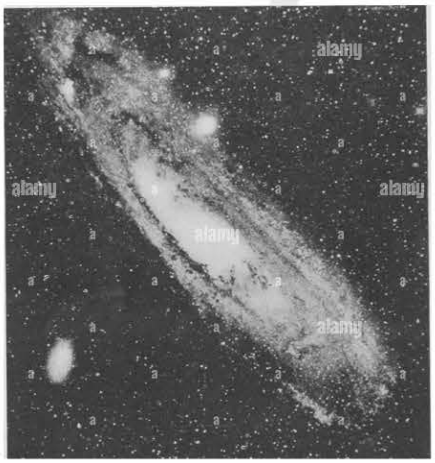

चित्र : निहारिका

लाप्लास ने अन्तरिक्ष में परिभ्रमण करती हुई एक उष्ण एवं गैसीय निहारिका की कल्पना की। अनुमानत: इसका व्यास कुल सौरमण्डल जितना था। विकिरण द्वारा ताप में ह्रास तथा गुरुत्वाकर्षण के कारण यह गतिशील निहारिका धीरे-धीरे सिकुड़ने लगी। गतिकी के नियम के अनुसार, सिकुड़ती हुई वस्तु का घूर्णन बढ़ जाता है। घूर्णन गति बढ़ने से उसका केन्द्रोपसारी बल भी बढ़ गया। परिणामस्वरूप निहारिका के भूमध्यरेखीय भाग में कुछ उभरा हुआ पदार्थ भारहीन होकर उससे अलग हो गया। यह पदार्थ निहारिका के चारों ओर छल्ले के रूप में परिक्रमा करने लगा। इसी छल्ले से बाद में उत्पन्न हुए छल्लों ने धीरे-धीरे ठण्डे होकर ग्रहों का रूप लिया। इसी प्रक्रिया से उपग्रहों की उत्पत्ति हुई। निहारिका का अवशिष्ट भाग सूर्य बना।

लाप्लास एक अच्छा खगोलवेत्ता व गणितज्ञ था। अत: अपनी परिकल्पना में उसने ग्रहों की रचना तथा गति सम्बन्धी तथ्य को विशेष महत्व दिया। ग्रहों की वृत्ताकार कक्षा, सूर्य व ग्रहों का एक ही दिशा में घूमना, शनि के चारों ओर पाई जाने वाली वलय, उष्ण गैसीय निहारिका से उत्पन्न पृथ्वी के गर्भ से तप्त लावा का उद्‌गार (ज्वालामुखी क्रिया) आदि तथ्य लाप्लास की परिकल्पना की पुष्टि करते हैं। इन्हीं गुणों के कारण यह परिकल्पना काफी लम्बे समय तक मान्य रही।

आलोचनाएँ—ऊष्मागति विज्ञान, सांख्यिकी, भौतिकी आदि विज्ञानों के विकास के साथ-साथ लाप्लास की परिकल्पना में अनेक दोष उजागर हुए—

1. इसमें प्रारम्भिक उष्ण व गतिशील निहारिका की उत्पत्ति के विषय में कोई जानकारी नहीं दी गई है।
2. सूर्य तथा ग्रहों के मध्य कोणीय संवेग के वितरण में अन्तर की व्याख्या नहीं हो सकी है।
3. मूल निहारिका का विस्तार कुल सौरमण्डल जितना मान लिया जाए तो उसकी घूर्णन गति अधिक नहीं हो सकती। यदि घूर्णन गति कम हो, तो छल्ले पृथक् होना सम्भव नहीं है।
4. परिकल्पना के अनुसार उपग्रहों को उनके पितृ ग्रहों की दिशा में ही घूमना चाहिए, जबकि शनि तथा बृहस्पति के कुछ उपग्रह विपरीत दिशा में घूमते हैं।
5. गैस अणु गति सिद्धान्त के अनुसार गैसीय वलयों का घनीभवन तथा ग्रहों का निर्माण सम्भव नहीं है।
6. वलय का निर्माण बन्द क्यों हो गया? निहारिका के खण्डित पदार्थ से निहारिका ही बननी चाहिए। सूर्य के विषुवतरेखीय प्रदेश में उभार होना चाहिए, आदि प्रश्नों का उत्तर इसमें नहीं मिलता है।
7. परिकल्पनानुसार पृथ्वी का आन्तरिक भाग द्रवित अवस्था में होना चाहिए था, जो वास्तव में नहीं है।
8. प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री **हॉब्स** के अनुसार, यह सिद्धान्त केवल सौरमण्डल के बारे में गलत स्थिति ही नहीं बतलाता बल्कि पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में भी भ्रामक सूचना देता है।

प्र.6. पृथ्वी की गतियों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

पृथ्वी की गतियाँ
(Motions of Earth)

यह सौरमण्डल का एकमात्र ऐसा ग्रह है, जहाँ मध्यम तापमान, ऑक्सीजन और प्रचुर मात्रा में जल की उपस्थिति के कारण जीवन पाया जाता है। इसका रंग नीला है। मानव का निवास होने के कारण हमारे लिए इसका महत्व सर्वाधिक है। बुध एवं शुक्र के बाद

यह सूर्य के सर्वाधिक निकट है। सूर्य से इसकी औसत दूरी 14.96 करोड़ किमी है। इसका व्यास 12,740 किमी है तथा औसत घनत्व 15.52 है। यह अपने अक्ष पर लंबवत स्थिति से $23\frac{1}{2}°$ झुकी हुई है। अन्य ग्रहों की भाँति इसे भी प्रकाश व ऊर्जा सूर्य से प्राप्त होती है। यह गोलाकार, किन्तु दोनों सिरों पर चपटी है। ऐसी आकृति को भूआभ (geoid) कहा जाता है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल 51 करोड़ वर्ग किमी तथा भूमध्यरेखीय परिधि 40,024 किमी है। पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती है और चन्द्रमा, पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इस प्रकार सूर्य, पृथ्वी एवं चन्द्रमा की अनेक सापेक्ष स्थितियाँ एवं गतियाँ होती हैं, जो पृथ्वी पर अनेक घटनाओं को जन्म देती हैं। इसीलिये पृथ्वी के ग्रहीय संबंधों (Planetary relations of the earth) की जानकारी आवश्यक है। पृथ्वी की चार गतियाँ (motions) होती हैं—(1) घूर्णन, (2) परिक्रमण, (3) पुरस्सरण, (4) नक्षत्रीय गति।

1. **घूर्णन** (Rotation)—पृथ्वी के अपने अक्ष पर लट्टू की भाँति घूमने को घूर्णन या परिभ्रमण कहते हैं। अक्ष (axis) वह कल्पित रेखा है, जो पृथ्वी के केन्द्र से गुजरती है तथा उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों को मिलाती है। पृथ्वी अपने अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती हुई लगभग 24 घण्टे (23 घण्टे, 56 मिनट एवं 4.09 सेकण्ड) में एक चक्कर पूर्ण करती है। यह अवधि एक दिन का निर्माण करती है, अत: इसे पृथ्वी की दैनिक गति भी कहते हैं। पृथ्वी के घूर्णन के प्रभाव से दिन और रात होते हैं, समय की माप का पैमाना प्राप्त होता है (2 घण्टे में एक घूर्णन), दिवस के विभिन्न कालों (प्रात: दोपहर, सायं, मध्य रात्रि) का आविर्भाव होता है, ग्लोब पर किसी स्थान की स्थिति का निर्धारण होता है (विशिष्ट बिन्दु एवं रेखाओं की कल्पना-उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव, विषुवत रेखा आदि), ग्रह और नक्षत्रों के पूर्व या पश्चिम घूमने का अनुभव होता है, हवाओं और समुद्री धाराओं की दिशा प्रभावित होती है तथा दैनिक ज्वार-भाटों में समय का अंतर आता है। अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी की घूर्णन गति शताब्दी-दर-शताब्दी कुछ धीमी हो रही है।
2. **परिक्रमण** (Revolution)—घूर्णन करती हुई पृथ्वी अण्डाकार कक्षा (orbit) में सूर्य की परिक्रमा करती है, इसे परिक्रमण कहते हैं। सूर्य इस अण्डाकार मार्ग के मध्य में स्थित न होकर एक ओर को स्थित है। इसी कारण सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी वर्ष में एक बार सूर्य के निकटतम तथा एक बार अधिकतम दूरी पर होती है। पृथ्वी 4 जुलाई को सूर्य से अधिकतम दूरी (15.2 करोड़ किमी) पर होती है, इस स्थिति को 'अपसौर' (aphelion) कहते हैं। सूर्य से निकटतम स्थिति (14.7 करोड़ किमी) 3 जनवरी को होती है, इसे 'उपसौर' (perihelion) कहते हैं। पृथ्वी अपने घूर्णन या परिभ्रमण की ही दिशा में (पश्चिम से पूर्व) सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा $365\frac{1}{4}$ दिन (365 दिन, 5 घण्टे, 48 मिनट, 46 सेकण्ड) पूर्ण करती है। इस अवधि को एक वर्ष कहते हैं, अत: परिक्रमण गति को पृथ्वी की वार्षिक गति भी कहते हैं। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के अण्डाकार मार्ग को 'भूकक्षा' कहते हैं। पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा के प्रभाव से मुख्यत: ऋतु परिवर्तन होता है। अपने अक्ष पर $23\frac{1}{2}°$ झुकाव के कारण परिक्रमण के समय विभिन्न स्थानों की सूर्य-सापेक्ष स्थिति बदलती रहती है। सूर्य, पृथ्वी पर $23\frac{1}{2}°$ अक्षांशों तक ही लंबवत चमक पाता है, अत: अयन वृत्तों (कके रेखा, मकर रेखा) तथा ध्रुवीय वृत्तों का निर्धारण इसी आधार पर होता है। दोपहर के समय भूमण्डल के विभिन्न स्थानों पर सूर्य की ऊँचाई में भिन्नता तथा दिन व रात की लंबाई में अंतर परिक्रमण गति के कारण रहता है। 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर लंबवत चमकता है, इस स्थिति को कर्क संक्रान्ति या ग्रीष्म अयनांत (summer solstice) कहते हैं। 22 दिसम्बर को सूर्य की किरणें मकर रेखा पर लंबवत पड़ती हैं, ऐसी स्थिति को मकर संक्रान्ति या शीत अयनांत (winter solstice) कहते हैं। 21 मार्च एवं 23 सितम्बर को सूर्य विषुवत रेखा पर लंबवत चमकता है अत: सभी अक्षांशों पर दिन-रात बराबर होते हैं। 21 मार्च की स्थिति को बसन्त विषुव (spring equinox) तथा 23 सितम्बर को शरद विषुव (Autumn equinox) कहते हैं।
3. **पुरस्सरण** (Precession)—यह पृथ्वी की गौण गति है। अपने अक्ष पर घूमती हुई पृथ्वी का अक्ष भी गति करता है, जिसे पुरस्सरण कहते हैं। विषुवसम्पात (equinoxes) में शनै: शनै: होने वाला परिवर्तन इसका परिणाम है। पुरस्सरण की अवधि या अक्ष का एक चक्कर लगभग 25800 वर्ष में पूर्ण होता है। पुरस्सरण के दौरान पृथ्वी का अक्षीय झुकाव 21.5° से लेकर 24.5° के मध्य रहता है। वर्तमान में पृथ्वी के अक्ष का बिन्दु ध्रुव तारे की ओर है, जो कि लगभग 14000 वर्ष पश्चात् चमकीले वेगा तारे की ओर होगा। पुरस्सरण से पृथ्वी पर जलवायु परिवर्तन होता है।
4. **नक्षत्रीय गति** (Galactic Rotation)—अपने अक्ष तथा सूर्य के चारों ओर घूमती हुई पृथ्वी आकाश गंगा के साथ ब्रह्माण्ड में गति करती है। आकाश गंगा के साथ-साथ घूमने की एक अवधि या चक्कर 225 से 250 मिलियन वर्ष होती है। इस अवधि को आकाशगंगा वर्ष (galactic year) या ब्रह्माण्ड वर्ष (cosmic year) भी कहते हैं। अन्य शब्दों में यह सूर्य द्वारा आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करने की अवधि है।

प्र.7. भौतिक भूगोल की प्रमुख शाखाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

भौतिक भूगोल की प्रमुख शाखाएँ
(Major Branches of Physical Geography)

विशेषीकरण के युग में भौतिक भूगोल की अनेक शाखाएँ या उपक्षेत्र विकसित हुए। ये सभी शाखाएँ यद्यपि भौतिक भूगोल में घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, किन्तु इनका स्वतंत्र विषय क्षेत्र एवं विशिष्ट उद्देश्य है। इसकी प्रमुख शाखाएँ निम्न हैं—

1. **भूआकृति विज्ञान** (Geomorphology)—भूआकृति विज्ञान या भू-आकारिकी भौतिक भूगोल की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जिसमें स्थल मण्डल या पृथ्वी के स्थल रूपों का अध्ययन किया जाता है। भूआकृति विज्ञान (Geomorphology) शब्द Ge (भू) + marphe (आकृति) + logos (विज्ञान) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है पृथ्वी की आकृतियों तथा स्थल रूपों का विज्ञान। भौतिक भूगोल की अध्ययन सामग्री मुख्यत: स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल तथा जीवमण्डल में विभक्त है। संपूर्ण स्थलमण्डल का अध्ययन भूआकृति विज्ञान में किया जाता है। इसे आवश्यक रूप से स्थलरूपों के विकास का अध्ययन कहा गया है। भूआकृति विज्ञान में हम केवल स्थलरूपों का ही वर्णन नहीं करते हैं, अपितु उनकी उत्पत्ति एवं विकास की विवेचना भी करते हैं। **वरसेस्टर** के शब्दों में, "भूआकृति विज्ञान पृथ्वी के उच्चावचीय लक्षणों का व्याख्यात्मक वर्णन है।" (Geomorphology is the interpretative description of the relief features of the earth) भू-पृष्ठ पर दिखायी देने वाले विभिन्न स्थलरूपों की उत्पत्ति एवं विकास को समझने के लिये भूपटल की चट्टानों या मृदा आवरण के साथ ही उस पर परिवर्तन लाने वाली आंतरिक व बाह्य शक्तियों या बलों (भूकंप, ज्वालामुखी, पर्वत निर्माण आदि) की संपूर्ण प्रक्रिया को समझना आवश्यक हो जाता है।

   भौतिक भूगोल की विषय-वस्तु का एक बड़ा भाग भूआकृति विज्ञान की अध्ययन सामग्री है, अत: निस्संदेह भौतिक भूगोल में भूआकृति विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। **स्ट्रालर** के अनुसार, "भूआकृति विज्ञान सभी प्रकार के स्थलरूपों की उत्पत्ति तथा उनके व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विकास की व्याख्या करता है तथा यह भौतिक भूगोल का एक प्रमुख अंग है।" पृथ्वी के विभिन्न उच्चावच भूआकृति विज्ञान के अध्ययन के प्रमुख विषय हैं। विस्तार एवं आकार की दृष्टि से समस्त उच्चावचों को तीन वृहद् श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—

   (i) प्रथम श्रेणी के उच्चावचों में महाद्वीप व महासागर नितल आते है।

   (ii) द्वितीय श्रेणी के उच्चावचों में पर्वत, पठार, मैदान तथा झीलों को सम्मिलित करते हैं।

   (iii) द्वितीय श्रेणी के उच्चावचों पर विकसित स्थलरूपों को तृतीय श्रेणी के उच्चावचों में सम्मिलित करते हैं, जैसे—घाटियाँ, प्रपात, छत्रक शिला, हिमोढ़ आदि। इस प्रकार स्थलाकृति विज्ञान में मात्र भौतिक भूगोल के स्थलमण्डल को ही सम्मिलित नहीं किया जाता है, अपितु महासागरीय नितल भी इसका अंग है। अर्थात् संपूर्ण भू-पृष्ठ इसकी अध्ययन सामग्री है। **थॉर्नबरी** के मतानुसार, "भूआकृति विज्ञान स्थलरूपों का विज्ञान है, किन्तु इसमें अन्त:सागरीय रूपों को भी सम्मिलित किया जाता है अर्थात् भूआकृति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र काफी विस्तृत एवं व्यापक है।" भूआकृति विज्ञान में विशिष्टीकरण बढ़ने के साथ इसके उपक्षेत्र विकसित हुए, यथा—जलीय भूआकारिकी, हिमनदीय भूआकारिकी, कार्स्ट भूआकारिकी, शुष्क भूआकारिकी, तटीय भूआकारिकी, व्यावहारिक भूआकारिकी आदि।

2. **समुद्र विज्ञान** (Oceanography)—समुद्र विज्ञान जलमण्डल का अध्ययन करने वाली भौतिक भूगोल की विशिष्ट शाखा है। इसमें महासागरीय जल के भौतिक एवं रासायनिक गुणधर्म, जलमण्डल, जल की गतियाँ, निक्षेप, महासागरीय तली की संरचना, सागरीय वनस्पति, सागरीय जीव, खनिज आदि का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न समुद्री यात्राओं तथा अनुसंधान अभियानों से समुद्र विज्ञान की विषयवस्तु पुष्ट हुई है। समुद्र विज्ञान को मोटे तौर पर दो उपक्षेत्रों में बाँटा जाता है—भौतिक समुद्र विज्ञान तथा सागरीय जीव विज्ञान। विशेषीकरण के परिणामस्वरूप इसकी अनेक शाखाओं का विकास हुआ।

3. **जलवायु विज्ञान** (Climatology)—जलवायु विज्ञान वायुमण्डल का अध्ययन करने वाली भौतिक भूगोल की विशिष्ट शाखा है। **हार्टशॉर्न** के अनुसार यह भूगोल का ऐसा महत्वपूर्ण अंग है, जिसका मूल उद्देश्य जलवायु की क्षेत्रीय भिन्नताओं का अध्ययन करना है। इसकी तीन प्रमुख शाखाएँ हैं—भौतिक जलवायु विज्ञान, प्रादेशिक जलवायु विज्ञान तथा

व्यावहारिक जलवायु विज्ञान। विशेषीकरण के कारण कृषि जलवायु विज्ञान, नगरीय जलवायु विज्ञान, चिकित्सा जलवायु विज्ञान आदि शाखाएँ विकसित हुई हैं।

4. **जैव भूगोल** (Biogeography)—जैव भूगोल जीवमण्डल का अध्ययन करने वाली भौतिक भूगोल की प्रमुख शाखा है। पृथ्वी के समस्त जीवों तथा उनका पर्यावरण जिसमें वे पारस्परिक क्रिया करते हैं, उनका सम्मिलित स्वरूप जीवमण्डल कहलाता है। इसमें समस्त जीवों के उद्भव, विकास, वितरण तथा प्रादेशिक भिन्नताओं का अध्ययन किया जाता है। जैव भूगोल की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—पादप भूगोल तथा प्राणी भूगोल।
5. **भूगणित** (Geodesy)—इसमें पृथ्वी की आकृति, आकार, अक्षांश व देशान्तर गणना, क्षैतिज कोण, गुरुत्वाकर्षण शक्ति आदि पक्षों का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। गणितीय भूगोल (Mathematical Geography) के विकास का श्रेय सर्वप्रथम प्राचीन यूनानी भूगोलवेत्ता एवं दार्शनिक थेल्स को जाता है।
6. **भूभौतिकी** (Geophysics)—भूभौतिकी में भूपटल और भूअभ्यंतर का अध्ययन, भूकम्पीय तरंगों, चुम्बकत्व, पृथ्वी की विद्युतीय चालकता आदि के अध्ययन होते हैं। यह एक शुद्ध और अनुप्रयुक्त विज्ञान है। इसका विकास भौतिकी और भौमिकी से हुआ है।
7. **खगोलीय भूगोल** (Astronomic Geography)—भौतिक भूगोल की इस शाखा में सौरमण्डल, पृथ्वी के सौर सम्बन्ध, सूर्य एवं चन्द्र की गतियाँ, दूरियाँ आदि का अध्ययन होता है।
8. **मृदा भूगोल** (Soil Geography)—भौतिक भूगोल की इस शाखा के अन्तर्गत मृदा निर्माण, संस्तर, संरचना, मृदा के भौतिक, रसायनिक व जैविक गुणों का विश्लेषण, क्षरण, मृदा के प्रकार एवं भूपृष्ठ पर वितरण आदि का अध्ययन किया जाता है।

प्र.8. भौतिक भूगोल का पृथ्वी विज्ञान की अन्य शाखाओं से क्या सम्बन्ध है? विवेचना कीजिए।

उत्तर

पृथ्वी विज्ञान का भौतिक भूगोल से अन्तर्सम्बन्ध
(Interrelation of Physical Geography with of Earth Sciences)

पृथ्वी के विभिन्न लक्षणों का अध्ययन करने वाले विज्ञानों को भूमि विज्ञान या पृथ्वी विज्ञान (Earth Sciences) कहते हैं। इनके अंतर्गत मुख्यत: स्थलाकृति, जल मण्डल, जल नितल, भू-पृष्ठ से संपर्क बनाये हुए वायुमण्डल एवं जैव जगत का अध्ययन किया जाता है। **जे० स्मिथ** के शब्दों में, "कोई भी विशिष्ट विज्ञान जो पृथ्वी का अध्ययन करता है, पृथ्वी विज्ञान (Earth Science) कहलाता है।" (Any of the specialized science that study the earth) इसमें भूगोल के अलावा भू-गर्भ विज्ञान, भू-भौतिकी, भूकम्प विज्ञान, ज्वालामुखी विज्ञान, भू-रसायन विज्ञान, मौसम विज्ञान, जलवायु विज्ञान, जल विज्ञान, समुद्र विज्ञान, हिमानी विज्ञान, मृदा विज्ञान, जीव विज्ञान आदि भी सम्मिलित हैं। इन सभी विज्ञानों में भौतिक भूगोल की विषय-सामग्री सम्मिलित है, अत: भूगोल के माध्यम से प्रकृति के ये सभी विज्ञान एक सूत्र में बंधे हैं। इस प्रकार, भौतिक भूगोल का पृथ्वी विज्ञान की अन्य शाखाओं से घनिष्ठ संबंध है। **स्ट्रालर** का यह कथन सत्य है कि "भौतिक भूगोल सामान्य रूप में कई पृथ्वी विज्ञानों का अध्ययन एवं समन्वय है, जो कि मानव के पर्यावरण पर सामान्य प्रकाश डालते हैं।" पृथ्वी विज्ञान की प्रमुख शाखाओं का भौतिक भूगोल से संबंध निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है—

1. **भू-गर्भ विज्ञान से संबंध**—पृथ्वी की उत्पत्ति, भू-वैज्ञानिक समय मापनी, जीवाश्म, पृथ्वी की संरचना, अन्तर्जात बल आदि का अध्ययन भौतिक भूगोल व भू-गर्भ विज्ञान दोनों में ही किया जाता है। भू-पृष्ठ पर स्थित विभिन्न भू-स्वरूपों का समग्र अध्ययन करने के लिये आवश्यक है कि उन प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया जाये जो कि भू-पृष्ठ के नीचे संचालित होती हैं। इस प्रकार, भू-अभ्यंतर का अध्ययन दोनों ही विषयों में महत्वपूर्ण है।
2. **समुद्र विज्ञान से संबंध**—भू-पृष्ठ के तीन-चौथाई भाग पर समुद्रों एवं महासागरों का विस्तार है। महासागरों की उत्पत्ति, विस्तार, महासागरीय तली की संरचना, ताप व लवणता का वितरण, जल की गतियाँ, महासागरीय निक्षेप, भविष्य के संसाधन आदि का अध्ययन समुद्र विज्ञान के समान ही भौतिक भूगोल में भी किया जाता है।
3. **जलवायु विज्ञान व मौसम विज्ञान से संबंध**—मौसम विज्ञान व जलवायु विज्ञान तथा भौतिक भूगोल में वायुमंडल की संरचना, विस्तार, वायु दाब, वायु ताप, वायु विक्षोभ, पवनों के प्रकार, वृष्टि के रूप, वायु राशियाँ, विश्व जलवायु प्रदेश आदि का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

4. **मृदा विज्ञान से संबंध**—मृदा विज्ञान पृथ्वी पर मिट्टियों की उत्पत्ति, विकास एवं वितरण का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। भौतिक भूगोल में भी चट्टानों एवं मृदा की उत्पत्ति, अपक्षय, अपरदन, मृदा संस्तर, मृदा के घटक, मृदा के प्रकार, प्रमुख विशेषतायें, वनस्पति से संबंध, विश्व वितरण, संरक्षण आदि का अध्ययन किया जाता है।
5. **भू-भौतिकी से संबंध**—भौतिक भूगोल के समान ही भू-भौतिकी एवं भू-गणित (Geodesy) में पृथ्वी के आकार, भार, घनत्व, अक्षांश, देशान्तर, भू-चुम्बक, भूकंपीय लहरें, पृथ्वी की गतियाँ, पृथ्वी की विद्युत चालकता आदि का अध्ययन किया जाता है।
6. **जीव विज्ञान से संबंध**—भौतिक भूगोल में जीवमण्डल का विस्तार, पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति, विकास, आवास, वनस्पति के प्रकार, वितरण, जन्तुओं के प्रकार, वितरण, प्रवसन, पारिस्थितिक तंत्र आदि का अध्ययन किया जाता है, जो कि जीव विज्ञान (वनस्पति शास्त्र व प्राणी शास्त्र) की भी विषय-वस्तु है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भौतिक भूगोल का अन्य पृथ्वी विज्ञानों से व्यापक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ अन्य विज्ञान पृथ्वी के विशिष्ट पक्षों का अलग-अलग एवं गहनतम अध्ययन करते हैं, जबकि भौतिक भूगोल सभी विज्ञानों से उपलब्ध परिणामों का समन्वय कर भूपटल तथा सजीवों के संबंध में युक्तिसंगत व्याख्या करता है। वर्तमान समय में भौतिक भूगोल में दूर संवेदन (Remote Sensing), भौगोलिक सूचना प्रणाली (G.I.S.) तथा भू-सूचना तकनीक (Geoinformatics) आदि प्रविधियों के प्रयोग के कारण यह मात्र पृथ्वी विज्ञानों या प्रकृति विज्ञानों का समूह मात्र नहीं रह गया है। इसका क्षेत्र अत्यधिक व्यापक होने के साथ ही यह भौतिक पर्यावरण के विभिन्न पक्षों तथा मानवीय क्रियाकलापों की अन्तरक्रियाओं का विस्तृत अध्ययन करता है।

प्र.9. सूर्य से दूरी के अनुसार ग्रहों के नाम लिखिए तथा सूर्य को परिभाषित करते हुए वर्णन कीजिए।

उत्तर हमारी आकाशगंगा की सर्पिल भुजाएँ दूर-दूर तक फैली हैं और इन्हीं में से एक भुजा में हमारा सौरमण्डल है। सूर्य तथा इसके चारों ओर परिक्रमा करते हुए पृथ्वी सहित आठ ग्रह, उनके उपग्रह, क्षुद्र ग्रह, उल्काएँ, धूमकेतु आदि मिलकर सौरमण्डल या सौर परिवार की रचना करते हैं। भूगोल परिभाषा कोश के अनुसार, "सौर परिवार आकाशीय पिण्डों का वह समूह है, जिसमें सूर्य तथा उसके चारों ओर घूमने वाले ग्रह, क्षुद्रग्रह, ग्रहिकाएँ, पुच्छल तारे, उल्काएँ तथा उल्का पिण्ड और ग्रहों के चारों ओर घूमने वाले उपग्रह सम्मिलित हैं।"

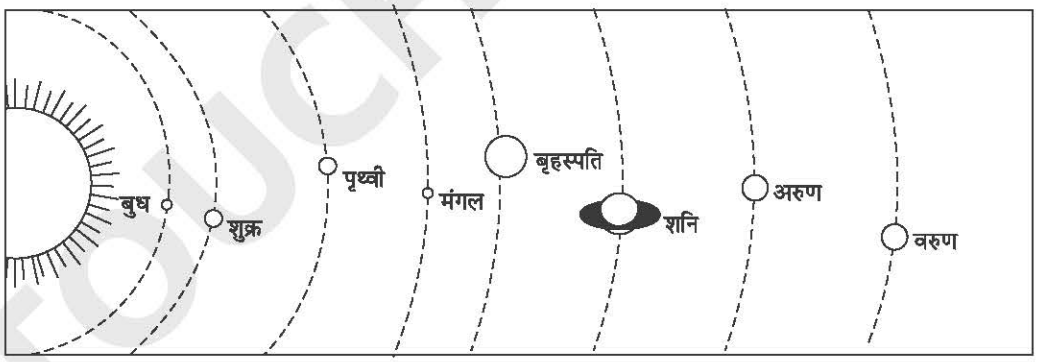

चित्र : सौरमण्डल

सूर्य
(Sun)

सौरमण्डल का केन्द्र है। यह सौर परिवार का मुखिया है। सूर्य एक छोटा तारा है, जो आकाशगंगा के केन्द्र से आधुनिक गणना के अनुसार 32,000 प्रकाश वर्ष की दूरी पर सर्पिल भुजा के एक सिरे पर स्थित है। खगोल वैज्ञानिकों द्वारा अतिपरिष्कृत टेलिस्कोप से किए गए नवीनतम आकलन के अनुसार सूर्य आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा 217 किमी प्रति सेकण्ड की गति से कर रहा है। अपनी आकाशगंगा का एक चक्कर लगाने में इसे 226 मिलियन (22.6 करोड़) वर्ष लगते हैं, यह अवधि एक ब्रह्माण्ड वर्ष (Cosmic year) कहलाती है।

अन्य तारों की भाँति सूर्य में 71 प्रतिशत हाइड्रोजन, 26.5 प्रतिशत हीलियम तथा 2.5 प्रतिशत अन्य तत्त्व पाए जाते हैं। इसके आन्तरिक भाग में होने वाली ताप नाभिकीय क्रियाओं से सौर ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है। सूर्य की सतह पर 6,000°C सेल्सियस तथा क्रोड में 2,00,00,000°C सेल्सियस तक तापमान होने का अनुमान है। इसीलिए इसे आग का गोला कहा जाता है। सूर्य ताप का केवल दो अरबवां भाग ही हम तक पहुँच पाता है। सौरमण्डल के सभी सदस्यों को प्रकाश व ऊर्जा सूर्य से ही प्राप्त होते हैं।

सूर्य का चमकने वाला जो भाग हमें दिखाई देता है, उसे प्रकाशमण्डल (Photosphere) या दीप्तिमान स्तर कहते हैं। इसमें प्रकाश व ताप उत्पन्न होता है। इसी भाग में काले धब्बे भी पाए जाते हैं। प्रकाश मण्डल के ऊपर गुलाबी रंग का मण्डल वर्णमण्डल (Chromosphere) होता है। यहाँ अत्यन्त तप्त गैसों की प्रचण्ड ज्वालाएँ या लपटें उठा करती हैं जो निम्न प्रभामण्डल (Lower Corona) तक पहुँचती है। प्रभामण्डल (Corona) या सौर किरीट या सूर्य मुकुट सूर्य से उठती हुई ज्वालाओं से बनता है। यह सूर्य का गोल बाहरी चमकदार भाग है। इसे सूर्य ग्रहण के समय सूर्य के चारों ओर देखा जा सकता है। प्रकाश किरण सम्बन्धी खोजों से पता चला है कि वर्णमण्डल और सौर किरीट के बीच एक बहुत संकरा व स्पष्ट क्षेत्र है, जिसे संक्रमण क्षेत्र कहते हैं। सूर्य का सबसे कम घनत्व का क्षेत्र सौर किरीट है। सूर्य सभी दिशाओं में प्रोटोन (हाइड्रोजन अणुओं के नाभिक) के रूप में अपने तत्त्व को लगातार बरसाता रहता है। कभी-कभी यह उत्सर्जन बहुत अधिक होता है, इसे सौर ज्वाला (Solar prominences) कहते हैं। सूर्य की सतह से उठती हुई लपटें वास्तव में तप्त गैसों की आँधी होती है।

सूर्य की सतह पर धब्बे से दिखाई देने वाले निशानों को सूर्य कलंक (Sun Spots) कहते हैं। सूर्य की सतह के तापमान (6,000° सेल्सियस) से इनका तापमान अपेक्षाकृत लगभग 1,500° सेल्सियस कम होने के कारण ये काले दिखाई देते हैं। इन धब्बों का जीवनकाल कुछ घण्टों से लेकर कई सप्ताह तक होता है। जब सूर्य में बहुत से धब्बे दिखाई देते हैं, तो उनके प्रभाव से पृथ्वी पर चुम्बकीय झंझावात (Magnetic Storms) आते हैं। ऐसा लगभग 11 वर्ष के अन्तराल पर देखा जाता है। धब्बे के मध्य का भाग प्रच्छाया (umbra) तथा चमकते किनारे उपच्छाया (penumbra) कहलाते हैं।

सूर्य अपने अक्ष पर 29.4 दिन में एक चक्कर पूर्ण करता है, किन्तु ध्रुवों पर घूर्णन की गति 33 दिन है। सूर्य का व्यास 13,92,530 किमी है, जो पृथ्वी के व्यास से 109 गुना अधिक है। इसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी से 28 गुना अधिक है। पृथ्वी से इसकी औसत दूरी 14.96 करोड़ किमी या 8.22 प्रकाश मिनट है। इसका आपेक्षिक घनत्व 141 है जो कि पृथ्वी का एक-चौथाई है।

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-II

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. प्रतिध्रुवस्थ स्थिति क्या है?

उत्तर सम्पूर्ण ग्लोब पर स्थल एवं जल क्षेत्र एक-दूसरे के विपरीत स्थित हैं, जिसे हम प्रतिध्रुवस्थ (Antipodal) भी कहते हैं। अपवादस्वरूप मात्र 1.4 प्रतिशत स्थल भाग के प्रतिध्रुवस्थ स्थल है और 44.6 प्रतिशत जल भाग के प्रतिध्रुवस्थ जल है लेकिन 95 प्रतिशत स्थल भाग के विपरीत सागर है। उत्तरी ध्रुव पर आर्कटिक महासागर तथा दक्षिणी ध्रुव पर अण्टार्कटिका महाद्वीप इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

प्र.2. जलीय तथा स्थलीय गोलार्द्ध से आप क्या समझते हैं?

उत्तर ग्लोब के उत्तरी भाग में स्थल की अधिकता है और जल क्षेत्र की कमी है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में जल भाग की अधिकता तथा स्थल भाग की कमी पाई जाती है। यदि ब्रिटेन को गोलार्द्ध का केन्द्र माना जाए तो यहाँ पृथ्वी का 83 प्रतिशत स्थल भाग होता है, इसे स्थलीय गोलार्द्ध (Land Hemisphere) कहते हैं। इसी प्रकार न्यूजीलैण्ड को केन्द्र माना जाए तो 90 प्रतिशत से अधिक जल का भाग होता है, इसे जलीय गोलार्द्ध (water hemisphere)कहते हैं।

प्र.3. समस्थिति से क्या तात्पर्य है?

उत्तर भूतल पर विस्तृत विविध स्थल रूपों यथा—पर्वत, पठार, मैदान आदि के आकार में अत्यधिक भिन्नता पायी जाती है, फिर भी भूपृष्ठ पर निश्चित संतुलन पाया जाता है। पृथ्वी के ऊपरी भाग में होने वाले परिवर्तनों या आंतरिक हलचलों के कारण किसी एक स्थान पर संतुलन बिगड़ता है, तो अनेक आंतरिक एवं बाह्य शक्तियां भू-संतुलन को पुन: स्थापित करने के लिये सक्रिय हो जाती हैं। इस प्रकार, पृथ्वी पर संतुलन की क्रिया निरंतर प्रभावी बनी रहती है। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि भ्रमणशील पृथ्वी के ऊपर उभरे हुई उच्च भू-भागों तथा सागर तली के गहरे क्षेत्रों के मध्य जो यांत्रिक स्थिरता की दशा पायी जाती है, उसे 'भू-संतुलन की दशा' या समस्थिति कहते हैं।

प्र.4. भू-संतुलन के सम्बन्ध में हीस्केनेन का मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर 1933 में हीस्केनेन ने एयरी तथा प्राट की संकल्पनाओं को मिलाते हुए अपने विचार प्रस्तुत किये। उसने बताया कि विभिन्न भूभागों के घनत्व में तो अंतर पाया ही जाता है, इसके साथ ही एक ही स्थलरूप के विभिन्न भागों (शीर्ष भाग, मध्यवर्ती भाग, निम्न भाग) के घनत्व में भी अंतर होता है अर्थात् विभिन्न भूस्तंभों तथा एक ही भूस्तंभ के विभिन्न भागों के घनत्व में भी अंतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, पर्वत शिखर पर घनत्व 2.7 है, तो तलहटी में 2.76 होगा। सागर तली पर घनत्व और बढ़ जायेगा।

प्र.5. भूकम्प से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर भूपर्पटी में शैलों की एक तीव्र अभिज्ञेय कम्पन-गति एवं समायोजन, जिस परिणामस्वरूप प्रत्यास्थ घात तरंगें उत्पन्न होती हैं और चारों ओर सभी दिशाओं में फैलती है, उसे भूकम्प कहते हैं अर्थात् भूगर्भिक हलचलों के कारण भूपटल पर होने वाला कम्पन ही भूकम्प है।

प्र.6. 'सुनामी' क्या है? इसका सर्वाधिक उत्तरदायी कारक क्या है?

उत्तर महासागरीय तली अथवा तटीय भागों में भूकम्प आने पर समुद्र में उठने वाली ऊँची लहरों को सुनामी कहते हैं। यह जापानी भाषा का शब्द है जो सू (Tsy) और नामी (namis) से मिलकर बना है। इसका अर्थ है 'समुद्र में उठने वाली लहरें'। सुनामी के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी कारक भूकम्प है। इसके अतिरिक्त जमीन धंसने, भ्रंश पड़ने, ज्वालामुखी फटने, किसी तरह का विस्फोट होने, उल्कापात होने से भी सुनामी लहरें उठती हैं।

प्र.7. 'हिमालय पर्वतीय पट्टी' से आप क्या समझते हैं?

उत्तर यह विनाशकारी भूकम्पों की पट्टी है। इसका विस्तार सम्पूर्ण कराकोरम एवं हिमालय के सहारे-सहारे कश्मीर से म्यांमार की सीमा तक है।

प्र.8. भूकम्प के लाभकारी प्रभावों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर भूकम्पों से अप्रत्यक्ष रूप से कभी-कभी कुछ लाभ हो सकते हैं। इससे पड़ी दरारों एवं भ्रंश से भूमिगत जल के सोते सतह पर आ सकते हैं। भू-गर्भ के नीचे छिपे खनिजों को निकालना आसान हो सकता है। तटीय भाग का सागर गहरा होने पर वहाँ प्राकृतिक बन्दरगाह बन सकते हैं। कई बार बंजर प्रदेश भूमि में धंस जाते हैं और वहाँ उपजाऊ मिट्टी निकल आती है।

प्र.9. भूकम्प को किस यन्त्र द्वारा मापा जाता है?

उत्तर भूकम्प को जिस यन्त्र द्वारा मापा जाता है, उसे भूकम्पमापी या भूकम्पलेखी (seismograph) कहते हैं।

प्र.10. ज्वालामुखी किसे कहते हैं?

उत्तर पृथ्वी के भीतरी भाग से दहकते हुए पदार्थ जिस छिद्र या दरार विशेष से निकलते हैं, उसे 'ज्वालामुखी' कहते हैं। ज्वालामुखी से लावा, शिलाखण्ड, अनेक प्रकार की जलती हुई गैसें, राख एवं भारी मात्रा में जलवाष्प तेजी से बाहर आती हैं।

प्र.11. क्रेटर व काल्डेरा में क्या अन्तर है?

उत्तर क्रेटर व काल्डेरा में अन्तर निम्न प्रकार हैं—

क्र०सं०	क्रेटर	काल्डेरा
1.	ज्वालामुखी शंकु के ऊपरी या शीर्ष भाग पर धंसाव से अथवा विस्फोट से बड़ा गढ्डा बन जाता है। यह कीप आकार वाला गढ्डा ही विवर या क्रेटर कहलाता है।	जब ज्वालामुखी का ऊपरी भाग भयंकर विस्फोट से उड़ जाए अथवा निमज्जन या धंसाव के प्रभाव से विशाल क्रेटर बन जाए तो उसे काल्डेरा कहते हैं।
2.	यह प्राय: वृत्ताकार होता है।	काल्डेरा विशाल कड़ाह जैसा होता है।
3.	इसका व्यास लगभग 800 मीटर तक होता है।	इसका व्यास 8 से 10 किमी तक होता है।

प्र.12. 'शंकु' किसे कहते हैं? यह किस प्रक्रिया द्वारा बनता है?

उत्तर ज्वालामुखी उद्गार से बनने वाली पहली एवं विशेष महत्त्वपूर्ण आकृति उद्गार से निकले पदार्थों के जमाव से बनती है। उसका आकार शंकु जैसा या त्रिकोणाकार होता है, इसे शंकु कहते हैं।

प्र.13. 'मैग्मा' क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर मैग्मा 'लावा + गैसें + वाष्प' का मिश्रित रूप है। मैग्मा की उत्पत्ति अत्यधिक ऊँचे तापमान पर भू-गर्भ में शैलों के पिघलने से होती है। इतना अधिक तापमान या ऊष्मा पृथ्वी के उत्पत्ति काल की तप्त अवस्था से तथा रेडियो सक्रिय पदार्थों से प्राप्त होती है। पृथ्वी की गहराइयों में स्थायी मैग्मा भण्डार पाया जाता है, जिसकी स्थिति लगभग 50 किमी नीचे मानी जाती है। प्लेट विवर्तनिक सिद्धान्त में मैग्मा के कुछ प्रकार बताए गए हैं जिनमें अटलाण्टिक मैग्मा (सागरीय प्लेटों के कारण) व रिओलेटिक मैग्मा (महाद्वीपीय प्लेटों के कारण) प्रमुख हैं।

प्र.14. भारत में होने वाली ज्वालामुखी क्रिया पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर वर्तमान में अण्डमान द्वीप समूह के बैरेन द्वीप के अतिरिक्त भारत के किसी भी भाग में ज्वालामुखी क्रिया नहीं पायी जाती है, किन्तु अतीत में अनेक क्षेत्रों में ज्वालामुखी क्रिया के प्रमाण मिलते हैं। इनमें बिहार में डालमा ट्रेप, आन्ध्र प्रदेश में कुडप्पा, मध्य प्रदेश में ग्वालियर क्षेत्र, राजस्थान में मालानी पहाड़ियाँ, पंजाब में किराना पहाड़ियाँ, हिमाचल प्रदेश में पीर पंजाल आदि सम्मिलित हैं। प्रायद्वीप में दक्कन ट्रेप का निर्माण दरारी उद्गार से हुआ।

प्र.15. भूसन्नति से क्या अभिप्राय है?

उत्तर भूसन्नति या भूअभिनति से अभिप्राय "भूपर्पटी में वृहत् गर्त अथवा द्रोणी या सैकड़ों किमी तक फैली एक गहरी खाई से है, जिसका तल दोनों किनारों की भू-संहतियों से अपरदित मलबे के निक्षेपण के कारण धीरे-धीरे धंसता जाता है, फलस्वरूप अवसादी शैलों की मोटी परतों का निर्माण होता है।" इसीलिए भूसन्नतियों को पर्वतों का पालना कहा गया है।

प्र.16. भूसन्नतियों की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर भूसन्नतियों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—

1. भूसन्नतियाँ प्राय: दो दृढ़ भूखण्डों के मध्य होती है, इनके दोनों किनारों या पार्श्व भागों को अग्रदेश (Foreland) कहते हैं।
2. इनकी स्थिति, आकार तथा विस्तार में परिवर्तन होता रहता है।

3. भूसन्नतियाँ प्राय: गतिशील होती हैं।
4. ये भूगर्भिक इतिहास के कई युगों से गुजर सकती हैं।
5. ये धरातल पर लंबे, संकरे व उथले जलीय क्षेत्र के रूप में होती हैं।

प्र.17. अपसारी किनारा से आपका क्या तात्पर्य हैं?

उत्तर जब दो प्लेटें विपरीत दिशा में अपसरित होती हैं, तो अपसारी या रचनात्मक किनारे कहलाते हैं। इसे फैलता किनारा भी कहते हैं। यहाँ नया स्थलमण्डल बनता है। यह समुद्रतल के फैलाव का स्थल है।

प्र.18. प्लेट किनारों के प्रकारों को संक्षेप में बताइए।

उत्तर भू-प्लेटों के किनारे सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इन्हीं के सहारे भूकंपीय, ज्वालामुखीय तथा अन्य विवर्तनिक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। सामान्यत: प्लेट सीमा व किनारे तीन प्रकार के होते हैं—(1) अपसारी अथवा रचनात्मक किनारा, (2) अभिसारी अथवा विनाशात्मक किनारा, (3) रूपान्तर भ्रंश अथवा संरक्षी किनारा।

प्र.19. चुम्बकीय विचलन किसे कहते हैं?

उत्तर भौगोलिक एवं चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण रेखाओं में कम या अधिक दिशा-कोणीय अन्तर बना रहता है, इसे ही भौगोलिक उत्तर-दक्षिण के सन्दर्भ में चुम्बकीय विचलन कहते हैं। यह सदैव परिवर्तनशील होता है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. 'पराचुम्बकत्व' से आप क्या समझते हैं?

उत्तर

पराचुम्बकत्व
(Paleomagnetism)

पृथ्वी एक विशाल छड़ चुम्बक की भाँति व्यवहार करती है। यह चुम्बकत्व पृथ्वी के आन्तरिक भाग से उत्पन्न होता है। भू-छड़ चुम्बक के दोनों ध्रुव पृथ्वी के भौगोलिक ध्रुव एवं परिभ्रमण कक्ष से विशेष रूप से सामंजस्य रखते हुए उनसे प्राय: सीध में रहते हैं, किन्तु भौगोलिक ध्रुवों को जोड़ने वाली उत्तर-दक्षिण रेखा एवं चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण रेखाओं में सामान्यत: भिन्नता बनी रहती है। काल्पनिक चुम्बकीय अक्ष के सिरे पृथ्वी के धरातल को जिन बिन्दुओं पर प्रतिच्छेदित करते हैं, वे भू-चुम्बकीय ध्रुव कहलाते हैं। भौगोलिक एवं चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण रेखाओं में कम या अधिक दिशाकोणीय अन्तर बना रहता है, इसे ही भौगोलिक उत्तर-दक्षिण के सन्दर्भ में चुम्बकीय विचलन कहते हैं। यह सदैव परिवर्तनशील होता है।

लौहयुक्त गर्म तरल लावा के ठण्डा होने पर नवीन आग्नेय चट्टानों का निर्माण होता है। इन नवीन चट्टानों के लौह कणों के ठण्डा होते समय ही उनमें चुम्बकीय गुण होता है जिसे एन०आर०एम० (Natural Root Magnetism) भी कहते हैं। यह उस समय की महाद्वीपीय स्थिति एवं चुम्बकीय दिशानुरूप स्थिति के अनुसार अपनी स्थिति निर्धारित करेगा जबकि इससे पहले की चट्टानों की चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण दिशा महाद्वीपीय प्रवाह के कारण बाद की चट्टानों से भिन्नता रखेगी। यही बदली हुई दिशा वाली चट्टानें कालान्तर में पराचुम्बकीय चट्टानें कहलाएंगी। इनकी दिशा भी प्लेटों के निरन्तर विस्थापन की दिशा के अनुसार बदलती जाती है, क्योंकि एक बार जब कोई चट्टान ठोस बन जाती है फिर उसके लौह कणों में विकसित चुम्बकत्व की दिशा में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता है। अत: इसे 'समय के स्थायी आलेख' भी कहते हैं।

चट्टानों के पराचुम्बकत्व के अध्ययन से अनेक प्रमाण एकत्रित किए गए, जो प्लेटों के विस्थापन की पुष्टि करते हैं। ब्लेकेट ने ब्रिटिश द्वीपों पर ट्रियासिक बालुका पत्थर के अध्ययन के आधार पर 200 मिलियन वर्ष पूर्व की ध्रुवों की स्थिति का निर्धारण किया। इनसे यह निष्कर्ष निकलता कि चुम्बकीय ध्रुवों का परिभ्रमण प्लेटों के विस्थापन के कारण हुआ है। मध्य महासागरीय कटक के दोनों ओर N.R.M. की पट्टियाँ समानांतर रूप से पायी जाती हैं।

प्र.2. महासागरीय नितलों के विस्तार का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

महासागरीय नितलों का विस्तार
(Ocean Floor Spreading)

1960 के पश्चात् हेज, डीज, मैसन, मैथ्यूज आदि विद्वानों ने प्रतिपादित किया कि मध्य महासागरीय कटकें अध:स्तर से उठने वाली संवाहनिक धाराओं के ऊपर स्थित है। इन कटकों के सहारे ऊपर उठती हुई संवाहनिक धाराओं के कारण लावा का

निष्कासन होता है व नये पदार्थों का जमाव कटक के दोनों ओर होने से सागरीय नितल का प्रसार होता जाता है। मध्य महासागरीय कटक की लंबाई लगभग 65,000 किमी व चौड़ाई 50 से 1,500 किमी है। तीनों बड़े महासागरों में फैली इस कटक ने संपूर्ण पृथ्वी को माला की भाँति समेट रखा है। दोहरे शिखर (Double Crest) वाली इस कटक पर भ्रंश घाटियाँ पायी जाती हैं। हेस, डीज एवं अन्य विद्वानों ने अध:स्तर में चलने वाली संवाहनिक धाराओं को भू-प्लेट स्तर पर न मानकर उनसे सम्बन्धित भूमण्डल के विभिन्न भागों से प्रमाण एकत्रित करते हुए उन्हें उपखण्डों एवं कोशिकाओं के आधार पर गतिशील माना। महाद्वीपों की चट्टानें समुद्र तली की चट्टानों से काफी अधिक पुरानी हैं। इस प्रकार महासागरीय नितलों का विस्तार भी प्लेट विवर्तन गतियों के सक्रिय होने का एक प्रमाण है।

1. समुद्र तली पर सामान्य तापमान 9.4°C/300 मीटर होता है, किन्तु समुद्री श्रेणियों के निकट यह अपेक्षत: अधिक हो जाता है।
2. भूकंप एवं ज्वालामुखी गतिविधियाँ मुख्यत: प्लेटों के सीमान्त क्षेत्रों में सीमित रहना सिद्धान्त को बल देती है।

आलोचना—प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त के माध्यम से अनेक भू-वैज्ञानिक घटनाओं तथा भू-आकृतिक समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है फिर भी कुछ अनुत्तरित प्रश्नों के कारण इसको पूर्णत: स्वीकार नहीं किया गया। इसके प्रति निम्न आपत्तियाँ उठाई गईं—

1. प्लेटों के प्रवाह के लिये उत्तरदायी बल महाद्वीपों के विस्थापन के लिये अपर्याप्त लगता है।
2. अभिसारी सीमा अपसारी सीमा से अधिक बताई है जो कि मौलिक मान्यता से अलग है।
3. अनेक पर्वतों के निर्माण की व्याख्या इस सिद्धान्त से नहीं हो पाती है; जैसे—आस्ट्रेलिया, ब्राजील व दक्षिण अफ्रीका के पूर्व में स्थित श्रेणियाँ।
4. प्लेटों के आंतरिक भागों में भूकंप एवं ज्वालामुखी क्रिया क्यों होती है? कोयना, हवाई, लाटर आदि इसके उदाहरण हैं।
5. महासागरों में मुख्य कटक के अतिरिक्त अन्य कटक क्यों पायी जाती है? जैसे-बरमूडा रिज, रायोग्राण्डे रिज आदि।

प्र.3. भूसन्नति की उत्पत्ति सम्बन्धी होम्स के सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर

आर्थर होम्स का सिद्धान्त
(Arthur Holmes Theory)

होम्स ने भूसन्नतियों का विकास तथा उद्भव निम्न रूपों में बताया है—

1. **मैग्मा के स्थानान्तरण द्वारा**—होम्स के अनुसार पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी (Crust) की रचना तीन विभिन्न परतों में हुई है—(1) बाह्य परत जो 10 से 12 किलोमीटर तक मोटी है। (2) मध्य परत जो 20 से 25 किलोमीटर गहराई पर है। (3) सबसे निचली परत । मध्यवर्ती परत के नीचे से मैग्मा के स्थानान्तरण हो जाने से धंसाव की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा भूसन्नतियों का निर्माण होने लगता है। कोरल सागर व तस्मान सागर इसके उदाहरण हैं। इस मत की काफी आलोचना हुई। विद्वानों ने बताया कि मैग्मा के स्थानान्तरण द्वारा इस प्रकार की भूसन्नतियों का निर्माण कभी नहीं हो सकता है।
2. **रूपान्तरण द्वारा**—होम्स के अनुसार, भू-गर्भ में जहाँ ताप की दो संवाहनीय धाराएँ मिलती हैं वहाँ सम्पीडन होने लगता है। इस सम्पीडन के कारण निचली परत में चट्टानों में कायान्तरण होता है, जिससे उनका घनत्व बढ़ जाता है, इससे अवतलन व धंसाव की क्रिया होती है। इस धंसाव से ही भूसन्नतियों का निर्माण होता है। भूमध्यसागर तथा पश्चिमी कैरेबियन सागर इनके मुख्य उदाहरण हैं। इसके विपक्ष में कहा गया कि संवाहनीय धाराओं से उत्पन्न दबाव से ताप में वृद्धि हो जायेगी तथा चट्टानों का रूपान्तरण नहीं होगा बल्कि वह पिघल जायेगी। अत: भूसन्नति का विकास सम्भव नहीं है।
3. **सम्पीडन द्वारा**—सम्पीडन के फलस्वरूप भूसन्नति को जन्म मिलता है। बड़े-बड़े पर्वतों की उत्पत्ति के समय अग्रदेश की ओर पर्वतों के ठीक सामने दबाव की शक्तियों द्वारा स्थल का भाग नीचे की ओर धंसक जाता है।धंसाव से ही भूसन्नति को जन्म मिलता है। गंगा-सिन्धु का खड्ड तथा फारस की खाड़ी ऐसे धंसाव के उदाहरण हैं।
4. **सियाल परत के पतले होने से**—जब महाद्वीपीय धरातल के नीचे संवाहनीय धाराएँ एक-दूसरे की विपरीत दिशा में बहती हैं, तो इन धाराओं के कारण तनाव उत्पन्न होता है। इस तनाव से सियाल परत नीचे से पतली होती है, जिसके फलस्वरूप स्थल खण्डों में फैलाव होने लगता है और भूसन्नतियों को जन्म मिलता है। इसका उदाहरण टैथिस भूसन्नति है। संवाहनीय धारा के अत्यधिक तीव्र होने पर तनाव की क्रिया भी तीव्र हो जाती है। इस स्थिति में दो स्थल खण्ड एक-दूसरे से अलग-अलग हो जाते हैं तथा भूसन्नति को जन्म मिलता है। यूराल भूसन्नति इसका अच्छा उदाहरण है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डस्टर, स्टील, केई आदि ने भी भू-सन्नति के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। डस्टर ने पर्वत श्रेणियों की रचना के आधार पर भूसन्नतियों को तीन भागों में बाँटा है—(1) अन्तर्महाद्वीपीय भूसन्नति, (2) परिमहाद्वीपीय भूसन्नति, (3) परिसागरीय भूसन्नति।

प्र.4. शूकर्ट के अनुसार भूसन्नति के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

शूकर्ट का सिद्धान्त
(Schuchert Theory)

भूसन्नतियों को चार्ल्स शूकर्ट ने तीन वर्गों में बाँटा हैं—

1. **एकल भूसन्नति** (Mono-Geo-synclines)—इस प्रकार की भूसन्नतियाँ अत्यधिक लम्बे तथा संकरे जलीय भाग के रूप में थीं, जिनकी तली में निरन्तर धंसाव होता रहा। इनका विकास अत्यधिक सरल एवं साधारण था। इनकी स्थिति या तो महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में अथवा किनारे वाले भागों में थीं। अप्लेशियन भूसन्नति इसका उदाहरण है।
2. **बहुल भूसन्नति** (Poly-Geo-synclines)—इस प्रकार की भूसन्नतियाँ चौड़े समुद्री भाग में थीं, जो कि एकल भू-सन्नतियों की अपेक्षा अधिक चौड़ी थीं। इनका भू-गर्भिक इतिहास अत्यन्त जटिल था। ये ग्लोब पर भी अधिक समय से विस्तृत थीं। इनमें तलछटीय सम्पीडन के कारण पर्वतों की उत्पत्ति हुई। उदाहरण के लिए, रॉकी तथा यूराल भूसन्नतियाँ।
3. **मध्यस्थ भूसन्नति** (Messo Geo-synclines)—ये चारों ओर से महाद्वीपों से आवृत्त अत्यधिक लम्बे, संकरे तथा गतिशील सागरीय भाग के रूप में थीं। ये ऐसे अगाध गहराई वाले सागरीय भाग थीं, जो उपर्युक्त दोनों प्रकार की भूसन्नतियों से अधिक लम्बी तथा जटिल थीं। इनका रूप एक सागर के समान था। टैथिस भूसन्नति इसका अच्छा उदाहरण है जिसके स्थान पर आल्पस व हिमालय पर्वत बने। भूमध्यसागर भी इसका अवशिष्ट भाग माना जाता है।

प्र.5. ज्वालामुखी के मानव क्रियाकलापों पर प्रभावों को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर

ज्वालामुखी का मानव क्रियाकलापों पर प्रभाव
(Impact of Volcanoes on Human Activities)

ज्वालामुखी की घटना प्रकृति की सबसे अधिक विनाशकारी घटनाओं में से है। ज्वालामुखी के मानव क्रियाकलापों पर प्रभाव निम्न हैं—

1. **विध्वंसक प्रभाव**—ज्वालामुखी उद्‌गार होने पर सारा वायुमण्डल धुआँ, राख, भाप व जहरीली गैसों से भरने लगता है। प्राणियों का श्वास लेना मुश्किल हो जाता है। विमान सेवायें बाधित हो जाती हैं। भूमि पर भूकम्प आने, दरारें पड़ने और दहकता मैग्मा बहने से चारों ओर सभी प्रकार का जैव संसार और उसकी रचनाएँ (सड़क, भवन, खेत, आदि) नष्ट होते जाते हैं। मनुष्य व जन्तु तेजी से वहाँ से या तो पलायन कर जाते हैं या मर जाते हैं। विस्फोट में कुछ समय बाद होने वाली गैस व राख मिश्रित दलदल की वर्षा व भूमि पर कीचड़ सहित बहाव से रही-सही वनस्पति भी नष्ट हो सकती है। निकट के क्षेत्रों में बने बाँध या झीलें टूटने से बाढ़ भी आ सकती है।
2. **लाभकारी प्रभाव**—ज्वालामुखी क्रिया के कुछ लाभकारी प्रभाव भी देखने को मिलते हैं। लावे के चारों ओर फैलने से वहाँ नवीन लावा की उपजाऊ मिट्‌टी बिछ जाती है। प्राचीन काल में हुए ऐसे ही जमाव से दक्षिणी भारत का उपजाऊ काली मिट्‌टी का प्रदेश बना है। ज्वालामुखी से प्रभावित पहाड़ी क्षेत्रों में गर्म पानी के सोते पाए जाते हैं, जिनमें गन्धक और अन्य उपयोगी खनिज मिले होने से चर्म रोग, गठिया, श्वास जैसी बीमारियों का इलाज होता है। ज्वालामुखी अपनी नली के आस-पास कायान्तरित चट्‌टानों का निर्माण करते हैं। इसी कारण ज्वालामुखी ग्रीवा के आस-पास बहुमूल्य खनिज मिलते हैं। उद्‌गार में अन्य कई प्रकार के धातु व अधातु खनिज भी पाए जाते हैं। ज्वालामुखी क्रिया से प्रभावित क्षेत्रों में पाए जाने वाले गीजर, सोते, क्रेटर आदि मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं, जिससे पर्यटन को बढ़ावा मिलता है।

प्र.6. ज्वालामुखी उद्‌गार से उत्पन्न पदार्थ एवं उनकी अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

ज्वालामुखी उद्‌गार के पदार्थ
(Materials of Volcanic Eruption)

ज्वालामुखी उद्‌गार के समय सभी प्रकार के चट्‌टानी पदार्थ, खनिज, गैसें एवं जलवाष्प ऊँचे तापमान पर निकलकर भूतल एवं वायुमण्डल में फैल जाते हैं। ये पदार्थ मुख्यतः तीन अवस्था में प्राप्त होते हैं—

1. **गैसीय अवस्था**—विभिन्न गैसें एवं जलवाष्प बहुत ऊँचे तापमान पर ज्वालामुखी उद्‌गार के समय तेजी से फब्बारे की तरह निकलकर वायुमण्डल में फैल जाते हैं। वास्तव में ज्वालामुखी क्रिया के लिए यही पदार्थ अधिक उत्तरदायी होते हैं। इनमें जलवाष्प की मात्रा दो-तिहाई से भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मोनो-ऑक्साइड (CO), सल्फर व सल्फर डाइ-ऑक्साइड (SO_2), हाइड्रोक्लोरिक गैस (HCl), नाइट्रोजन, अमोनिया एवं अन्य अम्लीय प्रभाव वाली तथा जहरीली गैसें निकलकर वायुमण्डल में फैल जाती हैं। कुछ उद्‌गारों में धुआँ निकलकर फैलता है, इसमें राख या धूल के महीन कण वातावरण को भारी बना देते हैं, जिससे दृश्यता तो प्रभावित होती ही है, श्वास लेना भी कठिन हो जाता है। इन गैसों के प्रभाव से आस-पास की वनस्पति, प्राणी जगत एवं मानव पर घातक प्रभाव पड़ता है।
2. **ठोस अवस्था**—धूल व राख के अलावा अन्य ठोस पदार्थों में मुख्यत: शिलाखण्ड होते हैं। इनका आकार बालू के कण से लेकर विशाल शिलाखण्ड तक कोई भी हो सकता है। कुछ पदार्थ ठोस एवं सघन होते हैं तो कुछ मधुमक्खी के छत्ते के समान छिद्रमय होते हैं। छोटे कणमय टुकड़ों को सिण्डर व ब्रेसिया के नाम से पुकारते हैं, जो कि नुकीले होते हैं। राख के टुकड़े को टफ कहते हैं। बड़े टुकड़ों को लेपिली कहते हैं, जो कि सुपारी व प्याज के आकार के होते हैं। इनसे बड़े टुकड़ों को प्यूमिक (झांबा) एवं बड़े-बड़े खण्डों को ब्लॉक या शैलखण्ड कहते हैं। बम एवं प्यूमिक दोनों ही यद्यपि उद्‌गार के बाद में ठोस रूप में मिलते हैं, किन्तु यह अम्लीय लावे के ठण्डे होने पर ही विशेष आकृति ग्रहण कर पाते हैं। ज्वालामुखी बम गोलाकार, अण्डाकार या फौजी बम की भाँति लम्बाकार अर्थात् किसी भी आकार व विस्तार का हो सकता है। जब वायुमण्डल में फैली जलवाष्प ठण्डी होकर सघन बादल का रूप धारण करती है तो कई बार भारी वर्षा भी हो सकती है। ऐसी वर्षा के साथ धूल, राख व गैसें मिलने से दलदली रूप में पानी बरसता है। इसे ज्वालामुखी दलदल (Vol-mud flow) का बहाव कहते हैं।
3. **द्रव अवस्था**—जब भी ज्वालामुखी उद्‌गार होता है, तो वहाँ से निकलने वाला लावा गाढ़ा एवं पैठिक (कम गाढ़ा) दोनों रूपों में मिलता है। जब लावा में सिलिका की मात्रा अधिक होती है तो वह हल्के रंग एवं अधिक गाढ़ा होने से तुरन्त ठण्डा होकर ठोस हो जाता है। लावा में ज्यों-ज्यों सिलिका की मात्रा घटती जाती है, वह पतला, काला एवं अधिक भारी पदार्थों वाला होता है। यह धीमी गति से ठण्डा होता है एवं काफी दूर तक फैल जाता है। इससे बेसाल्ट व एण्डेसाइट जैसी कठोर चट्टानें बनती हैं। अधिक द्रव लावा होने पर दरारी उद्‌गार से वह भूतल पर दूर-दूर तक फैल जाता है। रासायनिक संघटन के अनुसार लावा को तीन वर्गों में रखते हैं—(i) फेल्शिक लावा—सिलिका 74%, अधिक गाढ़ा, (ii) मध्यस्थ लावा—सिलिका 58%, (iii) मेफिक लावा—सिलिका 49%, अधिक तरल।

प्र.7. भूकम्पविज्ञान से आप क्या समझते हैं?

उत्तर

भूकम्पविज्ञान (Seismology)

भूकम्प एक ऐसी प्राकृतिक आपदा है, जिस पर मानव का कोई वश नहीं है। अनेक क्षेत्रों में वैज्ञानिक विकास की ऊँची उड़ान भरने वाला मानव आज भी भूकम्प व ज्वालामुखी के समक्ष स्वयं को विवश ही मानता है। फिर भी इनके आने की घटनाओं तथा भूकम्प तरंगों की वैज्ञानिक विधि से व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। भूकम्प का अध्ययन करने वाले विज्ञान को भूकम्पविज्ञान या सिसमोलोजी (Seismology) कहा जाता है। मानचित्र पर भूकम्प के प्रघात की समान तीव्रता वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखा को समभूकम्प रेखा (Isoseimal line) कहते हैं। भूकम्प से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन जिस यन्त्र द्वारा किया जाता है उसे भूकम्पमापी या भूकम्पलेखी (Seismograph) कहते हैं।

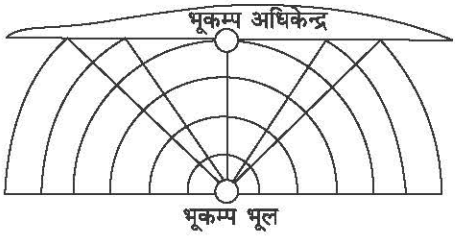

चित्र : भूकम्प अधिकेन्द्र एवं भूकम्प मूल

भू-गर्भ में गहराई पर जिस केन्द्र से चट्टानों में होने वाली विशेष परिवर्तन की क्रियाओं से हलचल की शुरुआत होती है, उसे भूकम्प मूल या भूकम्प उत्पत्ति केन्द्र (Focus) कहते हैं। यहाँ से जिस स्थान पर सबसे पहले पृथ्वी की सतह पर लम्बवत् धक्का महसूस किया जाता है उसे भूकम्प अधिकेन्द्र (Epicentre) कहते हैं। भूकम्प मूल से ही चारों दिशओं में जो तरंगें फैलती हैं वहीं

अभिकेन्द्र के चारों ओर वृत्ताकार घेरे बनाती हैं। इनसे भूकम्प से होने वाली हानि का ज्ञान होता है। भूकम्प का मूल अधिकेन्द्र से कुछ किमी से लेकर सैकड़ों किमी गहराई पर हो सकता है। भूकम्प से सबसे अधिक नुकसान केन्द्र से हटकर बनने वाले भीतरी वृत्तों में होता है।

प्र.8. भूकम्प तरंगें किसे कहते हैं? इनके प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर

भूकम्प तरंगें
(Earthquake Waves)

भूकम्प उत्पत्ति केन्द्र से चारों ओर चलने वाली विभिन्न प्रकार की तरंगों या कम्पन के प्रकार को ही भूकम्प तरंगें कहते हैं। इनकी गति, प्रभाव एवं निरन्तरता समान नहीं रहती। यह रूक-रूककर एवं अनेक प्रकार से तथा चट्टानों का स्वरूप या घनत्व बदलने पर भी बदलकर आगे बढ़ती रहती हैं, अत: भूकम्प तरंगें (लहरें) कई प्रकार से प्रभावी होती हैं। किसी भी मुख्य भूकम्प उत्पत्ति केन्द्र से तीन प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं—

1. **प्राथमिक तरंगें** (Primary Waves)—यह तरंगें सबसे अधिक तेज गति से चलती हैं। इनकी गति 8 से 14 किमी प्रति सेकण्ड तक होती हैं। यह ठोस एवं तरल दोनों ही प्रकार के पदार्थों में समान रूप से गतिशील रहती हैं। ऐसी लहरें आगे-पीछे धक्के देती हुई समान गति से बढ़ती हैं। इन्हें संक्षेप में 'P' तरंगें भी कहा जाता है। यही तरंगें पृथ्वी के मध्यवर्ती केन्द्र (core) में प्रवेश कर पाती हैं। यद्यपि वहाँ इनकी गति कम होती जाती है।

चित्र : भूकम्प तरंगें

2. **द्वितीयक तरंगें** (Secondary Waves)—इन तरंगों की गति जल से उठने वाली लहरों जैसी होती है। इनकी गति 5 से 7 किमी प्रति सेकण्ड होती हैं। तेज भूकम्प के झटकों में इन लहरों के कारण पृथ्वी पर दरारें पड़ जाती हैं। यह लहरें भी पृथ्वी में काफी गहराई तक प्रवेश कर पाती हैं, किन्तु द्रव पदार्थों में प्रवेश नहीं कर पातीं। इन्हें संक्षेप में 'S' तरंगे या आड़ी तरंगे (Transverse Waves) भी कहते है।
3. **धरातलीय तरंगें** (Surface Waves)—यह लहरें सिर्फ पृथ्वी की सतह पर ही चलती हैं। इनकी गति 3 से 5 किमी प्रति सेकण्ड होती हैं। सतह पर चलने के कारण इन्हें अन्य तरंगों से अधिक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है, अत: इन्हें लम्बी दूरी वाली तरंगें (Long Distance Waves) कहते हैं।

   किसी भी स्थान पर सबसे पहले 'P' तरंगें व उसके बाद 'S' तरंगें पहुँचती हैं। बीसवीं सदी में विश्व के विभिन्न भागों में आए भूकम्पों के सघन अध्ययन से 'P' व 'S' तरंगों की सहायक विशेष तरंगों का पता चला। इनमें से 'P' तरंगों या लहरों के ठीक बाद महसूस किए गए धक्कों के लिए जिम्मेदार लहरों को Pg व P* कहा गया। इसी भाँति 'S' तरंगों या लहरों के ठीक बाद की लहरों को Sg व S* कहा गया। जहाँ Pg व Sg तरंगें धरातल की ऊपरी परत के निकट चलती हैं, वहीं P* एवं S* तरंगें मध्यवर्ती परत में चलती हैं।

प्र.9. रिक्टर स्केल प्रणाली से आप क्या समझते हैं?

उत्तर भूकम्प की तीव्रता मापने के लिये रिक्टर स्केल प्रणाली 1935 में अमेरिकी वैज्ञानिक चार्ल्स रिक्टर ने गुटेनबर्ग के साथ मिलकर विकसित की थी। इस मापनी पर एक से लेकर 12 तक अंक होते हैं। 1 से 4 अंक तक के भूकम्प विशेष कमजोर क्षेत्रों में ही महसूस किए जाते हैं। 5 से 7 अंक तक के भूकम्प सभी लोग महसूस करते हैं एवं भय फैल जाता है। कमजोर भवनों में दरारें भी पड़ सकती हैं। 7 से ऊपर के अंक के भूकम्प विशेष विनाशकारी होते हैं। कुछ क्षणों में सैकड़ों भवन धराशायी हो जाते हैं। पशु, मानव एवं धन की बहुत हानि होती है। 11 व 12 अंक के भूकम्प प्रलयकारी होते हैं। इनके बाद कुछ नहीं बचता है। भूकम्प की तीव्रता शैलों की परतों से मुक्त होने वाली ऊर्जा से नापी जाती है।

भूकम्पों की भविष्यवाणी करना बड़ा जोखिम का काम है। मानव को अब तक इसमें सफलता नहीं मिली है, किन्तु प्रयास जारी हैं। चीन के जीव भौतिक विज्ञानियों ने पशुओं के व्यवहार में बदलाव के आधार पर कुछ घण्टों पूर्व इसका पता लगाने का दावा किया है।

प्र.10. लोथियन ग्रीन के चतुष्फलक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

लोथियन ग्रीन का चतुष्फलक सिद्धान्त
(Tetrahedral Theory of Lothian Green)

1875 में अंग्रेज भू-गर्भवेत्ता लोथियन ग्रीन ने ज्यामितीय विधि पर आधारित यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में ईली डी ब्यूमाण्ट ने 'पेण्टागोनल डोडीकाहेड्रन' (Pentagonal Dodecahedron) सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। इसमें बहुत कुछ सुधार कर ग्रीन ने चतुष्फलकीय परिकल्पना का प्रस्तुतीकरण किया। उन्होंने बताया कि चतुष्फलक वह आकृति है, जो बराबर भुजाओं वाले चार त्रिभुजों से निर्मित होती है।

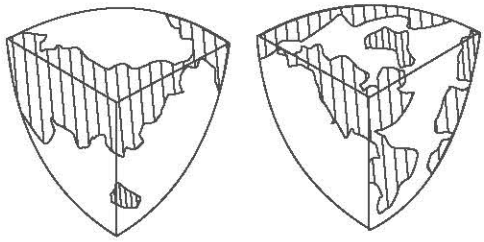

चित्र : चतुष्फलक पृथ्वी

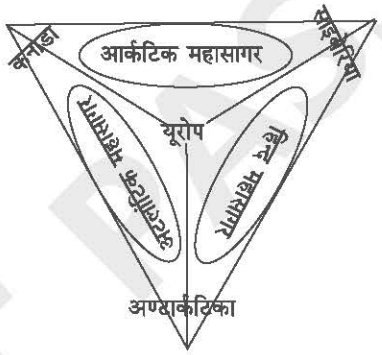

चित्र : चतुष्फलक पृथ्वी स्थल एवं जल के रूप में

यह सिद्धान्त फेयर बर्न (Fair burn) की खोज पर आधारित है। उसने बताया कि यदि एक गोल पाइप को चारों ओर से समान रूप से दबाया जाए तो वह त्रिभुजाकार आकृति में परिवर्तित हो जाएगा।

ग्रीन ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्यामिति के दो तथ्यों पर किया—

1. एक गोलाकार आकृति अपने धरातलीय क्षेत्र के अनुपात में सर्वाधिक आयतन स्थापित करती है।
2. एक चतुष्फलक आकृति अपने धरातलीय क्षेत्र के अनुपात में न्यूनतम आयतन स्थापित करती है।

ग्रीन ने यह माना कि पृथ्वी उत्पत्ति के समय एक उष्ण एवं गोलाकार पिण्ड थी, जो धीरे-धीरे ठण्डी हो रही है। इस प्रक्रिया में पृथ्वी की ऊपरी परत सबसे पहले ठण्डी होकर ठोस हुई। आन्तरिक भाग धीरे-धीरे ठण्डा होता रहा अत: बाहरी पटल की अपेक्षा अधिक संकुचित हो गया। इस संकुचन से पृथ्वी का आयतन कम हो गया। ऊपरी भाग पहले ही ठोस हो चुका था, अत: उसमें अधिक संकुचन की सम्भावना नहीं थी। परिणामस्वरूप ऊपरी परत व आन्तरिक भाग में अन्तर आ गया। तब गुरुत्वाकर्षण शक्ति से बाह्य परत नीचे धंसने लगी। पृथ्वी के चारों ओर के समान दबाव ने गोल आकृति को एक चतुष्फलक में परिवर्तित कर दिया। इसके उभरे हुए कोनों पर महाद्वीप एवं चपटे भागों पर महासागर बने।

इस परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी ज्यों-ज्यों ठण्डी होती जा रही है, चतुष्फलक की आकृति पूर्णता ग्रहण कर रही है। इस आकृति को यदि शीर्ष पर उल्टा खड़ा कर दिया जाये तो वह पृथ्वी की आकृति से मेल खाती है। इस पर महाद्वीपों एवं महासागरों का वर्तमान वितरण भी समझा जा सकता है। चतुष्फलक के चार उभरे भागों के सहारे उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका, यूरोप व अफ्रीका, एशिया व ऑस्ट्रेलिया तथा अण्टार्कटिका महाद्वीप स्थित हैं। इसी प्रकार सपाट व चपटे भागों पर महासागर स्थित हैं। महाद्वीप एवं महासागर प्रतिध्रुवीय स्थिति में हैं।

प्र.11. भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में जोली का मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर जोली ने भू-सन्तुलन के बारे में 1925 में अपने विचार प्रकट करते हुए यह समझाया कि भू-गर्भ में हेफोर्ड एवं बॉवी द्वारा बताए गए क्षतिपूर्ति तल की भाँति कोई ऐसी रेखा नहीं होती है, जिसके ऊपर की घनत्व भिन्नता वाले स्तम्भ मिलकर समरूपी घनत्व का तल बना सकें। इसके लिए आवश्यक है कि ऊपर उठे भाग अधिक गहराई में प्रवेश कर निश्चित क्षतिपूर्ति कटिबंध या क्षेत्र का निर्माण करें। कम ऊँचे भाग इस पट्टी में

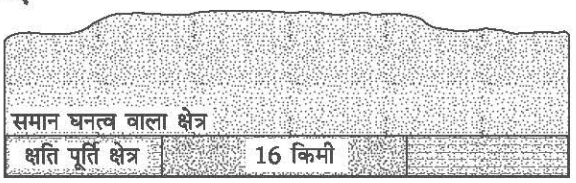

चित्र : जोली के अनुसार भू-सन्तुलन की स्थिति

कम गइराई तक ही प्रवेश कर पाएंगे, अत: उसने तैराव के सिद्धान्त (Law of Floatation) को आधार मानते हुए क्षतिपूर्ति कटिबंध या क्षेत्र (Zone of Compensation) की कल्पना की। इसकी चौड़ाई 16 किमी मानी गयी। यह भारी सिमा पदार्थों की बनी है, जिनका घनत्व 3 है। इसी में कम घनत्व वाले (2.4 से 2.7) विविध ऊँचाई के स्तम्भ ऊँचाई के अनुसार डूबे रहकर तैरते या समस्थिति की अवस्था बनाए रखते हैं।

प्र.12. होम्स के अनुसार संतुलन की क्षेत्रीय व्यवस्था को समझाते हुए संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर आर्थर होम्स ने भू-सन्तुलन एवं उससे सम्बन्धित विसंगतियों पर 1940 के आस-पास विस्तार से प्रकाश डाला। होम्स का विचार एयरी का संशोधित रूप है। यह प्राट से भिन्न, किन्तु जौली के विचारों को सही दिशा में आगे बढ़ाने वाला है। होम्स ने स्पष्ट किया कि जो भाग जितना ऊँचा एवं जटिल होगा उसका भू-सन्तुलन वृहद् स्तर पर एवं क्षेत्रीय आधार पर होगा। महान कार्डिलरा पर्वतों (संयुक्त राज्य) एवं हिमालय जैसे पर्वतीय क्षेत्रों का सन्तुलन पृथ्वी की गहराई में काफी नीचे एक साथ समायोजित होगा।

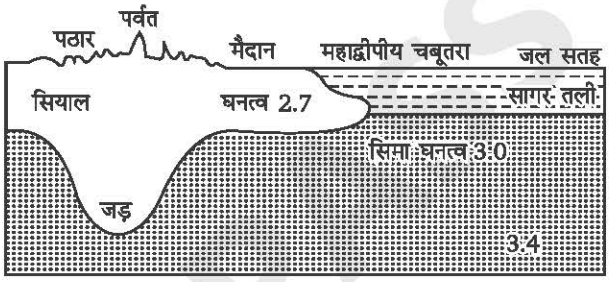

चित्र : होम्स के अनुसार सन्तुलन की क्षेत्रीय व्यवस्था

होम्स ने भू-गर्भ में घनत्व व्यवस्था के वितरण स्वरूप को भूकम्पीय लहरों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर समझाया। इन प्रमाणों के आधार पर कम घनत्व की या सियाल परत की मोटाई पर्वतीय भागों में 40 से 50 किमी तक एवं समायोजन के कारण कहीं-कहीं इससे भी अधिक गहराई तक पाई जा सकती है, जबकि मैदानी भागों के नीचे सियाल परत की मोटाई इससे लगभग आधी ही रह जाती है। महाद्वीपीय चबूतरे से महासागरीय नितल के पास सियाल परत की मोटाई और भी घटकर 8 से 12 किमी के मध्य ही पाई जाती है। यही नहीं अगाध सागरीय मैदानों एवं महासागरीय गर्तों में तो सियाल की परत की मोटाई नाममात्र की ही रह जाती है। भूतल पर सन्तुलन बनाए रखने के लिए ही ऊँचे पर्वतीय भाग के हल्के पदार्थ काफी गहराई तक सियाल की पट्टी या गुम्बदाकार जमाव में फैले होते हैं, जिससे कि वहाँ की भारी चट्टानें अन्यत्र स्थानान्तरित रहती है जबकि निचले भाग कम गहराई पर समस्थिति में बने रहते हैं एवं वहाँ पर अधिक घनत्व वाले पदार्थ कम गहराई पर ही पाए जाते हैं।

होम्स ने स्पष्ट किया कि यद्यपि स्थानीय रूप से आदर्श समस्थिति या भू-सन्तुलन की दशा कुछ समय के लिए पाई जा सकती है, किन्तु सभी स्थान पर हमेशा के लिए नहीं रह सकती है। भूतल पर स्थित अनेक स्थानों की असन्तुलन की स्थिति ही भू-गर्भ में आकस्मिक शक्तियों की क्रियाशीलता व विकास के लिए सहायक रहती है।

प्र.13. प्लेटों की विशेषताओं को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर एस्थनोमण्डल पर गतिशील रहने वाली स्थलमण्डलीय प्लेटों की गति व दिशा में अंतर होता है। विभिन्न प्लेटें भिन्न-भिन्न दिशाओं में भिन्न गति से चलती हैं। जब प्लेटें प्रवाहित होती हैं, तो उनके साथ ही महाद्वीप तथा महासागरीय तली भी विस्थापित हो जाती है। ली पिचोन के अनुसार इनकी चाल प्रति वर्ष 1 सेमी से लेकर 10 सेमी के मध्य होती है। ध्रुव पर गति बिल्कुल नहीं रहती और भूमध्य रेखा पर अधिकतम होती है। प्लेटों की मोटाई 100 से लेकर 200 किमी तक भिन्न-भिन्न होती हैं। समुद्रों के नीचे प्लेटें काफी पतली और महाद्वीपों के नीचे काफी मोटी होती हैं। सभी प्लेट दृढ एवं कठोर होती हैं। प्लेटों की गति के मूल में रेडियो सक्रिय तत्त्वों से निकली ऊष्मा के कारण उत्पन्न संवाहनिक धाराएँ होती हैं। आरोही धाराओं के फलस्वरूप दो प्लेट एक-दूसरे से अलग हट जाती हैं व तनाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत अवरोही धाराओं के कारण दो प्लेट परस्पर निकट आती है व संकुचन होता है। प्लेटों की आकृति तथा आकार में भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। महाद्वीप का निर्माण करने वाली प्लेट को महाद्वीपीय प्लेट तथा महासागरीय बेसिन का निर्माण करने वाली प्लेट महासागरीय प्लेट कहलाती है।

प्र.14. भूपृष्ठ की प्रमुख प्लेटों के विषय में उल्लेख कीजिए।

उत्तर स्थलमण्डलीय प्लेटों की संख्या के बारे में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। डीट्ज और होल्डन ने प्लेटों की संख्या 10 बताई। डब्ल्यू०जी० मोर्गन के मतानुसार प्लेटों की संख्या 20 है। प्लेटों की अधिक मान्य संख्या ली० पिचोन ने बताई। उसके अनुसार सम्पूर्ण भूपृष्ठ छ: मुख्य तथा अनेक गौण प्लेटों में विभक्त है—

1. **प्रशान्त प्लेट** (Pacific Plate)—पूर्णत: सागरीय स्थलमण्डल वाली यह प्लेट प्रशान्त महासागरीय घाटी को घेरे हुए है। इसकी गति उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर है। इसके पूर्वी और दक्षिणी छोर अधिकांशत: फैलती सीमा के हैं। यह प्लेट

कई सीमा खण्डों और तिहरे संगमों को घेरे हुए है। अत्यधिक सक्रिय रूपान्तर भ्रंश 'सान एण्ड्रियाज' इसके नीचे अर्थात् प्लेट सीमा के कैलिफोर्नियायी भाग के नीचे पाया जाता है।

2. **अमेरिकी प्लेट** (American Plate)—यह प्लेट अधिकांशत: दक्षिण और उत्तर अमेरिका के महाद्वीपीय स्थलमण्डल तथा 10 सीमाओं और संगमों के साथ-साथ मध्य अटलाण्टिक कटक के पश्चिम में समस्त सागरीय स्थलमण्डल (अटलाण्टिक) पर छाये हुए हैं। यह पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती है जिसका परिणाम पश्चिमी भाग पर अधिक पड़ता है। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि उत्तर और दक्षिण अमेरिकी प्लेट अलग-अलग हैं और उनकी सीमा लगभग 15° उत्तरी अक्षांश पर है।
3. **यूरेशियायी प्लेट** (Eurasian Plate)—यूरेशियायी प्लेट अधिकांशत: महाद्वीपीय स्थलमण्डल के रूप में जानी जाती है। यह पूर्व और उत्तर की ओर सागरीय स्थलमण्डल से घिरी हुई है। पर्सियन प्लेट और चीन प्लेट इसकी उप प्लेट हैं। इसके सीमा खण्डों और तिहरे संगमों की संख्या 7 है। इसकी गति की दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर है।
4. **अफ्रीकी प्लेट** (African Plate)—यह सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप और सागरीय स्थलमण्डल को घेरे हुए है, जिसके अन्तर्गत मध्य अटलाण्टिक कटक तथा चार्ल्स वर्थ कटक के भाग सम्मिलित हैं। इसके पाँच सीमा खण्ड तथा तिहरे संगम हैं। इसके उप प्लेट के रूप में सोमालियन प्लेट है। अफ्रीकी प्लेट की गति की दिशा दक्षिण-पश्चिम से पूर्व की ओर है।
5. **हिन्द-आस्ट्रेलियायी प्लेट** (Indo-Australian Plate)—यह अधिकांशत: सागरीय स्थलमण्डल के भाग को जिसमें सम्पूर्ण आस्ट्रेलिया व अधिकांश भारतीय उपमहाद्वीपीय स्थलमण्डल भी सम्मिलित है, घेरे हुए है। इसके दक्षिणी भाग में दक्षिण ध्रुवीय प्लेट पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत है। इसके भी पाँच सीमा खण्ड व तिहरे संगम हैं। इसकी गति की दिशा दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर है।
6. **दक्षिण ध्रुवीय या अण्टार्कटिक प्लेट** (Antarctic Plate)—यह समस्त दक्षिण ध्रुव महाद्वीपीय स्थलमण्डल (अण्टार्कटिका) और घिरे हुए सागरीय स्थलमण्डल को घेरे हुए है। इसके पाँच सीमा खण्ड और तिहरे संगम हैं।

उपर्युक्त छ: प्रमुख प्लेटों के अतिरिक्त अन्य उप-प्लेट (Sub-Plate) इस प्रकार हैं—(i) नाज्का प्लेट, (ii) कोकोस प्लेट, (iii) कैरीबियन प्लेट, (iv) स्कोशिया प्लेट, (v) फिलीपाइन प्लेट, (vi) इरानियन प्लेट, (vii) अरेबियन प्लेट, (viii) हेलेनिक प्लेट।

प्र.15. भूसन्नति की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

भूसन्नति की विभिन्न अवस्थाएँ
(Different Stages of Geo-Synclines)

वर्तमान समय की भूसन्नतियों के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। आज केवल फारस की खाड़ी, मोजाम्बिक चैनल और पूर्वी एशिया के सागरीय द्वीप चापों के मध्य सागरों को भूसन्नति के रूप में माना जा सकता है। पर्वतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोबर तथा स्विस नामक भू-गर्भशास्त्रियों के विचार अधिक प्रचलित है। इन्होने भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से भूसन्नतियों के विकास की तीन अवस्थाएँ बताई हैं—

1. **भूसन्नति अवस्था** (Litho-genesis)—यह पर्वत निर्माण एवं भूसन्नति की प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था में भूसन्नति का निर्माण तथा विकास होता है। इनकी प्रथम अवस्था के लक्षण हैं, भूसन्नति की उत्पत्ति, तलछट का जमाव और तली का धंसाव। इसमें सबसे पहले गर्त बनता है और धंसाव होने के बाद ऊपरी भाग सागरीय दिखाई देता है। निक्षेपण तथा धंसाव का कार्य लंबे समय तक चलता रहता है।
2. **पर्वत निर्माण की अवस्था** (Oro-genesis)—द्वितीय अवस्था में जब भूसन्नति तलछट से भर जाती है और पृथ्वी का सन्तुलन बिगड़ जाता है। भूसन्तुलन को पुन: स्थापित करने के लिए भू-हलचल होने लगती है। उस हलचल के समय भूसन्नति के किनारों पर क्षैतिजिक दबाव पड़ता है, जिससे तलछट में वलन क्रिया होती है तथा भूसन्नति का समस्त पदार्थ संपीडित होकर वलन के रूप में पर्वत का रूप धारण कर लेता है।
3. **विकास की अवस्था** (Glip to Genesis)—पर्वत निर्माण एक दीर्घकालीन घटना है। पर्वतों का उत्थान धीरे-धीरे कई युगों तक होता रहता है। उदाहरणार्थ—हिमालय का विकास इओसीन युग से मध्य प्लीस्टोसीन युग तक होता रहा तथा आज भी इसके ऊपर उठने के प्रमाण मिल रहे हैं। पर्वत के निर्माण के साथ ही अनाच्छादन की शक्तियाँ सक्रिय हो जाती है। ये अपरदन के द्वारा पर्वतों की ऊँचाई घटाती है। अनाच्छादित पदार्थ के अन्यत्र स्थान पर निरंतर जमा होने से संतुलन की स्थापना के लिये पर्वत फिर ऊपर को उठने लगते हैं। इसे विकास की अवस्था कहते हैं।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. होम्स के संवहन धारा सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना कीजिए।

उत्तर

होम्स का संवहनिक धारा सिद्धान्त
(Holme's Convection Current Theory)

प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री आर्थर होम्स ने सन् 1928-29 में रेडियोधर्मिता (Radio-activity) के आधार पर एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे संवाहनिक धारा सिद्धान्त के नाम से पुकारते हैं। यह बड़ा ही तर्कपूर्ण है तथा भू-पटल के प्रमुख भू-आकारों की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है। इसके अनुसार भू-पृष्ठ की रचना ऊपरी व निचली सियाल परतों से हुई है। इनके नीचे अध:स्तर है। ऊपरी सियाल परत व अध:स्तर महाद्वीपों व महासागरों के नीचे सर्वत्र फैले हुए हैं। अध:स्तर लगभग द्रवित अवस्था में है।

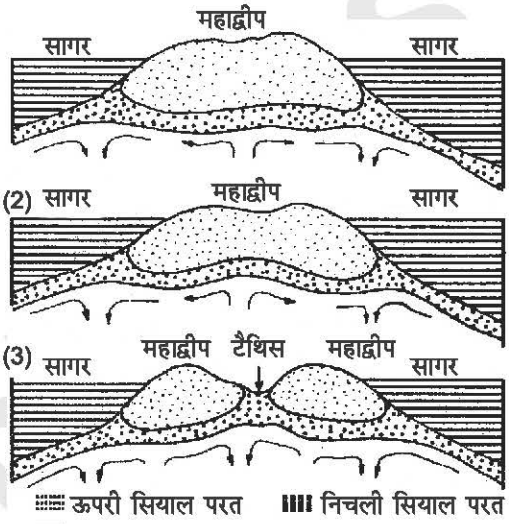

चित्र : संवहन धाराओं का प्रवाह

होम्स ने बताया कि भू-गर्भ की शैलों में पाए जाने वाले रेडियोधर्मी तत्त्व विखण्डित होकर पृथ्वी के भू-गर्भ में बहुत बड़ी मात्रा में ताप पैदा करते हैं। इन तत्त्वों में थोरियम, यूरेनियम, प्लुटोनियम, रेडॉन आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये तत्त्व भू-पटल में अधिक एकत्रित होते हैं, किन्तु ऊपरी सियाल परत से ताप विकिरण द्वारा बाहर निकल जाता है, जबकि अध:स्तर में ताप एकत्रित होता रहता है।

रेडियोधर्मिता के कारण भू-गर्भ के आन्तरिक भाग में इतना अधिक ताप पैदा हो जाता है कि अध:स्तर में संवहन धाराएँ चलना प्रारम्भ कर देती हैं। संवहन धाराएँ ही होम्स के सिद्धान्त का आधार हैं। वैसे पृथ्वी की ऊपरी सियाल परत से प्रत्येक वर्ग सेण्टीमीटर से एक वर्ष में 60 कैलोरी तापमान बाहर निकल जाता है।

भूमध्य रेखा पर अध:-स्तर की मोटाई ध्रुवों की अपेक्षा अधिक होती है, इसी कारण इस भाग में संवहन धाराएँ नीचे से ऊपर की ओर चलने लगती हैं और ध्रुवों पर ऊपर से नीचे की ओर चलना प्रारम्भ कर देती हैं। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर चलने वाली धाराएँ अपने भू-पृष्ठीय भाग को ध्रुवों की ओर ढकेलती हैं। वैसे नीचे से चलने वाली धाराओं की अपेक्षा ऊपर की धाराओं में गति कुछ मन्द रहती है। अत: ऊपरी भाग में दरार पड़ने की सम्भावना अधिक रहती है। उदाहरण के लिए, मैसोजोइक युग में 'टैथिस' सागर की उत्पत्ति उपर्युक्त क्रम के आधार पर ही भूमध्यरेखीय महाद्वीप की संवहन धाराओं द्वारा दो भागों में विभाजित हो जाने से हुई थी।

महाद्वीपों एवं महासागरों के नीचे बहने वाली संवहन धाराओं के ताप में काफी अन्तर मिलता है। महासागरों की अपेक्षा महाद्वीपों के नीचे बहने वाली संवहन धाराओं में ताप अधिक पाया जाता है। इसी प्रकार महासागरों के नीचे अध:स्तर में बहने वाली संवहन धाराओं का क्रम भी भिन्न होता है। महासागरों के मध्य से संवहन धाराएँ नीचे से ऊपर को उठा करती हैं तथा इनके किनारों पर यही धाराएँ ऊपर से नीचे को बहा करती हैं। अत: महासागरों के नीचे बहने वाली संवहन धाराएँ महाद्वीपों से ताप में भी कम और शक्ति में भी कम रहती हैं जब महाद्वीपों एवं महासागरों के नीचे से ये संवहन धाराएँ चलती हैं तो महाद्वीपीय मग्न तट पर नीचे की ओर चली जाती हैं। अत: महाद्वीपीय मग्न तट पर दो भिन्न दिशाओं से आकर मिलने वाली धाराएँ दबाव एवं सम्पीडन की क्रिया प्रारम्भ कर देती हैं। इससे शैलों में रूप परिवर्तन होकर घनत्व में वृद्धि (3.00 से 3.40) हो जाती है। अत: ये अवतलन भी करती हैं। होम्स ने यह भी बताया कि इन क्षेत्रों में शैलों के ऊपरी भाग में भू-अभिनतियों का भी उद्‌भव हो जाता है। महाद्वीपीय मग्न ढाल पर समस्त महाद्वीपीय तलछट जमा होती रहती है, जो कि अवतलन क्रिया में सहायक सिद्ध होती है। अत: सम्पीडन के कारण इसी एकत्रित तलछट में वलन पड़ जाते हैं, जो कि धीरे-धीरे पर्वतों का रूप धारण कर लेते हैं।

महाद्वीपों के नीचे से ऊपर को आने वाली संवहन धाराएँ जब दो भागों में विभाजित हो जाती हैं, तो वहाँ पर महाद्वीपीय भाग पतले होकर खण्डित हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के अध:स्तर में एकत्रित ऊष्मा खण्डित भागों से बाहर की ओर निकल जाती है। यहाँ एक लम्बे तथा संकरे सागर की उत्पत्ति होती है तथा इस सागर में जो महाद्वीप खण्डित हो गए हैं उनकी तलछट तथा मलवा जमा होता रहता है। इस प्रकार संवहन धारा का पूर्व निर्मित क्रम समाप्त हो जाता है तथा दो महाद्वीप बन जाते हैं। इन्हीं पृथक् महाद्वीपों के नीचे फिर से संवहन धाराओं का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। महाद्वीपों के नीचे से धाराएँ उन्हीं टूटे हुए महाद्वीपों को फिर से जोड़ देती हैं और वे बाद में एक हो जाते हैं। एक होते समय मध्य सागर में एकत्रित तलछट वलित पर्वतों के रूप में मुड़ जाती हैं और पर्वतों का जन्म हो जाता है।

निम्न तथ्य होम्स के सिद्धान्त के पक्ष में जाते हैं—

1. पैलियोजोइक युग के अन्तिम समय में पृथ्वी पर लारेंशिया तथा गोंडवाना नामक दो स्थल भाग थे जिनके मध्य टैथिस सागर स्थित था तथा शेष भाग पर प्रशान्त महासागर विस्तृत था। जब इन दोनों स्थल भागों के मध्य संवहन धाराएँ प्रारम्भ हुईं, तो इन धाराओं की गतिशीलता के कारण ही दोनों स्थल भाग, एक-दूसरे की ओर खिसके।
2. हिन्द महासागर की उत्पत्ति गोंडवाना स्थलखण्ड के विघटन के फलस्वरूप हुई। इस विघटन में प्रायद्वीप भारत उत्तर की ओर तथा ऑस्ट्रेलिया व अण्टार्कटिका महाद्वीप दक्षिण की ओर चले गए। दक्षिणी अमेरिका में एण्डीज का उत्थान हुआ।
3. अन्ध महासागर की उत्पत्ति लारेंशिया के विघटन से हुई। इन संवहन धाराओं के द्वारा स्थल का वहन हुआ जिसके फलस्वरूप पश्चिमी द्वीप समूह तथा रॉकी पर्वत की उत्पत्ति हुई।
4. गोंडवानालैण्ड के उत्तर की ओर बढ़ने से हिमालय की उत्पत्ति हुई। परीक्षणों के द्वारा पता चलता है कि हिमालय आज भी ऊँचे उठ रहे हैं।

आलोचना—वैसे तो होम्स का सिद्धान्त काफी लोकप्रिय हुआ, किन्तु इसमें कुछ दोष रह गए जिन्हें नकारा नहीं जा सकता है। प्रमुख आपत्तियाँ निम्न हैं—

1. यह उन बातों पर निर्भर है, जिनके विषय में हमारी जानकारी सीमित है।
2. गोंडवाना स्थलखण्ड में पाई जाने वाली ग्लोसोप्टरिस वनस्पति साइबेरिया, ईरान तथा अफगानिस्तान में भी पाई गई है लेकिन होम्स का सिद्धान्त इस वितरण की व्याख्या नहीं करता।
3. यदि हम ऐसा मान लें कि संवहन धाराएँ सक्रिय हैं, तो क्या अध:स्तर से उठने वाली संवहन धाराएँ वास्तव में इतनी तेज तथा प्रबल हैं कि वे बड़े-बड़े महाद्वीपों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहा ले जाती हैं और सम्पूर्ण महाद्वीप को विखण्डित कर देती हैं।
4. यदि संवहन धाराएँ सदैव सक्रिय रहती हैं, तो महाद्वीपों का विखण्डन एवं विस्थापन जारी रहना चाहिए।

प्र.2. महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डेली की विचारधारा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

डेली का महाद्वीपीय स्खलन सिद्धान्त
(Daly's Theory of Sliding Continents)

आर०ए० डेली ने 1926 में 'Out Mobile Earth' पुस्तक में प्रस्तुत महाद्वीपीय स्खलन सिद्धान्त द्वारा महाद्वीपों व महासागरों की उत्पत्ति बताई। उसने भी जीन्स व जैफ्रे की भाँति पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से मानी, जो कि प्रारम्भ में उष्ण वायव्य अवस्था में थी। धीरे-धीरे ठण्डी होती हुई पृथ्वी का धरातल भू-गर्भ में अव्यवस्था के कारण ऊँचे-नीचे भागों में बदला। वायव्य अवस्था से तरल अवस्था में आते समय ही विभिन्न घनत्व वाले आन्तरिक पदार्थ अपने घनत्व के अनुसार कहीं अधिक और कहीं कम एकत्रित हो गए। तभी से पृथ्वी का भौतिक स्वरूप अनियमित अवस्था में ऊँचा-नीचा हो गया। डेली ने भी डार्विन का अनुकरण करते हुए चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रशान्त महासागर से स्वीकार की है। उसने माना कि विश्व में सर्वप्रथम एक ही महाद्वीप था, जिसको पैंजिया तथा एक ही महासागर था जिसको पेन्थालसा के नाम से पुकारा गया। महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई।

डेली ने अपने सिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण को मुख्य आधार माना। इसके कारण ही महाद्वीप अलग-अलग भागों में बँट गए तथा जो भाग बेसाल्ट के द्वारा निर्मित था वह नीचे की ओर अध:-स्तर में धंस गया। महाद्वीप से वाहित मलवा उसी महाद्वीप के दूसरे किनारों पर एकत्रित होता रहता है तथा धीरे-धीरे भू-अभिनति का आविर्भाव करता है। तलछट के अधिक जमाव की स्थिति में महाद्वीपों पर क्षैतिजिक तनाव के फलस्वरूप गुम्बद की आकृति बन जाती है। तलछटीय पदार्थ का जमाव स्थान गुम्बदीय किनारे होते हैं। इस तरह गुम्बद धीरे-धीरे काफी बड़ा होने से भू-अभिनतियों पर दबाव अधिक पड़ने लगता है। अत्यधिक दबाव के कारण भू-अभिनतियों के तल टूट जाते हैं। उस समय गुम्बद आधार रहित हो जाता है तथा इसका अधिकांश भाग भू-अभिनतियों

में ही समा जाता है। इस अवस्था में भू-अभिनति का आन्तरिक भाग सम्पीडन करने लगता है तथा आन्तरिक भाग में से कुछ तलछट मुड़कर बाहर निकल आता है। इस तरह महाद्वीपों के टूटने, दबने, निकलने आदि के द्वारा पर्वत निर्माणकारी क्रिया को समर्थन मिलता है। इसी कारण डेली के सिद्धान्त को काफी मान्यता प्राप्त हुई।

सम्पूर्ण भूखण्ड अनेक हलचलों के उपरान्त हजारों वर्षों में वर्तमान स्थिति को ग्रहण कर पाया है। बताया गया कि सर्वप्रथम पैंजिया के टूटने से दोनों ध्रुवों के पास दो-दो स्थल भाग तथा भूमध्य रेखा के पास एक अन्य स्थल भाग की उत्पत्ति हुई। इन तीनों स्थल भागों के बीच दो लम्बाकार तथा उथले सागरों का जन्म हुआ। एक जो उत्तरी गोलार्द्ध में बना टेथिस के नाम से जाना गया, लेकिन दूसरे सागर का नाम नहीं दिया गया। पृथ्वी के शेष भाग के चारों ओर एक सागर लहराता था, जिसको पेन्थालसा नाम दिया गया। इसका छोटा रूप आज प्रशान्त महासागर है।

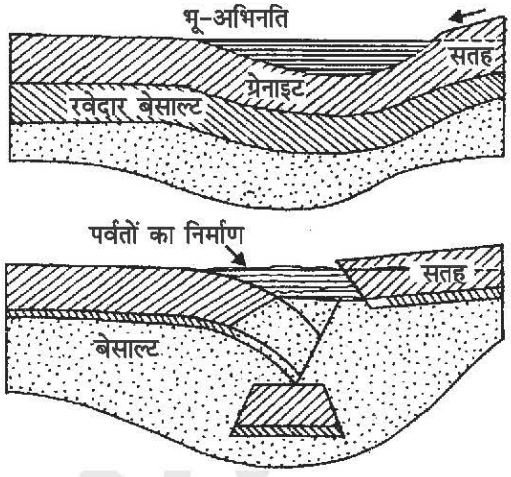

चित्र : डेली का महाद्वीपीय स्खलन

निम्न तथ्य डेली के सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं—

1. प्रशान्त महासागर की रचना अन्य महासागरों की अपेक्षा भिन्न है। इसका समाधान प्रस्तुत करने में डेली ने काफी सफलता प्राप्त की।
2. एशिया के पूर्व में स्थित पर्वत श्रेणियों की उत्पत्ति भू-अभिनतियों से बतलाई है।
3. मध्य अक्षांशों में स्थित टेथिस सागर के स्थान पर हिमालय तथा अल्पाइन पर्वत श्रेणियों की उत्पत्ति भू-अभिनतियों के भर जाने का ही प्रतिफल है।
4. भू-वैज्ञानिकों ने परीक्षण के उपरान्त अटलाण्टिक, हिन्द तथा आर्कटिक महासागर में तनाव के प्रमाण प्राप्त किए और बताया कि निकटवर्ती स्थल भागों पर गुम्बद के आकार के तनाव पड़े और वे टूटे।
5. प्रारम्भ में स्थल भागों का विभाजन नहीं हुआ था तथा ये परस्पर जुड़े हुए थे। कार्बनिफरस युग में जो हिम प्रवाह के चिह्न दूरस्थ महाद्वीपों पर पाये गए हैं, उनसे प्रतीत होता है कि गोंडवाना के कुछ खण्डों का जरूर स्खलन हुआ होगा।

आपत्तियाँ—डेली के सिद्धान्त के प्रति निम्न आपत्तियाँ उठाई गईं—

1. भू-पटल विघटन के लिए बताई गयी शक्तियों की यहाँ कोई व्याख्या नहीं मिलती है।
2. स्थलीय गुम्बदों पर विघटनकारी शक्तियों के प्रभाव के बारे में कुछ नहीं बताया गया।
3. अधिक घनत्व के अध:स्तर में कम घनत्व वाले सियाल खण्डों का स्खलन स्वीकार नहीं किया जा सकता है। भूकंपीय प्रमाण डेली की कल्पना के विरोध में हैं।

प्र.3. भू-सन्तुलन या समस्थिति के सम्बन्ध में प्राट एवं एयरी की अवधारणाओं की तुलना का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्राट की संकल्पना (Pratt Hypothesis)

ए० प्राट ने 1869 में भू-सन्तुलन सम्बन्धी संकल्पना प्रस्तुत की। उसके अनुसार ऊँचाई एवं घनत्व में उल्टा अनुपात होता है—ऊँचा स्तम्भ कम घनत्व, नीचा स्तम्भ अधिक घनत्व। (Bigger the column lesser the density, smaller the column, greater the density) अर्थात् पर्वतों का घनत्व पठारों से कम, पठारों का मैदानों से कम तथा मैदानों का समुद्र तली से कम होता है। भू-गर्भ में एक क्षतिपूर्ति तल (level of compensation) होता है, जिसके ऊपर स्थित विभिन्न स्थलरूपों के घनत्व में अंतर

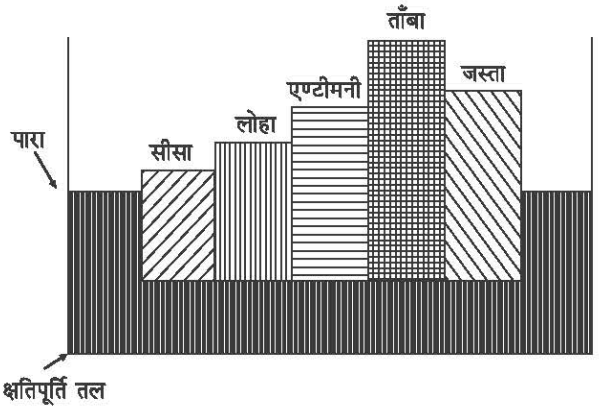

चित्र : प्राट का सन्तुलन सिद्धान्त

होता है, किन्तु इसके नीचे घनत्व समान रहता है। प्राट ने इसे एक प्रयोग द्वारा समझाया कि यदि पारे से भरे हुए एक पात्र में भिन्न-भिन्न धातुओं की समान चौड़ाई व भार वाली छड़ों को डुबोया जाये तो वे भिन्न-भिन्न ऊँचाई की होते हुए भी एक निश्चित तल की सीध में स्थित हो जाती हैं। इसी प्रकार, पृथ्वी पर स्थित पर्वत, पठार, मैदान भू-गर्भ में एक तल पर स्थिर हो जाते हैं, जिसके नीचे समान भार रहता है अर्थात् ऊपर घनत्व में भिन्नता, किन्तु गहराई में समानता से संतुलन बना रहता है।

एयरी की संकल्पना
(Airy Hypothesis)

जार्ज एयरी ने 1859 में आर्किमिडिज के प्लवनशीलता सिद्धान्त के आधार पर भू-सन्तुलन विषयक अपने विचार प्रस्तुत किए। उसने सियाल की परत को सिमा में कुछ डूबकर तैरता हुआ माना। उसने बताया कि जिस प्रकार प्लावी हिमखण्ड का अधिक भाग सदैव पानी में डूबा रहता है, फिर भी वह पानी में तैरता रहता है। इसी भाँति विशाल पर्वतों की अधिक ऊँचाई का सन्तुलन भू-गर्भ में अधिक गहराई तक एवं पठार व मैदानों का सन्तुलन अपेक्षतया कम गहराई पर होता है। एयरी ने बताया कि पृथ्वी की सतह पर पर्वत, पठार व मैदान के घनत्व में प्राट की भाँति अन्तर नहीं पाया जाता है। सियाल से निर्मित समस्त स्थल रूपों का घनत्व समान होता है। इसके लिए उसने भी समान घनत्व के अर्थात् लकड़ी के समान मोटाई के अलग-अलग ऊँचाई वाले टुकड़े लिए एवं उन्हें पानी में डुबोया। इसके पश्चात् एयरी ने अपनी बात को प्राट की भाँति सिद्ध करने के लिए एक ही धातु ताँबे की समान मोटाई की, किन्तु भिन्न-भिन्न ऊँचाई की छड़ें लीं तथा उन्हें पारे के पात्र में डुबोया। दोनों प्रयोग करने का उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना रहा कि भूतल पर कोई भी भाग चाहे वह हिमालय पर्वत या एण्डीज पर्वत हो या गंगा के मैदान, अमेजन बेसिन हो, इनके घनत्व में मोटे तौर पर समानता रहती है।

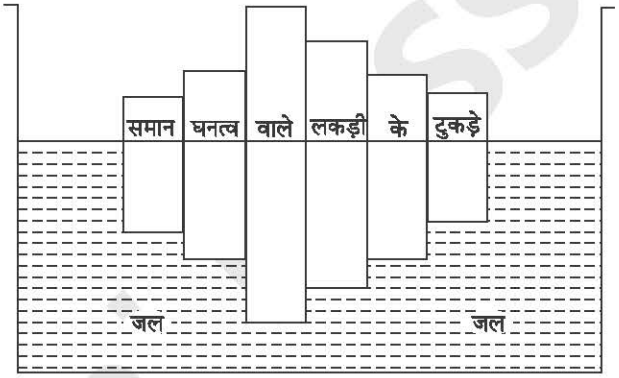

चित्र : एयरी का लकड़ी के टुकड़ों द्वारा सन्तुलन परीक्षण

भूपृष्ठ पर जो भाग जितना ऊँचा है वह उतनी ही अधिक गहराई तक भू-गर्भ में स्थानीय रूप से सिमा में डूबा हुआ है। प्राट की तुलना में एयरी के मत को अधिक मान्यता मिली, किन्तु यह भी दोष मुक्त नहीं है। उसके अनुसार हिमालय की जड़ या मूल भूपटल के नीचे नौ गुना गहरी होगी, लेकिन इतनी गहराई पर तो उच्च तापमान के कारण जड़ द्रवित हो जाएगा। यह बात भ्रामक लगती है। एयरी ने हिमालय के निकट कल्याण में आई आकर्षण सम्बन्धी त्रुटि या विसंगति को भी समझाने का प्रयास किया। उसने बताया कि हिमालय का जो भाग ऊपर दिखाई देता है, वही भाग आकर्षण शक्ति का प्रभाव डालता है, जबकि अधिकांश सिमा या अध:स्तर में डूबा भाग तो प्रभावहीन ही रहता है। इसी कारण पेण्डुलम पर विशालता का पूरा प्रभाव नहीं पड़ सका। उसने आर्कमिडीज के सिद्धान्त को अपनाते हुए समझाया कि द्रव में डुबाई गई वस्तु अपने नीचे के द्रव्यमान को बराबर मात्रा में हटाती है।

अर्थात "समस्त महाद्वीपीय भाग एक से घनत्व की शैलों से निर्मित है, किन्तु उनकी ऊँचाई में भिन्नता के अनुसार ही उनकी गहराई में भी भिन्नता पाई जाती है।" एयरी ने आगे चलकर यह भी स्वीकार किया कि अधिक घनत्व की चट्टानें कम घनत्व की चट्टानों की तुलना में अधिक आकर्षण शक्ति की सामर्थ्य रखती हैं।

प्र.4. भूकम्प क्या है? भूकम्प की उत्पत्ति के कारणों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।

उत्तर

भूकम्प
(Earthquake)

भूकम्प को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। होम्स के अनुसार, "भूगर्मिक शैलों के विक्षोभ के स्रोत से उठने वाले लहरदार कम्पन को भूकम्प कहते हैं।" प्रेस एवं सीवर के शब्दों में, "भूकम्प पृथ्वी सतह की तीव्र दोलयमान गति है, जो अकस्मात एक भ्रंश के सहारे विकिरित हुई भूकम्पीय लहरों के गुजरने से उत्पन्न होती है।" भूगोल परिभाषा कोश के अनुसार, "भूपर्पटी में शैलों की एक तीव्र अभिज्ञेय कम्पन-गति एवं समायोजन, जिस परिणामस्वरूप प्रत्यास्थ घात तरंगें उत्पन्न होती है और चारों ओर सभी दिशाओं में फैलती है, भूकम्प कहते हैं।" सारांश रूप में कह सकते हैं कि भूगर्भिक हलचलों के कारण भूपटल पर होने वाली कम्पन ही भूकम्प है।

भूकम्प की उत्पत्ति के कारण (Causes of Earthquake's Origin)

भूकम्प प्राय: पृथ्वी के कमजोर एवं अस्थिर भूपटल के सहारे अधिक आते हैं किन्तु विगत वर्षों में स्थिर एवं दृढ़ भूखण्डों पर आए भूकम्पों ने इस तथ्य को नकार दिया। विभिन्न भूकम्प क्षेत्रों के अध्ययन तथा भूकम्प विज्ञान के साक्ष्यों के आधार पर भूकम्प आने के निम्न कारण बताए जा सकते हैं—

1. **प्लेट विवर्तनिकी**—विवर्तनिक क्रियाएं ही भूकम्पों का मुख्य कारण है। अधिकांश भूकम्पीय घटनाएँ विभिन्न प्लेटों के किनारों के सहारे घटित होती हैं। प्लेट विवर्तनिक सिद्धान्त के अनुसार स्थलमण्डल अनेक कठोर व दृढ़ प्लेटों से निर्मित है। प्लेटों के विपरीत दिशा में संचलन करने पर दाब मुक्ति होने पर संरक्षी किनारों पर रूपान्तर भ्रंश बनते हैं व भूकम्प आते हैं, जो कि प्राय: कम गहराई वाले होते हैं। दो प्लेटें आमने-सामने गतिशील होने पर विनाशात्मक किनारे टकराते हैं, इससे अधिक गहराई वाले भूकम्प आते हैं। भारत में लातूर व उस्मानाबाद तथा भुज में आए भूकम्प विवर्तनिक घटनाओं का परिणाम थे। भुज का भयंकर भूकम्प भूपृष्ठ से 15 किमी से भी कम गहराई पर भारतीय प्लेट तथा यूरेशिया प्लेट के टकराने के कारण आया था।
2. **ज्वालामुखी क्रिया**—अधिकांश भूकम्प ज्वालामुखी पेटियों में आते हैं। ज्वालामुखी क्रिया एवं भूकम्प का आपस में गहरा सम्बन्ध है। ज्वालामुखी उद्‌गार के साथ प्राय: भूकम्प अवश्य आते हैं। ज्वालामुखी क्रिया के दौरान जब उच्च दाब वाली जलवाष्प एवं गैसें भू-गर्भ से बाहर आने का प्रयास करती हैं तो धरातल पर कम्पन होता है। ऐसे क्षेत्रों में ज्वालामुखी क्रिया के साथ अथवा ज्वालामुखी उद्‌गार के बिना भी भूकम्प आते रहते हैं। एटना, क्राकाटोवा, विसूवियस आदि ज्वालामुखी विस्फोटों के समय विनाशकारी भूकम्प आए थे।
3. **जलवाष्प एवं गैसों की क्रियाशीलता**—जब दरारों या अन्य किसी कारण से सतही जल पृथ्वी की गहराइयों तक चला जाता है, तो वह अत्यधिक तापमान के कारण जलवाष्प एवं गैसों में बदल जाता है। ऐसी उच्च दबाव वाली वाष्प मिश्रित गैसें पृथ्वी की सतह की ओर आने का मार्ग ढूंढती हैं। फलस्वरूप भूपटल के नीचे धक्के लगने लगते हैं तथा भूतल पर हल्के भूकम्प आते हैं।
4. **भू-सन्तुलन की अव्यवस्था**—पृथ्वी के अधिकांश भागों में भू-सन्तुलन सम्बन्धी थोड़ी बहुत अव्यवस्था पाई जाती है, किन्तु कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ कि गगनचुम्बी पर्वत एवं निचले भाग या गहरे सागर पास-पास स्थित हैं। ऐसे भागों में सन्तुलन की अव्यवस्था सबसे अधिक पाई जाती है। इसी कारण वहाँ पुन: संतुलन की स्थिति स्थापित करने की दिशा में भू-गर्भ में आन्तरिक शक्तियों द्वारा एवं भूतल पर समतल स्थापक शक्तियों द्वारा निरन्तर प्रभावी क्रियाएँ होती रहती हैं। इससे कई बार भू-सतह पर भूकम्प भी आ सकते हैं। जापान में आने वाले अधिकांश भूकम्प भू-सन्तुलन में ऐसी अव्यवस्था एवं परिवर्तन का ही परिणाम माने जाते हैं।
5. **रीड का 'चट्टानों का लचीलापन' सिद्धान्त**—प्रत्येक चट्टान में थोड़ी मात्रा में धीमी गति से होने वाले खिंचाव, भिंचाव अथवा दबाव को सहन करने की क्षमता होती है। इसी आधार पर डॉ. रीड ने 'चट्टानों में प्रत्यास्थ पुनश्चलन सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। इसके अनुसार जब चट्टानों पर क्षमता से अधिक तनाव या दबाव की स्थिति आ जाती है, तो चट्टानें सहन नहीं कर पाती तथा टूट जाती हैं। यही नहीं ऐसी टूटी हुई

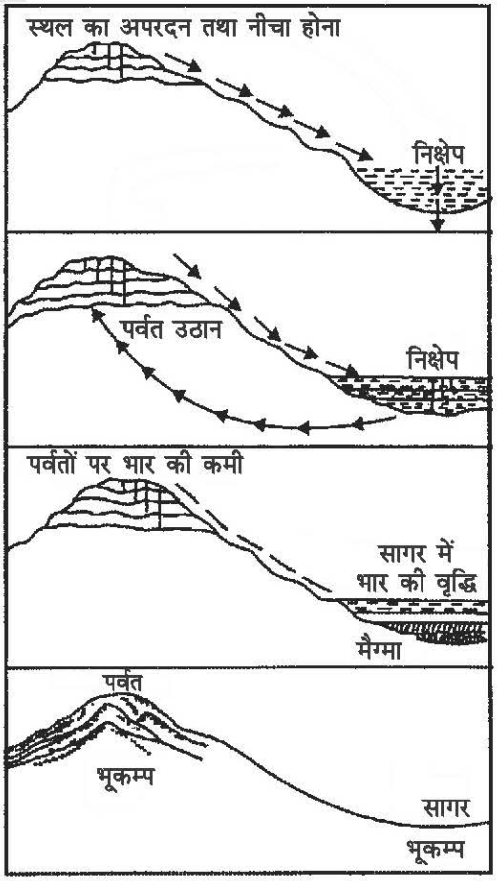

चित्र : भू-असन्तुलन के कारण भूकम्प

चट्टानें पुन: खिंचकर अपनी पुरानी स्थिति में भी आने लगती हैं। लचीलेपन के प्रभाव से ही धीमी गति के दबाव व भिंचाव को चट्टानें सहन करके दबती या खिंचती रहती हैं। पर्वतों में परिवलन एवं ग्रीवा खण्डों में चट्टानों का वलन इसी का परिणाम है। चट्टानों की इस क्रिया के साथ पुन: अपनी मूल स्थिति में सिमट जाने से वहाँ कुछ स्थान खाली हो सकता है। इससे भी पृथ्वी की सतह पर कहीं-कहीं भूकम्प आते हैं।

6. **जलीय भार**—कभी-कभी किसी विषम धरातलीय प्रदेश में जहाँ कभी भ्रंश एवं तेज सम्पीडन क्रिया का प्रभाव रहा हो, वहाँ यदि विशाल बाँध का निर्माण किया जाए तो ऐसे क्षेत्र में स्थानीय जलीय भार की दशा में भूकम्प भी आ सकता है। प्राकृतिक झीलें या तालाब सहज प्राकृतिक क्रिया से बनते हैं, अत: वहाँ ऐसे भूकम्प नहीं आते। बाँध निर्माण के समय के भयंकर विस्फोट, पूर्ववर्ती भ्रंश के किनारों से जल का भू-गर्भ में प्रवेश एवं भारी मात्रा में एकत्रित जल का भार सभी क्रियाएँ एक साथ मिलकर वहाँ भूकम्प की स्थिति पैदा कर देती हैं। ऐसी क्रिया से भूकम्प आता ही है, इस पर विद्वानों में मतभेद हैं। भारत में कोयना का भूकम्प, संयुक्त राज्य में कोलोरेडो नदी पर बने मीड बाँध तथा झील क्षेत्र का भूकम्प एवं नील पर आस्वान बाँध बनाने के पश्चात् नदी घाटी में आया भूकम्प, ऐसा ही सोचने को बाध्य करते हैं। कोयना एवं आस्वान बाँध के क्षेत्र पृथ्वी के प्राचीन एवं स्थिर स्थलखण्ड है, जहाँ कि इसके पूर्व हजारों वर्षों में भी भूकम्प के प्रमाण नहीं मिलते हैं।
7. **भूपटल का संकुचन**—अनेक विद्वानों के अनुसार विकिरण के कारण पृथ्वी का तापमान धीरे-धीरे घट रहा है। प्रारम्भ में पृथ्वी आग के गोले के समान थी। यद्यपि भूपटल शीतल हो गया है, किन्तु आन्तरिक भाग अब भी तप्त अवस्था में है। निरन्तर ताप में ह्रास के कारण उसकी ऊपरी परत संकुचित हो रही है। सिकुड़ने से शैलों में भिंचाव उत्पन्न होता है। तीव्रता से संकुचन होने पर भूकम्प आते हैं। आधुनिक विद्वानों ने भू-गर्भ के संकुचन पर आपत्ति करते हुए बताया कि रेडियो सक्रिय पदार्थों के विखण्डन के कारण भू-गर्भ में निरन्तर ताप की वृद्धि होती रहती है।
8. **अन्य कारण**—उपर्युक्त कारणों के अलावा भूस्खलन, हिमधाव (avalanche), समुद्रतटीय भागों में भृगुओं के टूटने, कन्दराओं की छतों के ढहने आदि से भी लघु प्रभाव वाले भूकम्प आते हैं। प्राकृतिक कारणों के अलावा आणविक विस्फोट, खनन क्षेत्रों में विस्फोटकों के प्रयोग व गहरे छिद्रण आदि मानवीय कारकों से भी स्थानीय प्रभाव वाले भूकम्प उत्पन्न होते हैं।

प्र.5. भूकम्प कितने प्रकार के होते हैं? भूकम्प के विश्व वितरण की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर

भूकम्प के प्रकार
(Types of Earthquakes)

भूकम्प को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

A. मानवीय क्रियाओं से उत्पन्न भूकम्प—इन्हें बनावटी या कृत्रिम भूकम्प भी कहते हैं। ऐसे भूकम्प स्थानीय प्रभाव वाले हल्के धक्कों की भाँति होते हैं। उत्खनन के समय भारी विस्फोट करने पर निकटवर्ती भाग कुछ क्षणों के लिए हल्का कम्पन महसूस कर सकते हैं। भूमिगत आण्विक परीक्षण तथा बम विस्फोट से भी भूकम्प जैसा आभास हो सकता है।

B. प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न भूकम्प—सामान्यत: प्राकृतिक कारणों से आने वाले भूकम्प को ही भूकम्प कहते हैं। विविध प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं से भूतल पर कम्पन होने लगता है। इस आधार पर भूकम्प चार प्रकार के होते हैं—

1. **ज्वालामुखी भूकम्प** (Volcanic Earthquakes)—जब किसी स्थल पर केन्द्रीय उद्गार द्वारा ज्वालामुखी विस्फोट होता है तो उस समय तेज गति से गैस व लावा निकलने से वहाँ भूकम्प आ सकता है। इसी भाँति मैग्मा एवं उससे सम्बन्धित गैसें जब तेज गति से दौड़ती हुई चट्टानों पर विशेष दवाव व तनाव डालती हैं तो इसके प्रभाव से भूतल पर भूकम्प आ सकता है। सामान्यत: ऐसे भूकम्पों का प्रभाव 200 से 300 वर्ग किमी क्षेत्र में रहता है, किन्तु क्राकाटोआ जैसे विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प तरंगों एवं समुद्र में उठी ज्वारीय लहरों का प्रभाव हजारों किमी की दूरी तक महसूस किया गया।
2. **विवर्तनिक भूकम्प** (Tectonic Earthquakes)—इन्हें संरचनात्मक भूकम्प भी कहते हैं। ये भू-गर्भ की विवर्तनिक हलचलों के कारण उत्पन्न होते हैं। इनके प्रभाव से 5 से 20 किमी के मध्य चट्टानों में सम्पीडन एवं तनाव की दशाएँ कार्य करती रहती हैं। चट्टानें अपने मूल स्थान से ऊपर-नीचे अथवा क्षैतिज रूप से ही इधर-उधर होने लगती हैं। इससे भू-गर्भ एवं भूतल में भ्रंश, भ्रंश घाटी तथा ब्लॉक पर्वत बनते हैं। पेरू में क्वीचेस, जापान में नियोदानी आदि ऐसे ही भूकम्प थे।

3. **पातालीय भूकम्प** (Plutonic Earthquakes)—जब भूकम्प की उत्पत्ति भू-गर्भ में अधिक गहराई पर हो तो उसे पातालीय भूकम्प कहते हैं। सामान्यत: ऐसे भूकम्प का मूल 300 से 700 किमी की गहराई पर होता है। ऐसे भूकम्प की उत्पत्ति एवं विशेष शक्तियों के बारे में बहुत कम ज्ञान है। स्पेन के सियेरानेवादा क्षेत्र में आए भूकम्प का उद्गम भूपटल से 630 किमी गहराई पर था।
4. **भू-सन्तुलन से सम्बन्धित भूकम्प** (Isostic Earthquakes)—पृथ्वी के कमजोर भागों में जैसे परिप्रशान्त प्रदेश एवं अल्पाइन क्रम के पर्वतीय प्रदेशों में भू-सन्तुलन अव्यवस्थित रहने से इस प्रकार के भूकम्प आते रहते हैं।

गुटेनबर्ग, ओल्डहम आदि ने गहराई के अनुसार भूकम्पों को तीन भागों में बाँटा है—

(i) **उथले भूकम्प** (Shallow Earthquakes)—जिन भूकम्पों की उत्पत्ति का आधार या मूल 30 किमी तक की गहराई में रहता है, उन्हें उथले भूकम्प कहते हैं। इससे अधिकेन्द्र से कुछ किमी की परिधि में ही सबसे अधिक नुकसान होता है।

(ii) **मध्यम गहराई वाले भूकम्प** (Earthquakes of Medium Depth)—इन भूकम्पों की उत्पत्ति का मूल 30 से 300 किमी के मध्य रहता है। ऐसे भूकम्प सामान्यत: भू-विवर्तनिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इनसे अधिकेन्द्र से अधिक दूर के क्षेत्रों में कमजोर चट्टानी क्षेत्रों में अधिक नुकसान होता है।

(iii) **पातालीय भूकम्प** (Plutonic Earthquakes)—इन भूकम्पों का मूल 300 से 700 किमी के बीच रहता है। ऐसे भूकम्पों की उत्पत्ति का कारण अभी अज्ञात है।

प्राकृतिक स्थिति के अनुसार भूकम्प दो प्रकार के हैं—

(i) **स्थलीय भूकम्प**—स्थलमण्डल पर आने वाले भूकम्प को स्थलीय भूकम्प कहते हैं। प्राय: अल्पाइन पर्वतीय भागों में आने वाले ऐसे भूकम्प अधिक घातक रहे हैं।

(ii) **सामुद्रिक भूकम्प**—ऐसे भूकम्पों की उत्पत्ति महासागरीय क्षेत्र, अपतटीय एवं तटीय भागों के आस-पास होती है। अपतटीय एवं तटीय भागों में उत्पन्न होने वाले भूकम्पों का सीधा प्रभाव द्वीपों एवं तटों पर अधिक पड़ता है। अकेले जापान में ही प्रतिदिन 10 से 12 भूकम्प अंकित किए जाते हैं। इसी कारण इसे 'भूकम्पों का देश' भी कहते हैं। समुद्री भागों में उत्पन्न भूकम्पों के प्रभाव से समुद्र में बहुत ऊँची (10 से 40 मीटर) एवं महाविनाशकारी लहरें एक साथ कई किमी की लम्बाई में चलती हैं। इनका द्वीपों व तटों पर प्रभाव प्रलयकारी रहता है। ऐसी घातक लहरों को जापान में सुनामी (Tsunami) कहा जाता है।

भूकम्पों का विश्व वितरण
(World Distribution of Earthquakes)

पृथ्वी की सतह पर भूकम्पों के वितरण एवं ज्वालामुखी पर्वतों के विश्व वितरण में काफी समानता पाई जाती है, क्योंकि दोनों ही आकस्मिक घटनाएँ हैं एवं दोनों का सम्बन्ध भू-गर्भ में होने वाली हलचलों से है। भूपृष्ठ पर भूकम्पों का वितरण पेटियों के रूप में पाया जाता है। भूकम्प की मुख्य पेटियाँ निम्न हैं—

1. परि-प्रशान्त पेटी (Circum Pacific Belt),
2. मध्य-अटलाण्टिक पेटी (Mid-Atlantic Belt),
3. मध्य-महाद्वीपीय पेटी (Mid-Continental Belt),
4. अन्य क्षेत्र (Other Areas)।

1. **परि-प्रशान्त पेटी** (Circum Pacific Belt)—इस पेटी का विस्तार प्रशान्त महासागर के किनारों के निकट चारों ओर है। यह पेटी एवं ज्वालामुखियों की 'आग की अँगूठी' दोनों ही सम-क्षेत्रीय हैं। विश्व के दो-तिहाई से अधिक भूकम्प इसी पेटी में आते हैं। यह एशिया के कमचटका प्रायद्वीप से पूर्वी एशिया के द्वीपों की चापाकार शृंखला (क्यूराइल, जापान, ताइवान, फिलीपीन्स व हिन्देशिया के द्वीप), मलेशिया, पूर्वी ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड तक फैली है। जापान में प्रतिदिन 4 से 5 भूकम्प के धक्के महसूस किए जाते हैं।
2. **मध्य-अटलाण्टिक पेटी** (Mid-Atlantic Belt)—अटलाण्टिक महासागर में पश्चिमी द्वीप समूह से लेकर भूमध्य सागर के तटीय भाग तक इस पेटी में सम्मिलित हैं। अपेक्षत: कम विस्तार होते हुए भी आबाद भागों में फैली होने से इसका

विशेष महत्व है। मध्य-अटलाण्टिक श्रेणी के द्वीपों तक इसका विस्तार है। इस पेटी की ही एक शाखा नील घाटी से होकर अफ्रीका के पूर्वी भाग में महान दरार घाटी के रूप में फैली है।

3. **मध्य-महाद्वीपीय पेटी** (Mid-Continental Belt)—यह भूमध्यसागरीय पेटी का ही पूर्वी विस्तार है। इसमें आल्पस, काकेशस, एलबुर्ज, हिन्दुकुश व ऊँचे पठार, हिमालय एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के कमजोर भाग सम्मिलित हैं। यहाँ पर कभी-कभी विशेष नुकसान पहुँचाने वाले भूकम्प आते हैं।
4. **अन्य बिखरे क्षेत्र** (Other Areas)—इसके अतिरिक्त विश्व के कुछ बिखरे क्षेत्रों में भी अचानक भूकम्प आते रहते हैं।

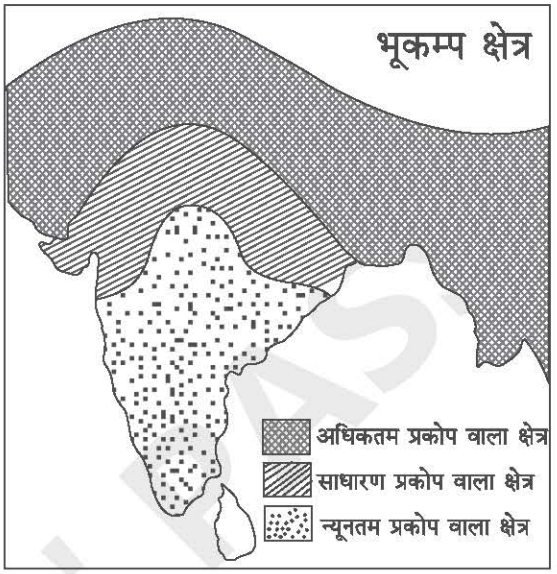

चित्र : भारत की भूकम्प पेटियाँ

भारत की भूकम्प पेटियाँ (Earthquake Belts of India)

भारत की भूकम्प पेटी मध्य-महाद्वीपीय पेटी का ही हिस्सा है। भूकम्पों के प्रभावों के अनुसार देश को तीन क्षेत्रों में बाँटा जाता है—

1. **हिमालय पर्वतीय पट्टी**—यह विनाशकारी भूकम्पों की पट्टी है। इसका विस्तार सम्पूर्ण कराकोरम एवं हिमालय के सहारे-सहारे कश्मीर से म्यांमार की सीमा तक है।
2. **मैदानी पट्टी**—यह हिमालय के दक्षिण में तथा प्रायद्वीपीय भारत के उत्तर में सम्पूर्ण सिन्धु, गंगा व ब्रह्मपुत्र के मैदानों में फैली है। यह भाग भू-वैज्ञानिक दृष्टि से ढीले व असंगठित अवसादों से बना है, अत: यहाँ भी भूकम्प आते रहते हैं। घना आबाद क्षेत्र होने से ऐसे भूकम्पों से नुकसान भी अधिक होता है।
3. **प्रायद्वीपीय पट्टी**—सम्पूर्ण दक्षिण का पठार इसमें सम्मिलित है। एक स्थिर एवं दृढ़ भूखण्ड होने के कारण यहाँ भूकम्पों का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम होता है। कोयना, लातूर तथा भुज के भूकम्पों ने इसके भूकम्प मुक्त क्षेत्र होने के भ्रम को तोड़ दिया है।

प्र.6. ज्वालामुखी से आपका क्या अभिप्राय है? ज्वालामुखी के विभिन्न प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

ज्वालामुखी (Volcano)

आन्तरिक शक्तियों में भूकम्प की भाँति ज्वालामुखी की घटना भी इतनी आकस्मिक एवं शीघ्र घटित होती है कि उसका पृथ्वी की सतह पर तत्काल विनाशकारी प्रभाव दिखाई देता है। प्रकृति के इस भयावह रूप को प्राचीन काल से ही मानव दैवी प्रकोप मानकर पूजा करता आया है। जापान में फ्यूजीयामा, कीनिया में किलीमंजारो व भारत में ज्वालादेवी को आज भी पवित्र मानकर पूजा जाता है। मोटे तौर पर पृथ्वी के भीतरी भाग से दहकते हुए पदार्थ जिस छिद्र या दरार विशेष से निकलते हैं उसे 'ज्वालामुखी' कहते हैं एवं उससे बनने वाली आकृति या पहाड़ को 'ज्वालामुखी शंकु' कहते हैं। ज्वालामुखी से लावा, शिलाखण्ड, अनेक प्रकार की जलती हुई गैसें, राख एवं भारी मात्रा में जलवाष्प तेजी से बाहर आती हैं। ऐसे सभी पदार्थ जिन विशेष शक्तियों एवं घटनाओं के अधीन भू-गर्भ से भूतल की ओर आते हैं, उन सबको एक साथ 'ज्वालामुखी क्रिया' (Vulcanicity or Volcanism) कहते हैं। बुलरिज एवं मोर्गन के अनुसार, "ज्वालामुखी वह क्रिया है, जिसके अन्तर्गत भू-गर्भ में गैस एवं लावा की उत्पत्ति से लेकर उनके धरातल पर प्रकट होने की समस्त क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।"

ज्वालामुखी का वर्गीकरण (Classification of Volcano)

ज्वालामुखी को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(अ) क्रियाशीलता के अनुसार—क्रियाशीलता या उद्गार की सक्रियता के अनुसार ज्वालामुखी निम्न प्रकार के हैं—

1. **जाग्रत ज्वालामुखी** (Active Volcanoes)—जिन ज्वालामुखियों से सदैव लावा एवं अन्य पदार्थों का उद्गार होता रहा है, उन्हें जाग्रत ज्वालामुखी कहते हैं। पृथ्वी पर लगभग 1500 सक्रिय ज्वालामुखी हैं। हवाई द्वीप का मोना लोआ, मोनाकी एवं भूमध्य सागर का स्ट्रॉम्बोली ऐसे ही ज्वालामुखी हैं। मोना लोआ सबसे बड़ा जाग्रत ज्वालामुखी है।
2. **सुषुप्त ज्वालामुखी** (Dormant Volcanoes)—जिस ज्वालामुखी में दीर्घकाल से उद्गार नहीं हुआ है एवं निकट भविष्य में उद्गार की कम सम्भावना है, उसे सुषुप्त ज्वालामुखी कहते हैं, किन्तु अतीत में उसके पुन:उद्गार के प्रमाण मिलने के कारण इनमें उद्गार की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। ऐसे ज्वालामुखी लम्बी अवधि तक शान्त रहने के बाद अचानक पुन: सक्रिय हो जाते हैं जिससे जन-धन की अपार हानि होती है। दीर्घकाल तक शान्त रहने के कारण इनके आसपास बस्तियाँ भी बस जाती हैं। विसुवियस (इटली) ऐसा ही ज्वालामुखी है, जो 79, 1631, 1779, 1794, 1803, 1872, 1906, 1927, 1944 में सक्रिय हुआ।
3. **शान्त या मृत ज्वालामुखी** (Extinct Volcanoes)—जिस ज्वालामुखी के उद्गार के हजारों वर्षों के पश्चात् भी पुन:उद्गार के कोई प्रमाण नहीं मिलते एवं उसके क्रेटर पर जैव जगत मिलता है, ऐसे ज्वालामुखी को शान्त ज्वालामुखी कहते हैं। पाकिस्तान में कोह सुल्तान तथा म्यांमार में पोपा ऐसे ही ज्वालामुखी हैं।

(ब) उद्गार के अनुसार—उद्गार के स्वरूप के अनुसार ज्वालामुखी को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(A) **केन्द्रीय उद्गार वाले**—इनमें उदगार एक बिन्दु से होता है। इसमें प्रचण्ड विस्फोटक ध्वनि के साथ आकाश में बहुत ऊँचाई तक ज्वालामुखी पदार्थ उछलता है। इससे तीव्र भूकम्प आते हैं। (B) **दरारी उद्गार वाले**—इनमें जमीन पर लम्बी-लम्बी दरारें या संकरी खाइयाँ पड़ जाती है। इनमें से बिना विस्फोट के अल्प सिलिका लावा द्रवावस्था में दूर-दूर तक फैल जाता है।

केन्द्रीय उद्गार के प्रमुख प्रकार निम्न हैं—

1. **पीलियन तुल्य उद्गार**—गैसों एवं जलवाष्प का दबाव अत्यधिक बढ़ जाने से ये उद्गार भयंकर विस्फोट के साथ होते हैं। इनसे सर्वाधिक विनाश होता है। विश्व प्रसिद्ध 1883 के क्राकाटोआ द्वीप के ज्वालामुखी (जावा के निकट) के भयंकर विस्फोट से इस द्वीप का एक-तिहाई भाग उड़ गया। इससे निकली धूल, राख एवं गैस के बादल 80 किमी की ऊँचाई तक छा गये थे। इसके विस्फोट की आवाज 4,800 किमी दूर ऑस्ट्रेलिया तट पर भी सुनाई दी। स्थानीय सागर तल पर 37 मीटर ऊँची लहरें उठने से जावा व सुमात्रा तट के 36,000 व्यक्ति मारे गए। ऐसा ही विस्फोट 1902 में माउण्ट पील (पश्चिमी द्वीप समूह में) में भयंकर आवाज के साथ हुआ।
2. **विसूवियस तुल्य उद्गार**—इसमें भी विविध गैसें, राख, धुआँ, ठोस खण्ड और अम्लीय लावा भयंकर विस्फोट के साथ बाहर निकलते हैं। गैसों व वाष्प का दबाव अधिक रहने से निकले पदार्थ काफी ऊँचाई तक उठकर चारों ओर दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। आकाश में धूल, धुआँ व राख के विशाल व गहरे बादल फैल जाते हैं। इनमें भारी मात्रा में जलवाष्प भी होती है। इससे निकला लावा निकटवर्ती भागों में बहकर जम जाता है। इसका सर्वप्रथम उद्गार यूनान में विसूवियस में 79 ई० में हुआ। चूँकि प्लीनी ने इसका सर्वप्रथम पर्यवेक्षण किया था, अत: इसे प्लीनियन तुल्य भी कहते हैं।
3. **वल्केनियन तुल्य उद्गार**—जहाँ विसूवियस तुल्य में वाष्प, गैस व राख के मिश्रित दबाव से भयंकर विस्फोट होता है, वहीं वल्केनियन तुल्य उद्गार में हर अगले उद्गार के समय शंकु। में जमा लावा तोड़कर फेंक दिया जाता है। इस उद्गार में भयंकर दबाव व आवाज के साथ विस्फोट होकर पदार्थ बाहर निकलते हैं। वल्केनो ज्वालामुखी भूमध्य सागर के लिपेरी द्वीप समूह में स्थित है। इसमें निकलने वाला लावा विसूवियस से अधिक गाढ़ा होता है, अत: इससे लेपिली व बम जैसी आकृति आकाश में उछलकर भूमि पर गिरती है। इससे निकले गैसीय पदार्थ, वाष्प, धूल व राख से फूलगोभी जैसे बादल बनकर दलदली वर्षा कर देते हैं।
4. **स्ट्रॉम्बोली तुल्य उद्गार**—स्ट्रॉम्बोली ज्वालामुखी भूमध्य सागर में सिसली द्वीप के उत्तरी भाग में स्थित है। इनमें सामान्यत: कम गाढ़ा लावा निकलता रहता है। उद्गार के समय कभी-कभी ज्वालामुखी की नली में गैसों का दबाव बढ़ने या मध्यवर्ती अन्तराल लम्बा होने पर ही विस्फोट भयंकर आवाज के साथ होता है। लावा बेसाल्ट जैसा व कम गाढ़ा होने से काफी दूर तक फैल जाता है। इस ज्वालामुखी उद्गार में गैस एवं धुआँ कम, राख, शिलाखण्ड व धूल अधिक निकलते हैं। कुछ लावा तो ज्वालामुखी के क्रेटर में ही गिरता जाता है, बाकी शंकु के ढाल पर गिर जाता है, अत: लावा प्रवाह थोड़ी दूरी तक ही हो पाता है।

5. **हवाई तुल्य उद्‌गार**—हवाई द्वीप में मोना लोआ एवं मोआकी दो ज्वालामुखियों में उद्‌गार फटाकों जैसी आवाज के साथ कभी-कभी होता रहता है। इसमें उद्‌गार के समय द्रव लावा मुँह से छिड़ककर ज्वालामुखी की दीवारों पर बिखर जाता है। जब लावा कुछ अधिक मात्रा में निकलता है तो इसके शंकु पर दरार पड़ जाती है। कुछ समय पश्चात् मुख्य क्रेटर से या सहायक शंकुओं से गैसें एवं लावा बाहर निकलता है। इससे सहायक शंकु भी बन सकते हैं। अन्तिम अवस्था में गैसों व लावा दोनों का निकलना तेजी से घटने लगता है। हवाई द्वीप समूह में ऐसे और भी ज्वालामुखी हैं जिनमें से बेसाल्ट लावा निकलता है। इसे शान्तप्राय उद्‌गार भी कहते हैं।

ज्वालामुखी की संरचना—ज्वालामुखी के विभिन्न भागों को अलग-अलग नामों से जानते हैं। वह नलिका जिससे होकर पिघला हुआ लावा व गैसों का उद्‌गार होता है यह ज्वालामुखी नली या ज्वालामुखी द्वार कहलाता है। उद्‌गार के मुख को क्रेटर व काल्डेरा कहते हैं। लावा अनेक बार गौण दरारों से भी होकर निकलता है जिसे उपनली मार्ग या उपद्वार कहते हैं। भू-गर्भ में जिन गहराइयों से लावा आ रहा है उसे मैग्मा भण्डार कहते हैं।

प्र.7. ज्वालामुखी क्रिया से बनी भू-आकृतियों में बाह्य भू-आकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

ज्वालामुखी क्रिया से बनी भू-आकृतियाँ
(Topography Due to Volcanic Activity)

ज्वालामुखी उद्‌गार के समय अनेक प्रकार के ठोस, अर्द्ध-द्रव एवं गैसीय पदार्थ निकटवर्ती क्षेत्र में फैलकर वहीं पर जमा होते जाते हैं। इससे धरातल पर अनेक प्रकार की आकृतियाँ बन जाती हैं। इसके साथ-साथ भूतल के नीचे भी विशेष अनुकूल दशा होने पर या मैग्मा के विविध गहराइयों में ठण्डा होने पर कई रचनाओं का निर्माण होता है। यह रचना ऊपरी सतह के कटाव के पश्चात् ही धरातल पर दिखाई देती है। इस प्रकार से धरातल पर बनी आकृतियों को बाह्य भू-आकृतियाँ एवं भूतल से नीचे बनी आकृतियों को आन्तरिक भू-आकृतियाँ कह सकते हैं।

बाह्य भू-आकृतियाँ
(Extrusive Volcanic Topography)

इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के शंकु, क्रेटर, काल्डेरा, लावा गुम्बद एवं लावा पठार या समतल क्षेत्र सम्मिलित हैं।

1. शंकु (Cones)

ज्वालामुखी उद्‌गार से बनने वाली पहली एवं विशेष महत्त्वपूर्ण आकृति उद्‌गार से निकले पदार्थों के जमाव से बनती है। उसका आकार शंकु जैसा या त्रिकोणाकार होता है, इसे शंकु कहते हैं। ज्वालामुखी से निकले पदार्थों की प्रकृति के अनुसार शंकु कई प्रकार के होते हैं—

1. **अम्लीय लावा शंकु** (Acidic Lave Cone)—ऐसे शंकु तेज ढाल वाले एवं कभी-कभी मोटे खम्भे जैसे भी हो सकते हैं। इसमें लावा विशेष गाढ़ा होता है एवं सिलिका अधिक होने से तत्काल ठण्डा हो जाता है। इसी कारण कई बार इसके आन्तरिक भाग से गैसें व ताप निकलते रहने से, इसकी सतह शीघ्र चटक भी जाती है, उस पर सन्धियाँ पड़ जाती हैं। इसकी आकृति पीलियन या वल्केनियन जैसी होती है, अर्थात् ऐसा शंकु तेज ढाल वाला एवं कम स्थान घेरे होता है। ऐसे शंकु शीघ्र नष्ट भी हो सकते हैं।

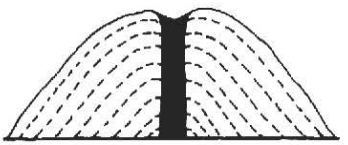

चित्र : अम्लीय लावा शंकु

चित्र : पैठिक लावा शंकु

2. **पैठिक लावा शंकु** (Basic Lava Cone)—जब लावा में बेसाल्ट अधिक एवं सिलिका कम होती है, तो लावा द्रव, हल्का व धीरे-धीरे ठण्डा होने वाला होता है। इससे धीमे ढाल वाला एवं काफी दूर तक फैला शंकु बन जाता है। इसका आकार शील्ड की तरह होता है। हवाई द्वीप के शंकु ऐसे ही हैं।
3. **मिश्रित शंकु** (Composite Cone)— अधिकांश ज्वालामुखी शंकु मिश्रित होते हैं। इनकी रचना तेज से मध्यम ढाल एवं बड़े क्षेत्र में फैली होती है। इसमें एक परत लावे की एवं उसके पश्चात् राख, पंक, ठोस शिलाखण्ड व चूरे आदि की परत होती है। यह सब लावे से मिलकर शंकु को ठोस रूप दे देते हैं। कम्पोजिट शंकु सभी प्रकार के शंकुओं से ऊँचे होते हैं। जापान का प्रसिद्ध फ्यूजीयामा मिश्रित शंकु का उदाहरण है।

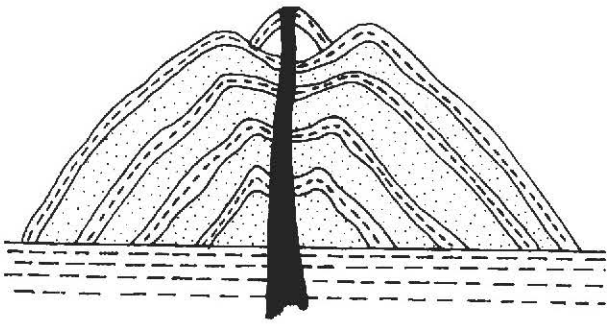

चित्र : मिश्रित शंकु (लावा एवं ठोस पदार्थों की एकान्तर परतें)

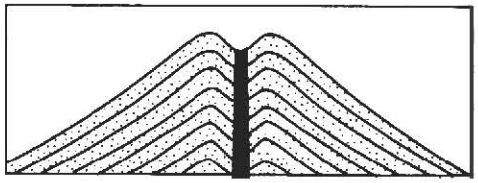

चित्र : सिण्डर शंकु

4. **सिण्डर शंकु** (Cinder Cone)—जब ज्वालामुखी उद्‌गार के समय लावा न निकलकर राख, धूल व ठोस शिलाखण्ड ही निकलकर जमा होते जाते हैं तो सिण्डर शंकु की रचना होती है। यहाँ जमा होने वाले पदार्थ (शिलाखण्ड) कई बार इतने अधिक होते हैं कि 8-10 दिन में 100 मीटर से भी अधिक जमाव हो जाता है। इसमें कई बार राख की मात्रा अधिक होती है तो उसे राख शंकु (Ash Cone) भी कहते हैं। मेक्सिको का जोरल्लो एवं फिलीपीन्स का केमग्विन ज्वालामुखी ऐसे ही उदाहरण हैं। इन शंकुओं का ढाल भी 30 से 45 के मध्य रहता है। यह भूतल पर स्थायी नहीं रह पाते, क्योंकि ढीले पदार्थ अपरदन द्वारा निरन्तर बहा दिए जाते हैं। इनके मुँह पर विशेष चौड़ा काल्डेरा होता है।
5. **परपोषित शंकु** (Parasite Cone)—इसे पराश्रित शंकु भी कहते हैं, क्योंकि इनका विकास ज्वालामुखी की मुख्य नली के बन्द हो जाने से या अन्य कारणों से मुख्य शंकु के ढाल पर अन्य मार्ग से लावा प्रवाह होने पर नवीन शंकु बनने से होता है। कई बार मुख्य नली के अतिरिक्त या दरार के आस-पास अनेक छोटे-छोटे शंकु बनते जाते हैं। पश्चिमी संयुक्त राज्य में माउण्ट शास्ता का शास्तिना शंकु ऐसा ही है।
6. **गुम्बदाकार शंकु** (Lava Dome Cone)—कई बार अम्लीय लावा बहुत अधिक गाढ़ा नहीं होता एवं अपने मुँह के चारों ओर तेजी से निकलकर गुम्बद की भाँति एकत्रित होता जाता है, ऐसे शंकु को लावा गुम्बद भी कहते हैं। कभी-कभी इनकी आकृति ढाल जैसी भी हो सकती है। किसी भी दशा में इनका विस्तार अधिक नहीं होता। पश्चिमी संयुक्त राज्य का डेविल्स डोम ऐसा ही शंकु है।
7. **गीओ शंकु** (Guyot Cone)—सपाट शीर्ष वाले जलमग्न ज्वालामुखी शिखर को गीओ शंक कहते हैं। ये महासागरीय तली पर होने वाले उद्‌गारों से निर्मित होते हैं। लहरें इनके शीर्ष को अपरदित कर देती हैं।

2. क्रेटर (Crater)

ज्वालामुखी शंकु के ऊपरी या शीर्ष भाग पर धंसाव से अथवा विस्फोट से बड़ा गड्‌डा बन जाता है। यह कीप के आकार वाला गड्‌डा ही विवर या क्रेटर कहलाता है। यह प्राय: वृत्ताकार होता है एवं इसका व्यास लगभग 800 मीटर से कुछ किमी तक एवं गहराई 150 मीटर से 900 मीटर तक हो सकती है। कई बार बड़े क्रेटर में अनेक छोटे-छोटे शंकु एवं उनके छोटे-छोटे क्रेटर भी बन जाते हैं। ऐसा पैठिक लावे के उद्‌गार की स्थिति में अधिक होता है। इसे घोंसलाकार विवर (nested crater) कहते हैं। शान्त ज्वालामुखी के मुँह या क्रेटर में पानी भर जाने से बनी झील को क्रेटर झील कहते हैं। पश्चिमी संयुक्त राज्य के ओरेगन राज्य की क्रेटर झील इसका अच्छा उदाहरण है। इसकी दीवारें लगभग 1,000 मीटर तक ऊँची है।

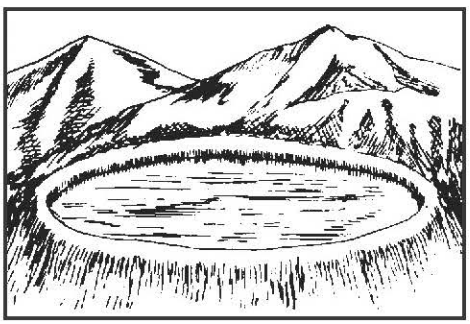

चित्र : क्रेटर

3. काल्डेरा (Caldera)

जब ज्वालामुखी का ऊपरी भाग भयंकर विस्फोट से उड़ जाए अथवा निमज्जन या धंसाव के प्रभाव से विशाल क्रेटर बन जाए तो उसे काल्डेरा कहते हैं। काल्डेरा विशाल कड़ाह जैसा होता है। इसके भीतर के तल पर एक या अधिक शंकु भी हो सकते हैं। इसकी

दीवारें भी काफी ऊँची रहती हैं। इसका व्यास 8 से 10 किमी तक होता है। कीनिया का किलीमंजारो ज्वालामुखी पर्वत का विशाल काल्डेरा, जापान का असोकाल्डेरा व पश्चिमी कनारी का काल्डेरा इसके विशेष उदाहरण हैं।

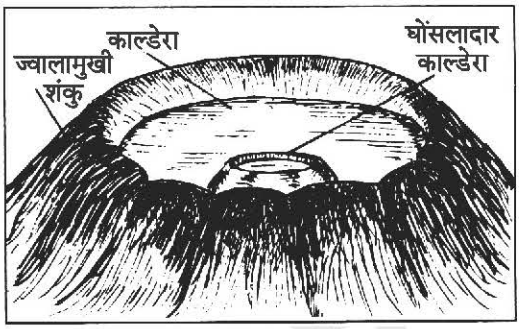

चित्र : काल्डेरा

4. लावा पठार (Lava Plateau)

जब पैठिक या द्रव लावा दरारों से निकलकर बड़े क्षेत्र में फैल जाता है, तब इससे आस-पास के सम्पूर्ण ऊबड़-खाबड़ हिस्सों में लावा जमा होता जाता है। इससे वह सारा ही क्षेत्र समतलप्राय बन जाता है। निचले भाग में होने पर इसे लावे का मैदान एवं ऊँचाई पर होने पर लावा का पठार कहते हैं। लावा पठार या मैदान विशेष उपजाऊ होने से सघन कृषि के क्षेत्र होते हैं। भारत में दक्कन का पठार, संयुक्त राज्य का कोलम्बिया पठार तथा इटली, जापान एवं आइसलैण्ड के लावा मैदान इसके उदाहरण है।

5. मेसा, ब्यूट एवं हॉगबेक (Mesa, Butte, Hogaback)

दरारी उद्‌गार के समय पुरानी शैलों पर लावा की परत बिछ जाती है। अपरदन के बाद वहाँ टोपीनुमा लावा ढकी शैलें शेष रहती हैं जिसे मेसा कहते हैं। यह वास्तव में सपाट शीर्ष वाली ऊपर उठी हुई भूमि होती है, जिसके ऊपर प्रतिरोधी शैलों की परत पाई जाती है। दक्षिण भारत में महाबलेश्वर पठार एक वृहद् मेसा का उदाहरण है। मेसा का अपरदन होने से जो लघु पहाड़ी जैसी आकृति बच जाती है, उसे ब्यूट या बूटे कहते हैं। न्यू मैक्सिको का शिपराक ब्यूट इसका अच्छा उदाहरण है। शूकर पृष्ठ या हॉगबैक एक लम्बा संकीर्ण कटक होता है, जिसके ढाल तीव्र होते हैं।

6. ज्वालामुखी द्वीप (Volcanic Island)

जब ज्वालामुखी का उद्‌गार समुद्र की तली पर होता है, तो निक्षेप बढ़ने के साथ-साथ शंकु या गुम्बद ऊपर उठता जाता है। कालान्तर में यह द्वीप का रूप ग्रहण कर लेता है। हवाई द्वीप, एल्यूशियन द्वीप आदि इसके उदाहरण है।

प्र.8. ज्वालामुखी क्रिया से बनी आन्तरिक भू-आकृतियों का वर्णन कीजिए तथा इसकी क्रिया के गौण रूपों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

आन्तरिक भू-आकृतियाँ
(Intrusive Topography)

ज्वालामुखी उद्‌गार के समय वाष्प तथा गैस की शक्ति घटने पर मैग्मा धरातल के बाहर नहीं आकर भू-गर्भ की दरारों में ही भर जाता है और धीरे-धीरे ठण्डा होकर निम्न आकृतियाँ बनाता है—

1. **बैथोलिथ** (Batholith)—जर्मन भाषा के इस शब्द का अर्थ गहराई से है। बैथोलिथ का जमाव काफी गहराई पर पाया जाता है। यह कभी मैग्मा भण्डार का भी भाग रहा होगा। इसकी आकृति ऊपर से असमान गुम्बद की तरह होती है तथा किनारे काफी गहराई तक चले जाते हैं, अत: कई बार इसके वास्तविक विस्तार का ज्ञान नहीं हो पाता।
2. **लैकोलिथ** (Lacolith)—यह भी एक उन्नतोदर ढाल की आकृति होती है, जो प्राय: परतदार चट्टानों के बीच पाई जाती है। जब दो परतों के बीच मैग्मा भर जाता है, तो वाष्प तथा गैस के कारण ऊपर की परत गुम्बद की तरह फूल जाती है। इस प्रकार भरे हुए लावा को लैकोलिथ कहते हैं। इसकी छतरीनुमा आकृति होने से इसे लावा छत्रक भी कहते हैं। उदाहरणार्थ—लैकोलिथ की आकृति संयुक्त राज्य के उटाह प्रान्त के हेनरी पर्वत पर स्थित है।
3. **फैकोलिथ** (Phacolith)—यह आकृति मोड़दार पर्वतों की अपनति (Anticlines) तथा अभिनति (Synclines) में ज्वालामुखी लावा भर जाने से बनती है।
4. **लोपोलिथ** (Lopolith)—उद्‌गार के समय जब लावा धरातल में नतोदर (तश्तरीनमा) या छिछले वेसिन में जमा होकर ठण्डा हो जाता है, तो लोपोलिथ आकृति बनती है। दक्षिणी अफ्रीका में ट्रान्सवाल में ऐसी ही आकृति का जमाव पाया जाता है।
5. **सिल** (Sill)—इसका जमाव परतदार चट्टानों में लावा भर जाने से होता है। सिल हमेशा क्षैतिज परत में पाई जाती है। इसकी मोटाई प्रत्येक जगह समान नहीं होती। इसकी गहराई भी कुछ फीट से प्रारम्भ होकर सैकड़ों फीट तक होती है। उदाहरण के लिए, उत्तरी इंग्लैण्ड में ग्रेट हिन सिल तथा दक्षिणी अफ्रीका में 'कारू क्षेत्र' में ऐसी ही सिल पाई जाती है।

6. **डाइक** (Dyke)—जहाँ सिल की आकृति सीधी तथा क्षैतिज होती है वहीं डाइक की आकृति गोलाकार व लम्बवत् रूप लिए होती है। इसकी मोटाई अधिकांशत: एक से तीन मीटर तक होती है। उदाहरण के लिए, ग्रेट ब्रिटेन में अरान तट के पास डाइक की आकृतियाँ हैं। डाइक का वास्तविक रूप उस स्थान के ऊपरी जमावों के अपरदन के बाद ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि अपरदन से लावे की कठोर डाइक नहीं कट पाती है।
7. **ज्वालामुखी प्लग** (Volcanic Plug)—यह शंकु की संशोधित आकृति है। जब ज्वालामुखी शान्त हो जाते हैं तो प्राय: उनकी नलिका या छिद्र ठोस लावा से भर जाता है। लम्बे समय तक शंकु का अपरदन होने से यह प्लग या डाट खम्भे जैसी आकृति में बाहर प्रकट हो जाता है। ऐसा अपवादस्वरूप ही होता है।

ज्वालामुखी क्रिया के गौण रूप (Minor Forms of Volcanic Activity)

1. **गीजर या उष्ण फव्वारे** (Geyser)—आर्थर होम्स के अनुसार गीजर गर्म जल के स्रोत होते हैं, जिनसे थोड़े-थोड़े अन्तराल पर गर्म जल तथा वाष्प प्राय: ऊँचे दबाव पर तीव्रता से निकलता है। इनकी ऊँचाई कई मीटर तक होती है। ज्वालामुखी क्षेत्रों में दरारों एवं छिद्र के द्वारा जल काफी गहराई तक पहुँच जाने पर तप्त चट्टानों के सम्पर्क में आने से शीघ्र भाप बनकर ऊपर उठने का प्रयास करता है। ऊपरी जल के दबाव एवं कठोर चट्टानों के कारण भाप निकल नहीं पाती व उसके तापमान और ऊँचे हो जाते हैं। उच्च तापमान एवं दबाव वाली वाष्प जल को ऊपर धकेलती है, जिससे धरातल पर गैस मिश्रित उष्ण जल के फब्बारे छूटते हैं। दबाव कम होने पर गीजर शान्त हो जाता है तथा उसके भूमिगत मार्ग पुन: जल से भरने लगते हैं। जल गर्म होता है और वाष्प के तापमान बढ़ने पर पुन: गीजर से फब्बारे निकलते हैं। यह दृश्य बड़ा मनोरम होता है। विश्व में गीजर के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका में यलोस्टोन नेशनल पार्क क्षेत्र, आइसलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड का उत्तरी द्वीप। यलो स्टोन पार्क क्षेत्र में विश्व प्रसिद्ध ओल्ड फेथफूल गीजर है, जिसमें हर एक घण्टे बाद 5 मिनट तक 60 मीटर ऊँचे फब्बारे छूटते हैं।
2. **धूम्र छिद्र या धुंआरे** (Fumaroles)—ज्वालामुखी से जब राख तथा लावा निकलना बन्द हो जाता है तो कभी-कभी वाष्प और अन्य गैसें निकलती रहती हैं। इनको ही धुंआरे या धूम्र छिद्र नाम से पुकारा जाता है। अलास्का की दस सहस्र धूम्र छिद्रों की घाटी (Valley of ten thousand smokes) विश्व में धुंआरों का सबसे बड़ा क्षेत्र है। जिन धुंआरों से केवल गन्धक निकलती है, उन्हें सोल्फटारा (Salfatara) कहते हैं। यह लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'गंधक की भूमि' (Lands of Sulphur)।
3. **उष्ण जल के सोते** (Hot Spring)—कभी-कभी भूमिगत जल, जिसमें अनेक खनिज मिले हुए होते हैं तथा तापमान 20°C से 100°C तक पाया जाता है, धरातल पर जल स्रोत या चश्मे के रूप में प्रकट हो जाता है। यलो स्टोन पार्क में ऐसे अनेक गर्म जल के सोते हैं। हिमाचल प्रदेश में ताता पानी तथा उत्तराखण्ड में तपोवन इसके श्रेष्ठ उदाहरण है।
4. **पंक वाह** (Mud Flow)—जब भूगर्भिक गैसें उच्च दाब तथा तीव्र उष्णता के कारण भूपटल की ऊपरी परत को भेदकर ऊपर आती हैं, तो कभी-कभी उबलती हुई मिट्टी या कीचड़ (पंक) अपने साथ लाती है। ऐसे उबलते हुए कीचड़ के प्रवाह को पंक वाह अथवा पंक ज्वालामुखी (Mud Volcano) कहते हैं। सिसली में पेटर्नो, आइसलैण्ड में काफ्ला तथा म्यांमार में मिन्बू इसके उदाहरण है।

प्र.9. ज्वालामुखी के विश्व वितरण की विस्तृत विवेचना कीजिए।

उत्तर

ज्वालामुखियों का विश्व वितरण
(World Distribution of Volcanoes)

विश्व में लगभग 500 जाग्रत ज्वालामुखी हैं। प्राय: सभी महाद्वीपों में जाग्रत ज्वालामुखी पाए जाते हैं। महासागरों में भी अनेक जाग्रत ज्वालामुखी होने के प्रमाण मिलते हैं। विश्व में इनकी चार प्रमुख पेटियाँ हैं—

1. **परिप्रशान्त पेटी या आग की अँगूठी** (Circum Pacific Belt or Fire Ring)—प्रशान्त महासागर स्थित द्वीपों और उसके चारों ओर के तटीय भागों में सबसे अधिक ज्वालामुखी पाए जाते हैं। इण्डोनेशिया इस पेटी का प्रधान केन्द्र है। अकेले जावा द्वीप में 43 ज्वालामुखी हैं। यहाँ से यह शृंखला छोटे-छोटे द्वीपों में होकर फिलीपीन द्वीप समूह तक एवं वहाँ से उत्तर की ओर फारमोसा एवं रियू-क्यू द्वीपों में होती हुई जापान तक चली जाती है। जापान में 200 से अधिक सक्रिय ज्वालामुखी हैं। यहाँ से उत्तर की ओर यह क्यूराल द्वीपसमूह, कमचटका प्रायद्वीप और एल्यूशियन द्वीपों में होकर अलास्का में प्रकट होती है। अलास्का के पश्चिमी तट से यह शृंखला कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी तट

से होकर मध्य अमेरिका में पहुँचती है। आगे यह दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर एण्डीज पर्वत के साथ सुदूर दक्षिणी छोर पर स्थित टेराडेलफ्यूगो द्वीप तक चली गई है। इसी शृंखला की एक शाखा अण्टार्कटिका महाद्वीप के निकट ग्राहम द्वीप से निकलकर न्यूजीलैण्ड के द्वीपों से होती हुई न्यूहैब्रीडीज, सोलोमन द्वीप तथा न्यूगिनी के तट से होकर फिलीपीन द्वीपसमूह के दक्षिणी द्वीपों में आकर मिल जाती है। इस सम्पूर्ण मेखला को 'प्रशान्त महासागर का अग्निवृत्त' तथा 'आग की अँगूठी' भी कहा जाता है। विश्व के दो-तिहाई जाग्रत ज्वालामुखी इसी मेखला में पाए जाते हैं।

2. **मध्य महाद्वीपीय पेटी** (Mid Continental Belt)—यह मेखला यूरेशिया व अफ्रीका महाद्वीपों के मध्यवर्ती भाग में नवीन वलित पर्वतों के सहारे पश्चिम से पूर्व दिशा में फैली है। यह आइसलैण्ड से प्रारम्भ होती है तथा कनारी द्वीप पर इसकी दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक स्पेन, इटली, सिसली, तुर्की, काकेशिया, आरमीनिया, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत, बर्मा और मलेशिया होती हुई इण्डोनेशिया तक चली जाती है। दूसरी अरब प्रायद्वीप के जोर्डन और अफ्रीका की भ्रंश घाटी तक चली गई है। कनारी द्वीपों से पश्चिम की ओर वाली शाखा पश्चिमी द्वीपसमूह तक चली गई है। यूरोप की राइन भ्रंश घाटी में भी शान्त ज्वालामुखी पाए जाते हैं।
3. **अन्ध महासागरीय मेखला** (Atlantic Belt)—मध्य अमेरिका की ज्वालामुखी शृंखला लघु एण्टलीज द्वीपों में प्रवेश कर पश्चिमी द्वीपसमूह तक जाती है। यह शृंखला अन्ध महासागर के पूर्वी भाग में स्थित एजोर्स, केपवर्ड तथा कनारी द्वीपों तक चली जाती है। अन्ध महासागर की मध्य कटक के निकट कई समुद्री ज्वालामुखी पाए जाते हैं।
4. **अन्य बिखरे ज्वालामुखी**—उपर्युक्त पेटियों के अतिरिक्त महाद्वीपों, महासागरों और कई द्वीपों में बिखरे हुए ज्वालामुखी पाए जाते हैं। मैडागास्कर, मारीशस और रियूनियन द्वीपों में भी ज्वालामुखी पाए जाते हैं। अण्टार्कटिका महाद्वीप पर रास सागर के तटवर्ती भाग में इरेबुस और टेबर ज्वालामुखी हैं।

भारत में ज्वालामुखी क्रिया—वर्तमान में अण्डमान द्वीप समूह के बैरेन द्वीप के अतिरिक्त भारत के किसी भी भाग में ज्वालामुखी क्रिया नहीं पायी जाती है, किन्तु अतीत में अनेक क्षेत्रों में ज्वालामुखी क्रिया के प्रमाण मिलते हैं। इनमें बिहार में डालमा ट्रेप, आन्ध्र प्रदेश में कुडप्पा, मध्य प्रदेश में ग्वालियर क्षेत्र, राजस्थान में मालानी पहाड़ियाँ, पंजाब में किराना पहाड़ियाँ, हिमाचल प्रदेश में पीर पंजाल आदि सम्मिलित हैं। प्रायद्वीप में दक्कन ट्रेप का निर्माण दरारी उद्‌गार से हुआ।

प्र.10. ज्वालामुखी उद्‌गार के कारणों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

ज्वालामुखी उद्‌गार के कारण
(Causes of Volcanic Eruption)

ज्वालामुखी की सम्पूर्ण क्रिया भू-गर्भ की स्थिति से सम्बन्धित है। जब यह सक्रिय होती है तब भूमि के नीचे एवं सतह पर उथल-पुथल मच जाती है। यद्यपि इसकी तथ्यात्मक एवं सही-सही जानकारी आज भी प्राप्त नहीं है, फिर भी आधुनिक वैज्ञानिक माध्यमों से इसके सम्भावित कारणों की खोज की जाती रही है। भू-गर्भ में विकसित वे सब परिस्थितियाँ, जिनके कारण वहाँ गैसें व जलवाष्प एकत्रित होकर भारी मात्रा में दबाव उत्पन्न करती हैं, इसमें सम्मिलित हैं। वहाँ से दरारों या कमजोर मार्ग से होकर ऐसे पदार्थ पृथ्वी की ओर आने लगते हैं। ज्वालामुखी उद्‌गार के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

1. **भू-गर्भ का उच्च ताप**—पृथ्वी के आन्तरिक भाग में अभी भी उच्च ताप पाया जाता है। भू-गर्भ में ताप बढ़ने की दर प्रति 32 मीटर गहराई पर 1°C है। इसके अतिरिक्त वहाँ पाए जाने वाले रेडियोधर्मी पदार्थ विखण्डन द्वारा ताप को और बढ़ाते रहते हैं। यद्यपि ऊँचे तापमान के कारण भू-गर्भ में चट्टानें पिघली अवस्था में होनी चाहिए, किन्तु ऊपरी परत के अधिक भार से चट्टानें पूर्णत: पिघल नहीं पाती हैं। किसी भी कारण से ऊपरी दबाव घटने पर पिघली हुई चट्टानें (मैग्मा) जलवाष्प के साथ ऊपर की ओर गतिशील हो जाती हैं।
2. **गैसों व जलवाष्प की उत्पत्ति**—जब कभी भ्रंश या दरारों से होकर महासागरीय जल या भूमिगत जल भू-गर्भ में काफी गहराई तक चला जाता है, तो उच्च ताप के कारण जलवाष्प में बदल जाता है। इसमें मार्ग की चट्टानों से प्राप्त गैसें भी सम्मिलित होती जाती हैं। इसी कारण गैसीय पदार्थों का 75 से 90 प्रतिशत भाग तक जलवाष्प का रहता है। यह जलवाष्प दबाव के प्रभाव से 135°C तक गर्म होकर बहुत अधिक विस्फोटक स्थिति ला देती है। इन विशेष गतिशील एवं दबाव वाली गैसों एवं जलवाष्प को जहाँ भी कमजोर स्थल या मार्ग मिलता है, ये उसी मार्ग से भूतल ओर की बढ़ती हैं। तब इनके साथ मैग्मा भी तेजी से ऊपर की ओर बढ़ने लगता है।

3. **असन्तुलन**—धरातल पर भू-आकृतिक प्रक्रमों के कारण क्षेत्रीय रूप से असन्तुलन उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव भूगर्भिक व्यवस्था पर पड़ता है। भूगर्भिक असन्तुलन के कारण शैलों में गति, भूकम्प, वलन, भ्रंश आदि घटनाएँ होती हैं। सन्तुलन स्थापन हेतु भू-गर्भ में मैग्मा का प्रवाह होता है। इस प्रकार भूगर्भिक क्षेत्रों में संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं तथा ज्वालामुखी क्रिया सक्रिय होती है। विश्व के अधिकांश ज्वालामुखी इसी कारण समस्थितिक असन्तुलन वाले क्षेत्रों में ही पाए जाते हैं।
4. **दबाव में कमी**—पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाने पर पदार्थों का दबाव निरन्तर बढ़ता जाता है। भू-गर्भ में ऊपरी परतों के विशाल दबाव के कारण अत्यधिक तापमान होने पर भी शैलें ठोस अवस्था में रहती हैं। जब कभी भूगर्भिक हलचलों के कारण ऊपरी दबाव घट जाता है तो निचली शैलें पिघलने लगती हैं। इसके कारण उनके आयतन में वृद्धि हो जाती है तथा मैग्मा कम दबाव वाली कमजोर परतों से बाहर निकलने का प्रयास करता है। इस प्रकार दबाव में कमी से ज्वालामुखी क्रिया सक्रिय होती है।
5. **प्लेट विवर्तनिकी**—प्लेट विवर्तनिक सिद्धान्त के अनुसार स्थलमण्डल दृढ़ व कठोर प्लेटों से निर्मित है जिनके अपसारी तथा अभिसारी किनारों के निकट ज्वालामुखी क्रियाएँ होती हैं। जब कोई दो प्लेट एक-दूसरे की ओर बढ़ती हैं तो किनारों पर दबाव बढ़ता है। इसके फलस्वरूप पदार्थ का कुछ अंश नीचे मैण्टिल या अध:स्तर में चला जाता है, जो कि पिघलने लगता है। यह मैग्मा का रूप लेकर बाहर निकलने की राह पाकर पृथ्वी पर आ जाता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी प्राय: 'सबडक्शन' क्षेत्र से 200-250 किमी दूर सक्रिय होते हैं।

ज्वालामुखी उद्‌गार—ज्वालामुखी उद्‌गार के समय सबसे पहले तीव्र गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है तथा भूकम्प के झटके आने लग जाते है। ये काफी देर तक तथा जोरों से आते हैं। जिस स्थान पर ज्वालामुखी फूटता है वहाँ का तापमान कुछ समय पूर्व काफी बढ़ जाता है तथा आस-पास की नदियों का प्रवाह स्थिर हो जाता है। महासागरीय क्षेत्र में है तो जल में काफी गति होने लगती है। इसके उदभेदन के समय बहुत-सा भू-भाग ऊपर-नीचे हो जाता है। विस्फोट के समय सबसे पहले तप्त गैसीय पदार्थ, फिर लावा इसके मुँह से फूट पड़ता है।

प्र.11. प्लेट किनारों के प्रकारों की विस्तार से विवेचना कीजिए।

उत्तर

प्लेटों के किनारे
(Margins of Plates)

भू-प्लेटों के किनारे सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इन्हीं के सहारे भूकंपीय, ज्वालामुखीय तथा अन्य विवर्तनिक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। सामान्यत: प्लेट सीमा व किनारे तीन प्रकार के होते हैं—(1) अपसारी अथवा रचनात्मक किनारा, (2) अभिसारी अथवा विनाशात्मक किनारा, (3) रूपान्तर भ्रंश अथवा संरक्षी किनारा।

1. **अपसारी अथवा रचनात्मक किनारा** (Divergent or Constructive Margin)—जब दो प्लेटें विपरीत दिशा में अपसरित होती हैं, तो अपसारी या रचनात्मक किनारे कहलाते हैं। इसे फैलता किनारा भी कहते हैं। यहाँ नया स्थलमण्डल बनता है। यह समुद्रतल के फैलाव का स्थल है। चढ़ती संवाहनिक धाराओं के परिणामस्वरूप अपसारी सीमा के सहारे दो प्लेट विपरीत दिशा में क्रियाशील रहती हैं। तनाव के कारण स्थलमण्डल का कोई हिस्सा कमजोर क्षेत्र से अलग जा पड़ता

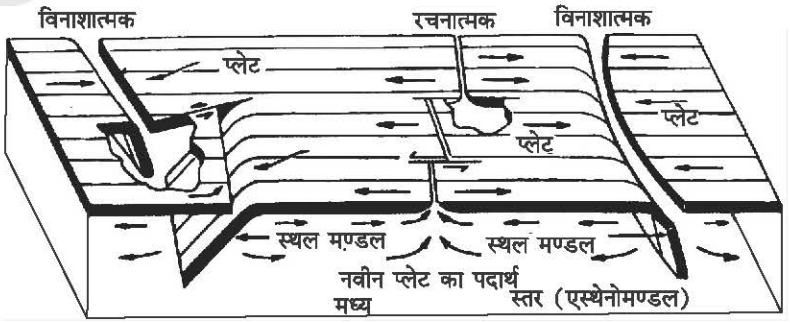

चित्र : प्लेटों के किनारों के प्रकार और दिशा

है और बीच में लम्बी दरार घाटी बन जाती है। यह बढ़ती चली जाती है और बाद में नीचे से उठते मैग्मा से भरती जाती है। यह मैग्मा ठोस रूप धारण करके घाटी के फर्श पर नया भूपटल निर्मित करता है। इस पृथक्करण में यदि दो सागरीय प्लेट हुए तो सागर तल फैल जाता है और यदि महाद्वीपीय प्लेट हुए तो नये सागर की सृष्टि हो जाती है। अटलाण्टिक कटक दक्षिण-पश्चिमी हिन्द महासागर कटक और चार्ल्स वर्थ कटक अपसरण की महत्वपूर्ण सीमा है जिनके सहारे ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं। इस प्रकार, अपसारी किनारे महासागरीय श्रेणियों के समीप देखे जा सकते हैं। इनके पास भूकंप एवं ज्वालामुखी घटनाएँ सामान्य होती हैं।

2. **अभिसारी अथवा विनाशात्मक किनारा** (Convergent or Destructive Margin)—अभिसारी अथवा विनाशात्मक किनारे उस अवस्था में होते हैं, जब कि दो प्लेट एक-दूसरे की ओर बढ़ते हैं। इन किनारों का पदार्थ मैण्टिल में चले जाने से इनका ह्रास होता है। अभिसारी किनारों के बनने में तीन प्रकार की स्थितियाँ होती हैं—
   (i) **दो सागरीय प्लेट**—जब दो सागरीय प्लेटें एक-दूसरे की ओर बढ़ती हैं, तो तेज चाल वाली प्लेट धीमी वाली प्लेट के अगले किनारे के नीचे चली जाती है। जिससे सागरीय स्थलमण्डल खत्म हो जाता है तथा कुछ गहराई में जाकर नीचे गयी हुई प्लेट अधिक तापमान के कारण पिघलने लगती है। प्लेट का वह पिघला हुआ अंश अपने निकलने की राह पाकर ज्वालामुखी के रूप में अभिसारी सीमा से कुछ दूर ही फूट पड़ता है। इससे द्वीपीय चाप या तोरण बनते हैं। हवाई और आयरलैण्ड द्वीप इसके उदाहरण हैं। इससे अनेक मध्यसागरीय खाइयाँ बन जाती हैं।
   (ii) **एक सागरीय और एक महाद्वीपीय प्लेट**—इस स्थिति में अभिसारी प्लेटों के चलने में अधिक घनत्व वाला (3.0) सागरीय प्लेट कम घनत्व वाले (2.7) स्थलमण्डलीय प्लेट के नीचे चला जाता है और सागरीय खाइयाँ निर्मित करता है। तट के सहारे निक्षेपित अवसादों में वलन पड़ते हैं। कुछ गहराई में जाने के बाद वह सागरीय प्लेट अधिक तापमान के कारण पिघलने लगती हैं तथा मैग्मा के रूप में महाद्वीपीय प्लेट से भाग निकलने का प्रयास करता है। इसके परिणामस्वरूप सागरीय खाई से 200-250 किमी दूर ज्वालामुखी पर्वत बन जाते हैं। रॉकीज और एण्डीज श्रेणियाँ इसके उदाहरण हैं।
   (iii) **दो महाद्वीपीय प्लेट**—जब दो महाद्वीपीय प्लेट बढ़ते-बढ़ते एक-दूसरे से मिलते हैं, तो दोनों प्लेटों के किनारों पर दबाव पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप अधिक सघन पदार्थ से निर्मित प्लेट का कुछ अंश कम घनत्व की प्लेट के नीचे मैण्टिल में चला जाता है और कुछ अंश अभिसरण क्षेत्र के सिरे पर मुड़कर पर्वत के रूप में वलित हो जाता है। नीचे गया हुआ पदार्थ पिघलने लगता है और मैग्मा का रूप ले लेता है जो बाहर निकलने का मार्ग मिलते ही पृथ्वी पर आ जाता है। हिमालय वलित पर्वतों का श्रेष्ठ उदाहरण है, जो भारतीय एवं एशियाटिक प्लेटों के मध्य संकुचन से उत्पन्न हुआ।
3. **रूपान्तर भ्रंश अथवा संरक्षी किनारा** (Transform Fault or Conservative Margin)—इसमें दो प्लेट न तो एक-दूसरे की ओर बढ़ते हैं तथा न ही एक-दूसरे से अलग हटते हैं, बल्कि क्षैतिज रूप से एक-दूसरे के पास से फिसलते हुए गुजर जाते हैं। वहाँ रूपान्तर भ्रंश का निर्माण होता है। इस किनारे पर न तो नए पदार्थ का निर्माण होता है और न ही विनाश होता है। कैलिफोर्निया में सान एण्ड्रियाज भ्रंश प्रणाली ऐसे किनारों का सर्वाधिक सक्रिय उदाहरण है। भूकम्पों का होना, किन्तु ज्वालामुखी क्रिया न के बराबर होना इन किनारों की विशेषता है।

❑

UNIT-III

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. चट्टान से क्या अभिप्राय है?

उत्तर चट्टान से अभिप्राय कठोर या दृढ़ भू-भाग होता है, किन्तु भू-विज्ञान व भूगोल में इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। अर्थात् चट्टान में कठोर या कोमल सभी प्रकार के पदार्थ आते हैं। अत: भूतल निर्माण के सभी पदार्थों को चट्टान कहते हैं।

प्र.2. चट्टानों के आर्थिक महत्त्व को बताइए।

उत्तर सभी प्रकार की चट्टानें आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनमें अनेक प्रकार के खनिज पाए जाते हैं—

1. **आग्नेय चट्टानें**—इनमें सोना, चाँदी, ताँबा, लौह-अयस्क, जस्ता, सीसा, क्रोमाइट, अभ्रक, मैंगनीज, गन्धक आदि खनिज पाए जाते हैं।
2. **अवसादी चट्टानें**—इनमें प्राय: कोयला, खनिज तेल, प्राकृतिक गैस, जिप्सम, बलुआ पत्थर, चूने का पत्थर, इमारती पत्थर, फॉस्फेट, पोटाश, सेंधा नमक आदि खनिज पाये जाते हैं।
3. **रूपान्तरित चट्टानें**—इन चट्टानों से ताँबा, क्रोमियम, मेग्नेटाइट लोहा, एन्थ्रेसाइट, ग्रेफाइट, हीरा, संगमरमर, सोना, चाँदी आदि खनिज पाये जाते हैं।

प्र.3. कायान्तरित चट्टानों के विश्व वितरण से आप क्या समझते हैं?

उत्तर विश्व के प्राय: सभी प्राचीन पठारों पर कायान्तरित चट्टानें पाई जाती हैं। भारत में दक्षिणी प्रायद्वीप, दक्षिण अफ्रीका के पठार, उत्तरी कनाडा, स्केण्डीनेविया, अरब के प्रायद्वीप, उत्तर-पश्चिमी रूस और पश्चिमी आस्ट्रेलिया के पठार पर कायान्तरित चट्टानें बहुतायत से पाई जाती हैं।

प्र.4. वलन किसे कहते हैं?

उत्तर वलन पृथ्वी की आन्तरिक शक्ति द्वारा उत्पन्न क्षैतिजिक संचलन और सम्पीडन का परिणाम है। चट्टानों में सुविकसित लहरदार मोड़ ही वलन कहलाते हैं।

प्र.5. सन्धियाँ क्या हैं?

उत्तर किसी क्षेत्र में स्थानीय तनाव एवं सिकुड़न के सम्मिलित प्रभाव से कभी-कभी कमजोर शैलें चटक जाती हैं, किन्तु शैलों का विस्थापन नहीं होता। इस प्रकार शैलों में पड़ी दरारों को सन्धियाँ कहते हैं। सन्धियों के कारण शैलों पर अपक्षय का प्रभाव शीघ्र पड़ता है।

प्र.6. भ्रंश घाटियों के विकास सम्बन्धी विचारधाराओं में से बिलार्ड के मत को लिखिए।

उत्तर बिलार्ड ने अपना मत 1934 में प्रस्तुत किया। उसके अनुसार रिफ्ट घाटी का निर्माण कई अवस्थाओं में होता है। इसमें आमने-सामने से क्षैतिज संचलन से बीच का भाग संचलित होकर उभार द्वारा ऊपर उठता है। जब सम्पीडन बढ़ता जाता है तो ऐसे उभार में विभंग व दरार पड़ जाती है। इससे वहाँ दरार घाटी का निर्माण हो जाता है। दरार घाटी की चौडाई एवं विस्तार तथा ब्लॉक पर्वत का निर्माण पदार्थों के संकलन, उन पर बढ़ते हुए सम्पीडन एवं भू-सन्तुलन के विकास की सम्मिलित क्रिया का परिणाम होते हैं।

प्र.7. नति लम्ब रेखा से आप क्या समझते हैं?

उत्तर नति लम्ब हमेशा नति के 90° का कोण बनाता है। अत: नति के साथ समकोण बनाने वाली रेखा उस झुके हुए स्तर की नति लम्ब रेखा कहलाती है।

प्र.8. अपघटन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर जब चट्टानों में पाए जाने वाले खनिज या रसायन पदार्थ जल एवं वायुमण्डल की गैसों के साथ क्रिया करके चट्टानों को घोलकर या रासायनिक क्रिया द्वारा चूरा एवं अन्य पदार्थों में बदलते रहते हैं, तो ऐसी क्रिया को चट्टानों का अपघटन कहते हैं। इससे चट्टानों का रूप, रंग तथा खनिज अनुपात बदल जाता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.9. अपक्षय से आपका क्या आशय है?

उत्तर अपक्षय स्थैतिक या स्थिर शक्ति है। इसमें वायुमण्डलीय कारकों के कारण पृथ्वी की सतह की चट्टानें टूटती-फूटती अथवा विशेष रासायनिक क्रियाओं के प्रभाव से अपघटित होती रहती हैं। जब चट्टानें बिना स्थान बदले विशेष प्राकृतिक कारकों की क्रिया से अपखण्डित एवं अपघटित होती रहती हैं तो उसे अपक्षय कहा जाता है।

प्र.10. विघटन से क्या अभिप्राय है?

उत्तर जब बदलते हुए मौसम एवं वायुमण्डल की क्रियाओं (ताप, जल, हिमवृष्टि आदि) के प्रभाव से चट्टानें अपने स्थान पर टूट-टूटकर छोटे-छोटे कणों एवं बालू में बदलती जाती हैं तो उसे अपखण्डन या भौतिक अथवा यान्त्रिक अपक्षय कहते हैं। इसमें चट्टानों के खनिज तत्त्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

प्र.11. अनाच्छादन में स्थैतिक तथा गतिशील शक्तियों को परिभाषित कीजिए।

उत्तर अनाच्छादन में दो प्रकार की शक्तियाँ सम्मिलित हैं—

1. **स्थैतिक शक्तियाँ** (Static Forces)—जब चट्टानें किसी गतिशील शक्ति के प्रभाव के बिना भी अपने ही स्थान पर टूट-टूट कर अपखण्डित होती जाती हैं तथा रासायनिक क्रिया द्वारा अपघटित होती रहती हैं, तो इसे अपक्षय कहते हैं।
2. **गतिशील शक्तियाँ** (Mobile Forces)—स्थैतिक शक्तियों द्वारा एकत्रित या धरातल पर उपलब्ध पदार्थों का कटाव, बहाव एवं जमाव करने वाली शक्तियों को गतिशील शक्तियाँ कहते हैं; जैसे—प्रवाहित जल, पवन, हिमानी, समुद्री लहरें आदि। इन्हें अपरदनकारी शक्तियाँ भी कहते हैं।

संक्षेप में कहें तो अनाच्छादन = अपक्षय + अपरदन होता है। (Denudation is a sum total of weathering and erosion) अपक्षय स्थैतिक शक्तियों का परिणाम है, जबकि अपरदन गतिशील शक्तियों का परिणाम है।

प्र.12. बहुचक्रीय व्यवस्था किसे कहते हैं?

उत्तर किसी भू-आकृति या स्थलखण्ड का धरातल हजारों वर्षों में किसी-न-किसी कारण से अवश्य प्रभावित होगा। इससे वहाँ के अपरदन चक्र में बाधाएँ आएँगी। अत: सम्पूर्ण भू-आकृति बार-बार पुनर्नवीकरण की दशा के कारण घाटी को फिर से विकसित करने लगेगी। नदी घाटी अथवा भू-आकृति के विकास में बार-बार इस प्रकार से अपरदन चक्र में बाधा आने या नया जीवन मिलने पर विकास की इस सम्पूर्ण दशा को ही बहुचक्रीय व्यवस्था (Polycyclic Arrangement) कहते हैं।

प्र.13. अपरदन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर अपरदन अनाच्छादन की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यह एक गतिशील क्रिया है। अपरदन शब्द का प्रयोग उस क्रिया के लिये किया जाता है, जिसके अंतर्गत विभिन्न गतिशील कारक भूपृष्ठ के पदार्थों की काट-छाँट कर अन्यत्र परिवहित करते हैं। भूगोल परिभाषा कोश के अनुसार, "विभिन्न प्राकृतिक कारकों द्वारा भूपृष्ठ-तक्षण का प्रक्रम अपरदन कहलाता है।" अपरदन के कारकों में प्रवाहित जल, भूमिगत जल, पवन, हिमानी व सागरीय लहरें सम्मिलित हैं।

प्र.14. अपरदन चक्र से आप क्या समझते हैं? समझाइए।

उत्तर विद्वानों ने भू-आकृतियों को समतल करने वाली प्रक्रिया में भी एक प्रकार की चक्रीय व्यवस्था देखी। इस तथ्य पर सबसे पहले अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश वैज्ञानिक **जेम्स हटन** ने प्रकाश डाला, किन्तु भू-आकृतियों एवं उन पर प्रभाव डालने वाले अभिकर्ताओं की चक्रीय व्यवस्था के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अमेरिकी विद्वान विलियम मोरिस डेविस तथा जर्मन विद्वान पेंक का माना जाता है।

डेविस के शब्दों में, "अपरदन चक्र या भौगोलिक चक्र समय की वह अवधि है जिसके अंतर्गत उत्थित हुआ एक नवीन भूखण्ड अपरदन की क्रिया द्वारा एक आकृतिविहीन समतलप्राय मैदान में बदल जाता है।" वरसेस्टर के अनुसार, "अपरदन चक्र एक समय है, जिसके अंतर्गत सरिताएँ नव उत्थित भूखण्ड को काट-काटकर आधार तल पर ला देती है।" डेविस ने 'अपरदन चक्र' शब्द का प्रयोग न कर भौगोलिक चक्र का प्रयोग किया है। यहाँ डेविस एवं पेंक द्वारा प्रस्तुत संकल्पनाओं को समझाया गया है।

प्र.15. चट्टानों को कितने वर्गों में रखा गया है? उनको नामोल्लेखित कीजिए।

उत्तर निर्माण एवं संरचना के आधार पर चट्टानों को तीन वर्गों में रखा जाता है—

1. आग्नेय चट्टानें,
2. अवसादी या परतदार चट्टानें,
3. कायान्तरित या रूपान्तरित चट्टानें।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. कायान्तरित चट्टानों के लक्षणों को लिखिए तथा कुछ महत्त्वपूर्ण चट्टानों को भी बताइए।

उत्तर

कायान्तरित चट्टानों के लक्षण
(Characteristics of Metamorphic Rocks)

1. ये चट्टानें विशेष कठोर एवं संगठित होती हैं। इन चट्टानों को काटना व खण्डित करना कठिन कार्य रहा है।
2. ये चट्टानें मोटे कणमय या स्पष्टत: मणिभीय होती हैं, किन्तु ये विशेष तल पर भी सरलता से नहीं टूटतीं।
3. अधिकांश दशा में ताप एवं दबाव से कायान्तरण होता है, अत: चट्टानों के जीवावशेष नष्ट हो जाते हैं।
4. विशेष कठोर एवं संगठित होने से यह छिद्रमय नहीं होती। अत: पानी इन्हें भेदकर नहीं जा सकता।
5. कायान्तरण के पश्चात् बनी चट्टानों के कुछ प्राथमिक गुण एवं लक्षण बने रहते हैं। इसी के आधार पर इनकी मूल चट्टानों एवं उनके स्वरूप को समझा जा सकता है।

कायान्तरित चट्टानें तथा उनके मूल रूप

	मूल चट्टानें	कायान्तरण के पश्चात्
	आग्नेय	
1.	ग्रेनाइट	नीस (Gneiss)
2.	गेब्रो	गैबोनीस सरपेंटाइन
3.	बैसाल्ट	स्लेट
4.	रायोलाइट	हल्का शिस्ट
	अवसादी	
1.	बलुआ पत्थर	स्फुटिक, शिस्ट क्वार्ट्जाइट
2.	शैल	स्लेट अथवा अभ्रक शिस्ट
3.	चुने का पत्थर/डोलोमाइट	संगमरमर
4.	लिग्नाइट	एन्थ्रेसाइट
5.	कोयला	ग्रेफाइट व हीरा

कुछ महत्त्वपूर्ण कायान्तरित चट्टानें (Some Important Metamorphic Rocks)

1. **क्वार्ट्जाइट**—क्वार्ट्जाइट का निर्माण बलुआ पत्थर के रूपान्तरण से होता है। इसमें क्वार्ट्जाइट खनिजों के पाए जाने के कारण इसे क्वार्ट्जाइट कहते हैं। बलुआ पत्थर में पाए जाने वाले बीच के छिद्र दबाव और ताप के कारण सिलिका से भर जाते हैं, अत: क्वार्ट्जाइट, बालुका पत्थर की तुलना में अधिक कठोर होता है।
2. **स्लेट** (Slate)—शैल एवं चीकायुक्त चट्टानों में अत्यधिक ताप और सम्पीडन के कारण उनका रूपान्तरण स्लेट में हो जाता है। कभी-कभी मौलिक शैल के सारे लक्षण समाप्त हो जाते हैं तथा यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि कायान्तरण के समय चट्टान का मौलिक रूप क्या था? स्लेट में परतें पाई जाती हैं, जो शैल का मूल स्वरूप होता है, किन्तु उसके गुणों में पूर्णतया परिवर्तन हो जाता है।
3. **संगमरमर** (Marble)—अत्यधिक ताप के कारण चूने के पत्थर में स्थित कैल्सियम कार्बोनेट तथा अन्य बारीक कण कैलसाइट के कणों में परिवर्तित हो जाते हैं, जिससे संगमरमर का निर्माण होता है। इसी प्रकार डोलोमाइट तथा खड़िया अधिक ताप के कारण संगमरमर में परिवर्तित हो जाते हैं। कायान्तरण होने के कारण संगमरमर अपनी पूर्व चट्टानों की अपेक्षा अधिक कठोर तथा संगठित हो जाता है।

प्र.2. अवसादी चट्टान की परिभाषा को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर

अवसादी या परतदार चट्टानें
(Sedimentary Rocks)

इन चट्टानों को अपने विशिष्ट लक्षणों के आधार पर अवसादी, परतदार, अथवा द्वितीयक नामों से पुकारते हैं। Sedimentary शब्द लैटिन भाषा के *Sedimentum* (नीचे बैठना या जमना) से बना है। वरसेस्टर के अनुसार, अवसादी चट्टानें प्राचीन

चट्टानों के मलवे तथा खनिजों के अवसादों के परत रूप में संगठित होने से निर्मित हुई हैं। पिछले 60-70 करोड़ वर्षों से भूतल की प्राथमिक (आग्नेय) चट्टानें समतल स्थापक शक्तियों के प्रभाव से निरन्तर नवीन या द्वितीयक (अवसादी) चट्टानों में बदलती रही हैं। इसी कारण पृथ्वी की ऊपरी सतह या स्थलमण्डल के 75% भाग पर अवसादी चट्टानें विस्तृत हैं। अवसादी चट्टानों की रचना परत-दर-परत अवसादों के निरन्तर जमा होने से होती रहती है, अत: इन्हें परतदार चट्टानें कहते हैं। जो अवसाद अनाच्छादन क्रिया द्वारा कट-छँट कर निरन्तर सागर तली में जमा होते रहते हैं वह पूर्व की आग्नेय, परतदार एवं कायान्तरित चट्टानों में से किसी के भी हो सकते हैं। ऐसे अवसादों के मोटे कण तत्काल जमा होते जाते हैं, महीन कण उनके रिक्त स्थानों में भरते जाते हैं तथा चीका परत ऊपरी सतह का निर्माण करती है। ऐसी परतें आपस में चीका, चूना, केल्साइट, लोहा मिश्रण, सिलिका आदि संयोजकों से भारी दबाव के कारण आपस में जुड़ती जाती हैं।

प्र.3. यांत्रिक क्रिया जनित अवसादी चट्टानें की परिभाषा हेतु हुए इन चट्टानों को अवसादी की किस आधार पर कितने भागों में विभाजित किया गया है? संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर

यांत्रिक क्रिया जनित अवसादी चट्टानें
(Rocks of Mechanical or Inorganic Origin)

इस प्रकार की चट्टानों की उत्पत्ति या निर्माण बहता जल, हिमानी, वायु, अपक्षय आदि से प्राप्त शिलाचूर्ण के परिवहन एवं निक्षेप से होता है। ऐसे अप्राणिज पदार्थ ऊपर वर्णित परतों में जमा होते रहते हैं। ऐसी चट्टानें ऊपरी नवीन अवसादों द्वारा निचली परतों पर निरन्तर बढ़ते दबाव से संगठित होकर कठोर बनती जाती हैं। इन चट्टानों को अवसादों की किस्म के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **बालुका चट्टानें**—इनका निर्माण मुख्यत: बालू (रेत) के कणों से होता है। ये छोटे-बड़े कंकड़-पत्थर, चट्टानी चूर्ण व बालू के कणों के जलीय तल पर निक्षेपण से बनती हैं। इनका रंग सफेद, लाल व भूरा होता है। क्वार्ट्स, बालुई पत्थर, लाल पत्थर इसी प्रकार की चट्टानें हैं।
2. **कोंग्लोमरेट**—इनका निर्माण रेत के साथ चिकने गोल आकार वाले पत्थर के टुकड़ों के चीका मिट्टी द्वारा संयोजन होने पर होता है। जब कंकड़ गोल न होकर कोणीय होते हैं तो उससे निर्मित चट्टान को ब्रेसिया कहते हैं।
3. **चीका एवं शेल**—ऐसी चट्टानों के जमाव में विशेष महीन कण वाले अवसाद अथवा चीका प्रधान अवसादों की बहुलता रहती है। इस कारण ऐसी शेलें रन्ध्रमय नहीं होती एवं इनसे होकर पानी निकल नहीं सकता। सिल्ट एवं चीका दोनों ही इसी प्रकार की चट्टानें हैं। सिल्ट एवं चीका के संगठित हो जाने पर शेल का निर्माण होता है। इन चट्टानों पर अपरदन एवं अपक्षय का तत्काल प्रभाव पड़ता है, अत: चीका मिट्टी प्रधान प्रदेशों में बहता जल शीघ्रता से गहरे कटाव द्वारा बीहड़ों (Ravines) की रचना करता रहता है। शेल (Shale) चट्टानों के अप्रवेश्य होने के कारण ही इनमें तेल भण्डार संचित रहते हैं।

प्र.4. अपक्षय के स्वरूपों को नियन्त्रित करने वाले कारकों को संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर

अपक्षय के स्वरूप को नियन्त्रित करने वाले कारक
(Factors Controlling the Form of Weathering)

धरातल पर अपक्षय का स्वरूप सर्वत्र एक जैसा नहीं रहता है। यह मुख्यत: निम्न कारकों एवं उन पर आधारित क्रियाओं का परिणाम होता है—

1. **वायुमण्डलीय क्रियाएँ**—सभी प्रकार की वायुमण्डलीय क्रियाओं का आधार प्रधानत: सौर ऊर्जा है, अत: भूतल पर उसकी प्राप्ति, वायुमण्डल का तापमान, दैनिक व मौसमी अन्तर, वायु में नमी व संघनन के रूप, हिम व जलवृष्टि आदि सभी कारक मिलकर भौतिक अपक्षय के लिए आधार बनाते हैं। उष्ण कटिबन्धीय शुष्क प्रदेश भौतिक अपक्षय के लिए आदर्श माने जाते हैं। यहाँ दिन में ऊँचे तापमान से चट्टानें आग की भाँति गर्म हो जाती हैं एवं रात्रि के पिछले प्रहर में शीतल हो जाती हैं। इससे चट्टानों के खनिज गर्मी में प्रसारित होते एवं शीतल होने पर सिकुड़ते हैं। ऐसी क्रिया निरन्तर होने से ही चट्टानें टूटती-फूटती हैं। कठोर चट्टानों में भी दरारें पड़ने लगती हैं। शीतोष्ण शुष्क प्रदेशों में मामूली नमी एवं शीतकाल के प्रभाव से पानी बर्फ में बदलकर चट्टानों का भौतिक अपक्षय करता है। उष्ण व तर या विशेष आर्द्र प्रदेशों में ऊँचे तापमान वाले जल में अनेक गैसें मिलकर कई प्रकार के क्षारों व लवणों को घोल लेती हैं। इससे चट्टानों के खनिजों में अपघटन एवं रासायनिक परिवर्तन होने लगता है।

2. **चट्टानों की विशेषताएँ एवं संरचना**—अपक्षय किसी भी प्रकार से हो, उस पर चट्टानों की संरचना, खनिज संघटन एवं उसकी सन्धियों (Joints) के स्वरूप जैसी विशेषताओं का प्रभाव पड़ता है। कठोर चट्टानों में रासायनिक क्रियाएँ बहुत सीमित स्तर पर होती हैं। ऐसी चट्टानों का भौतिक या यान्त्रिक अपक्षय भी चट्टानों की सन्धियों या दरारों के सहारे ही होगा एवं चट्टानें बड़े-बड़े खण्डों में टूटेंगी। मुलायम खनिज वाली अथवा रन्ध्रमय चट्टानों का कणमय विखण्डन या भौतिक अपक्षय भी शीघ्र होगा। रासायनिक अपघटन के प्रभाव से भी ऐसी चट्टानें शीघ्र अपना रूप बदलकर एवं घुलकर नष्ट हो जाएँगी। इसी भाँति यदि चट्टानों की परतें लम्बवत् या खड़ी हैं तो क्षैतिज परतों वाली चट्टानों की अपेक्षा उन पर ताप परिवर्तन, तुषार एवं पाले की क्रिया का विशेष प्रभाव पड़ेगा।
3. **भूमि का ढाल**—अपक्षय में ढाल का विशेष महत्त्व है। अधिक ढालू चट्टानी भूभाग पर प्रायः रासायनिक अपक्षय कठिनाई से हो पाता है। भौतिक अपक्षय से विघटित चट्टानें शीघ्र ढाल से फिसलकर पर्वतपदीय क्षेत्र में इकट्ठी होती जाएँगी। ढालू क्षेत्रों में वृहद् क्षरण भी ज्यादा होगा। जब सिर्फ तीव्र ढाल के प्रभाव से ही अपक्षय द्वारा एकत्रित या ढीला हुआ पदार्थ बिना गतिशील शक्ति की सहायता के नीचे गिरता जाता है, तो इसे वृहद क्षरण (Mass wasting) कहा जाता है। अर्थात् मात्र ढाल एवं गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से ही पदार्थों का स्थान परिवर्तन होता है। यहाँ पर भौतिक अपक्षय के लिए भीतरी चट्टानें शीघ्र सतह पर आती जाएँगी जबकि कम ढालू एवं समतलप्राय क्षेत्रों में ऊपरी परत वहीं बनी रहने से चट्टानों में भौतिक अपक्षय मात्र ऊपरी परत पर ही प्रभावी होगा। यहाँ पर रासायनिक अपक्षय सिर्फ आर्द्र जलवायु होने पर ही सम्भव है। इसी कारण पर्वत शिखरों के निकट तथा खड़े ढाल वाले चट्टानी क्षेत्रों में अपक्षय अधिक होता है।
4. **जैव-जगत**—वनस्पति एवं प्राणी भी अपक्षय को प्रभावित करते हैं। यद्यपि वनस्पति मिट्टी का कटाव रोकती है, किन्तु कठोर चट्टानी प्रदेश में पादपों की जड़ों को जगह ढूंढने के लिए चट्टानों का अपक्षय आवश्यक हो जाता है। वन प्रदेशों में अपक्षय कम होता है एवं मिट्टी का संरक्षण अधिक होता है। इसी प्रकार तापमान की समरूपता व पाले का प्रभाव कम रहने से वनस्पति वाले प्रदेशों में अपक्षय सीमित ही रहता है। विभिन्न जीव-जन्तु भी भौतिक व रासायनिक अपक्षय की दर को प्रभावित करते हैं।

प्र.5. वृहत क्षरण का अर्थ व परिभाषा को समझाइए तथा इसकी दरों का उल्लेख संक्षेप में दीजिए।

उत्तर

वृहत क्षरण
(Mass Wasting)

अर्थ व परिभाषा—अपक्षय द्वारा चट्टानों के विघटन एवं वियोजन द्वारा उत्पन्न विखण्डित शैलीय पदार्थ या शैल अपशिष्ट (rock waste) के गुरुत्व बल से ढाल के सहारे गतिशील होने की प्रक्रिया को वृहत क्षरण (Mass Wasting) कहते हैं। यह एक भूआकृतिक प्रक्रिया है, जिसमें गुरुत्व बल के प्रभाव से मिट्टी, रेत, शैल चूर्ण व शैल खण्ड निचले ढाल की ओर गति करते हैं। भूगोल परिभाषा कोश के अनुसार "किसी ढाल पर गुरुत्व (gravity) के प्रभाव स्वरूप पदार्थ का नीचे की ओर खिसकना या गिरना वृहत क्षरण कहलाता है।" वृहत क्षरण को वृहत् संचलन (mass movement) या ढाल संचलन (slope movement) भी कहते है।

वृहत क्षरण स्थलीय एवं सागरीय दोनों ही ढालों पर होता है। इस प्रक्रिया को मात्र पृथ्वी पर ही नहीं अपितु बुध, शुक्र, बृहस्पति आदि अन्य ग्रहों पर भी अंकित किया गया है।

वृहत क्षरण की दर—वृहत क्षरण की दर या संचलन की गति विभिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न होती है। ढाल की तीव्रता, पदार्थ की प्रकृति, जल या बर्फ की मात्रा इत्यादि कारक गति को प्रभावित करते हैं। कहीं बहुत मंद गति होती है, तो कहीं तीव्र। संचलन की दर के आधार पर वृहत क्षरण को निम्न तीन वर्गों में रख सकते हैं—

1. **मन्द गति से बहाव** (Flowage)—इसमें अपक्षयित पदार्थ में जल की थोड़ी मात्रा स्नेहक के रूप में होने से मन्द गति से खिसकता रहता है। मृदा सर्पण (creeping) इसका उदाहरण है।
2. **तीव्र गति से बहाव**—इसमें स्नेहक कारक के रूप में जल की पर्याप्त मात्रा होने के कारण अपक्षयित मलवा का बहाव तीव्र गति से होता है। पंक वाह (mud flow) इसका उदाहरण है।
3. **त्वरित गति से स्खलन**—इसमें अपक्षयित पदार्थ या शैल अपशिष्ट त्वरित गति से खिसकता है या पतन होता है। भूस्खलन (landslide) इसका उदाहरण है।

प्र.6. वृहत क्षरण के उत्तरदायी कारकों का वर्णन तथा सामान्य वर्गीकरण संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

वृहत क्षरण के कारक
(Factors of Mass Wasting)

जब पहाड़ी ढाल पर पदार्थों का भार सतह के प्रतिरोध से अधिक हो जाता है, तो पदार्थ ढाल के सहारे नीचे की ओर गतिशील हो जाते हैं। अधिभार में वृद्धि करने वाले प्राकृतिक कारकों में वर्षा जल, हिम, टालस आदि सम्मिलित हैं। विभिन्न अपरदन एवं अपक्षयकारी कारकों द्वारा कटाव के कारण ढाल तीव्र होने से ढालों के नीचे का सहारा समाप्त हो जाता है, अत: प्रतिरोध नहीं रहता है। अवतलन व भ्रंशन से भी ढाल की तीव्रता में वृद्धि हो सकती है। भूकम्पीय हलचल का भी तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक कारकों के अलावा अनेक मानवीय गतिविधियाँ (खनन, निर्माण, विस्फोट आदि) भी वृहत क्षरण की दर को प्रभावित करती है।

वृहत क्षरण का वर्गीकरण—विभिन्न क्षेत्रों में क्षरण या संचलन की दर, दिशा एवं रूप में भिन्नता पायी जाती है। वृहत क्षरण का वर्गीकरण अनेक आधार पर किया जाता है। इसका सामान्य वर्गीकरण निम्नानुसार है—

1. **पात** (Fall)—
   (i) शैल पात (Rock fall) (ii) मलवा पात (Debris fall)
   (iii) भूमि पात (Land fall)
2. **स्खलन** (Slide)—
   (i) शैल स्खलन (Rock slide) (ii) मलवा स्खलन (Debris slide)
   (iii) भूमि स्खलन (Land slide)
3. **लुढ़कन** (Topple)—
   (i) शैल लुढ़कन (Rock topple) (ii) मलवा लुढ़कन (Debris topple)
   (iii) भूमि लुढ़कन (Land topple)
4. **बहाव** (Flow)—
   (i) शैल बहाव (Rock flow) (ii) मलवा बहाव (Debris flow)
   (iii) भूमि बहाव (Land flow)
5. **सर्पण** (Creep)—
   (i) शैल सर्पण (Rock creep) (ii) मृदा सर्पण (Soil creep)
   (iii) टालस सर्पण (Talus creep)
6. **पार्श्विक प्रसार** (Lateral Spread)।

प्र.7. भ्रंश से बनने वाली स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

भ्रंश से बनी स्थलाकृतियाँ
(Topography due to Fault)

भ्रंश से मुख्यत: ब्लाक या भ्रंशोत्थ पर्वत, दरार घाटी एवं विशेष दशा में भ्रंश कगार का विकास होता है—

1. **ब्लाक या भ्रंशोत्थ पर्वत** (Block Mountain or Horst)—जब भ्रंश क्रिया के द्वारा या तो दरारों के मध्य का भाग ऊपर उठ जाए अथवा मध्य का भाग स्थिर रहे एवं भ्रंश तल के सहारे दोनों ओर की चट्टानें नीचे की ओर खिसक जाएँ तो ब्लाक पर्वत बनता है। इस प्रकार के पर्वत के दोनों और तेज ढाल एवं ऊपरी तल समतलप्राय होते हैं। इसे जर्मन भाषा में हॉर्स्ट कहते हैं। यूरोप में वास्जेज, ब्लेक फोरेस्ट एवं हॉर्स्ट ब्लॉक; संयुक्त राज्य अमेरिका में वासाच श्रेणी व सियेरा नेवादा, पाकिस्तान की साल्टरेंज इसके विशेष उदाहरण हैं।
2. **भ्रंश या दरार घाटी** (Rift Valley)—भ्रंश या दरार घाटी के निर्माण में दो समानान्तर प्राय: भ्रंश काफी दूरी तक विकसित होते हैं। इनके बीच का भाग नीचे धंस जाता है। इसी नीचे धँसे भाग को भ्रंश घाटी या दरार घाटी कहते हैं। अधिकांशत: ये घाटियाँ अधिक संकरी एवं पर्याप्त गहरी होती है। विश्व की सबसे लम्बी एवं आश्चर्यजनक दरार घाटी इजरायल व जोर्डन से प्रारम्भ होकर पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे पठारी भाग की पश्चिमी सीमा पर जाम्बिया तक लगभग 4,500 किमी लम्बाई में फैली हुई है। इसमें अनेक झीलें एवं लाल सागर फैला है। इसी भाँति राइन नदी की घाटी भी प्रसिद्ध भ्रंश घाटी है। यह 32 किमी चौड़ी एवं 320 किमी लम्बी है। जर्मनी में राइन घाटी, संयुक्त राज्य अमेरिका में

डेथवेली, जॉर्डन में मृतसागर, आस्ट्रेलिया में स्पेन्सर की खाड़ी, भारत में नर्मदा व ताप्ती घाटी, जापान में फोसा मेगना, जावा व फिलीपीन्स के गर्त भ्रंश घाटियों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ग्रैबन (Graben) भ्रंश घाटी का छोटा रूप होता है। भ्रंश घाटी एवं ग्रैबन महासागरों की गहरी तली में भी खाइयों के रूप में फैले हैं।

3. **भ्रंश कगार** (Fault Scrap)—भ्रंश कगारों का निर्माण विशेष दशा में ऊँचे धरातल के एक ओर भ्रंश एवं धँसाव के कारण होता है। भारत में पश्चिमी घाट के किनारे का खड़ा ढाल भ्रंश कगार का ही हिस्सा है। करोड़ों वर्ष पहले दक्षिण का पठार अधिक चौडाई में दूर पश्चिम तक फैला था, किन्तु महाद्वीपीय विस्थापन के समय पश्चिमवर्ती भाग एक विशाल दरार एवं भ्रंश तल के सहारे टूट गया। इसी कारण पश्चिमी घाट के समुद्र की ओर के खड़े ढालों को भ्रंश कगार भी कहते हैं। ऐसे भ्रंश कगार दक्षिणी अफ्रीका में कारू के सीढ़ीनुमा ढाल के सहारे भी पाए जाते है।

प्र.8. भू-पटल की अन्तर्जात शक्तियों का वर्गीकरण करते हुए उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर

अन्तर्जात शक्तियाँ एवं पटल विरूपण
(Endogenetic Forces and Diastrophism)

इन शक्तियों की उत्पत्ति या विकास पृथ्वी के आन्तरिक भागों में होता है। भू-गर्भ में ताप, दबाव, जलवाष्प एवं गैसों की क्रिया, संकुचन एवं चट्टानों का चटकना, रेडियोधर्मी पदार्थों से निकले ताप का विशिष्ट प्रभाव आदि मिलकर पृथ्वी पर दीर्घकालिक एवं अल्पकालिक परिवर्तन लाते रहते हैं। अन्तर्जात शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—(1) दीर्घकालिक या पटल विरूपण शक्तियाँ, जिनके द्वारा बहुत लम्बे समय में धीमी गति से भूतल पर परिवर्तन होता रहता है। इसमें महाद्वीपीय व पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ, स्थानीय भूतल के ऊपर उठने (उत्थान) एवं नीचे धंसाव (निमज्जन) की घटनाएँ, लम्बवत् मोड़, भ्रंश, वलन जैसी घटनाएँ मुख्यत: आती हैं। (2) आकस्मिक शक्तियों के अन्तर्गत भूतल पर अचानक या यकायक तेजी से परिवर्तन या प्रलय जैसा दृश्य घटित हो जाता है। ज्वालामुखी उद्‌गार एवं भूकम्प ऐसी ही शक्तियाँ हैं।

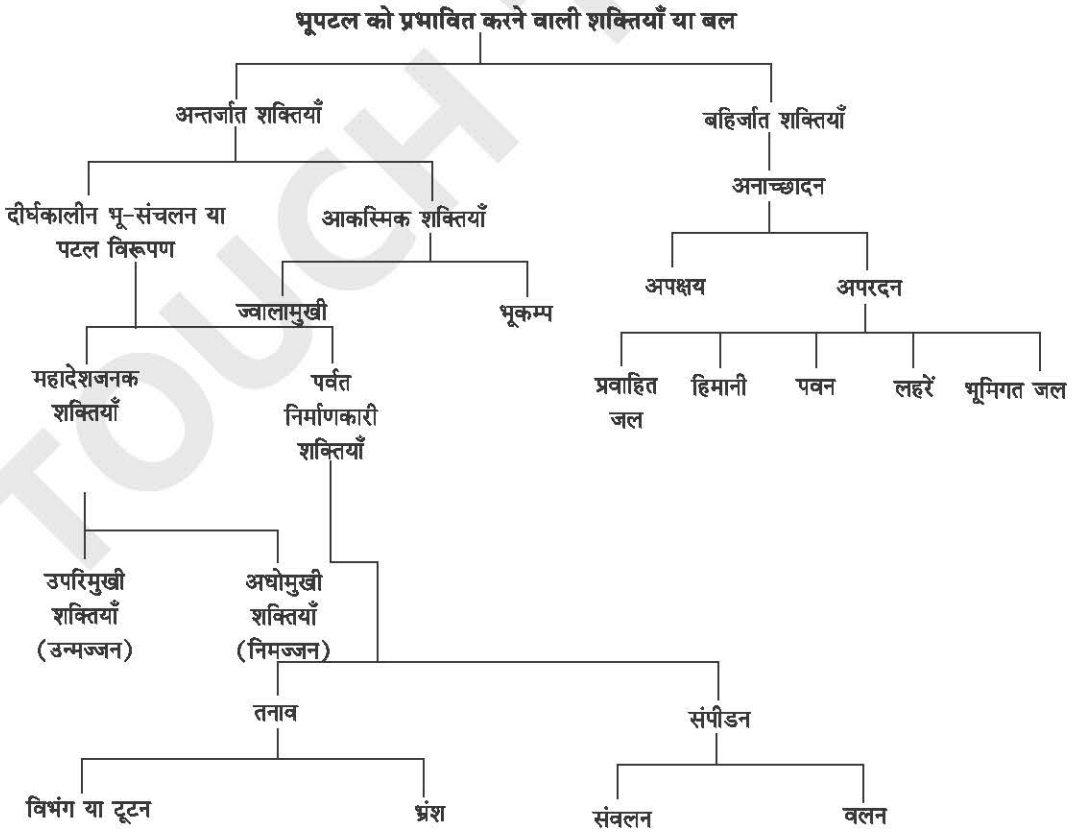

प्र.9. अपरदन के रूपों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर

अपरदन के रूप
(Forms of Erosion)

अपरदन की क्रिया चट्टानों पर विविध प्रकार से प्रभावी रहती है—

1. **अपघर्षण** (Abrasion)—जब अपरदन के कारक (नदी, हवा, हिमानी आदि) ढीली संरचना वाली चट्टानों के पदार्थों को अपने साथ बहाते हैं तो ऐसे पदार्थ संपर्क में आने वाली चट्टानों से रगड़ खा-खाकर उन्हें घिसते रहते हैं। इसे ही अपघर्षण कहते हैं। इस क्रिया से और भी अधिक पदार्थ अपरदित होते रहते हैं।
2. **सन्निघर्षण** (Attrition)—यह भी अपरदन की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसमें हवा, नदी एवं लहरों द्वारा विशेष रूप से बहाए गए पदार्थ आपस में टकराकर, रगड़ खा-खाकर चूरे में बदलते जाते हैं। इसके साथ-साथ अपघर्षण की क्रिया भी होती रहती है। इससे नुकीले पत्थर गोल बनते जाते हैं और धीरे-धीरे बालू व मिट्टी बनती रहती है।
3. **घोलन या संक्षारण** (Corrosion)—यह क्रिया मुख्यत: प्रवाहित जल, भूमिगत जल एवं लहरों द्वारा होती है। इसमें चट्टानों में मिलने वाले अनेक लवण, क्षार व अन्य घुलनशील पदार्थ पानी में घुलते जाते हैं। पानी का बदलता स्वाद इसी कारण होता है।
4. **जलदाब क्रिया** (Hydraulic Action)—यह एक भौतिक क्रिया है, जिसका प्रभाव मुख्यत: बहते जल एवं लहरों के कार्य में देखा जा सकता है। इसमें जब पानी का दबाव एक स्थान विशेष पर क्रियाशील हो तो चट्टानें टूटती जाती हैं। नदी में भंवर की क्रिया अथवा लहरों का गुफाओं में फंसकर चट्टानों के छेद को बड़ा करने जैसी क्रिया इसके प्रमुख उदाहरण हैं।
5. **अपवाहन एवं परिवहन** (Deflation and Transportation)—अपवाहन की क्रिया का मुख्य कारक वायु है। नदी, हिमानी एवं लहरों द्वारा अवसाद ले जाना परिवहन कहलाता है। वायु भौतिक अपक्षय द्वारा एकत्रित बालू को एक स्थान से उड़ाकर अन्य स्थान पर ले जाती है, जबकि अन्य कारक पदार्थों को भूमि पर अपने साथ बहाकर या परिवहित करके ले जाते हैं। दोनों ही दशाओं में अपक्षय से एकत्रित या अपरदित पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जाते हैं।

अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण की क्रियाओं से भूतल की अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती-बिगड़ती तथा संशोधित होती रहती हैं।

प्र.10. डेविस व पेंक की धारणाओं का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

उत्तर

डेविस तथा पेंक के मतों की तुलना
(Comparison of Davis and Penck Theories)

1. डेविस के अनुसार पहले उत्थान पूर्ण हो जाता है फिर अपरदन प्रारम्भ होता है। दोनों साथ-साथ क्रियाशील नहीं होते हैं, जबकि पेंक के अनुसार उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ क्रियाशील होते हैं। कुछ समय बाद उत्थान की दर कम हो जाती है, किन्तु अपरदन अन्त तक चलता है।
2. डेविस की संकल्पना में स्थलखण्ड के उत्थान की अवधि बहुत कम तथा उत्थान की दर बहुत तीव्र है, जबकि पेंक की संकल्पना में उत्थान की अवधि लम्बी, मध्यम या कम भी हो सकती है तथा उत्थान की दर कभी भी समान नहीं होती है।
3. डेविस के चक्र का प्रारम्भ संरचना की दृष्टि से भिन्न भागों पर होता है, जबकि पेंक के अपरदन चक्र का प्रारम्भ समान संरचना वाले फैलते हुए गुम्बद (प्राइमारम्प) से होता है।
4. डेविस का अपरदन चक्र तीन अवस्थाओं (युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व जीर्णावस्था) में पूर्ण हो जाता है, जबकि पेंक ने अपरदन चक्र में कोई अवस्थाएँ नहीं मानी हैं। उसने स्थलखण्ड के उत्थान की दर की तीन प्रावस्थाएँ या दशाएँ (आफस्तीजिण्डे, ग्लीखफार्मिंग व आबस्तीजिण्डे) मानी हैं।
5. डेविस की संकल्पना में ढालों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है, जबकि पेंक ने ढालों के विकास को महत्त्वपूर्ण माना है।
6. डेविस के अनुसार दृश्यभूमि संरचना, प्रक्रम और अवस्था का परिणाम है, जबकि पेंक के मतानुसार यह उत्थान की दर तथा निम्नीकरण की दर के आपसी सम्बन्ध का परिणाम है।

7. डेविस के चक्र की तीन अवस्थाओं में से प्रथम व द्वितीय में उच्चावचन बढ़ता है और तृतीय अवस्था में कम होता है, जबकि पेंक के चक्र की पाँच दशाओं में से प्रथम दशा में उच्चावचन बढ़ता है, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ दशा में स्थिर रहता है तथा अन्तिम दशा में उच्चावचन घटता है।
8. डेविस ने अपरदन चक्र की अन्तिम दशा को समतलप्राय मैदान (Peneplain) कहा है, जबकि पेंक ने इसे इण्ड्रम्प मैदान कहा।
9. पेंक का अनुभव मात्र यूरोप के आल्पस प्रदेश का कुछ भाग ही रहा, वहीं डेविस ने अपने लम्बे जीवन काल में विश्व के सभी प्रदेशों में बहते जल, हवा, तटीय भाग, हिमानी आदि सभी प्रकार के प्रदेशों का अध्ययन कर अपना मत एक परिपक्व विद्वान की भाँति प्रकट किया। इसी कारण सिर्फ जर्मनी को छोड़ शेष सारे विश्व में डेविस के कार्यों की प्रशंसा की गई।
10. डेविस की अपरदन चक्र व्यवस्था को आगे की ओर झाँकने वाली (अग्रमुखी) बताया गया, जबकि पेंक की विचारधारा को वूलरिज व मोर्गन जैसे विद्वानों ने भी अस्पष्ट व पीछे की ओर झाँकने वाली (पृष्ठमुखी) कहा।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पेंक द्वारा प्रस्तुत अपरदन चक्र की संकल्पना का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर

पेंक की अपरदन चक्र संकल्पना
(Cycle of Erosion Hypothesis of Penck)

अपरदन चक्र पर जर्मन विद्वान वाल्टर पेंक ने अपने विचार 1924 में जर्मन भाषा में प्रकट किए। दुर्भाग्यवश उसकी अल्प आयु में ही मृत्यु हो जाने से वह अपने विचार समुचित रूप से प्रस्तुत एवं विकसित नहीं कर सका। पेंक की मान्यतानुसार किसी क्षेत्र में स्थलरूप का आकार वहाँ होने वाली विवर्तनिक क्रिया से सम्बन्धित होता है। स्थलरूप संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का परिणाम न होकर उत्थान की दर तथा अपरदन की दर के बीच सम्बन्ध का प्रतिफल होता है। यह सम्बन्ध नदी घाटी के ढाल को भी प्रभावित करता है। उसने किसी स्थलाकृति के ऊपर उठने की विविध अवस्थाओं के साथ-साथ उसमें निहित अपरदन क्रिया के प्रभाव को भी समझाया। उसने स्थलरूपों के उत्थान की अवस्था के लिए युवा, प्रौढ़ एवं वृद्धावस्था का प्रयोग नहीं करके भिन्न शब्दावली का प्रयोग किया, जो समय की सूचक न होकर स्थलरूप के विकास की घोतक है।

सिद्धान्त की प्रक्रिया (Process of Theory)

भू-गर्भशास्त्री पेंक ने डेविस के अपरदन चक्र को चुनौती देते हुए अपनी विचारधारा प्रस्तुत की। पेंक स्थलरूप के उत्थान के साथ ही अपरदन का भी प्रारम्भ मानते हैं। उत्थान की क्रिया प्रारम्भ में तीव्र, बीच में समान तथा अन्त में मन्द होती है। उसने बताया कि स्थलरूपों का विकास समय पर आधारित न होकर समय स्वतन्त्र (time independent) होता है। पेंक ने स्थलखण्ड के उत्थान की दर के अनुसार तीन अवस्थाएँ मानी—

1. **आफस्टीजिण्डे इंटिवकलुंग**—यह उत्थान की प्रथम अवस्था है। इसमें स्थलरूपों का तेजी से उत्थान होता है। इसके साथ ही अपरदन चक्र प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु लम्बवत् अपरदन की तुलना में उत्थान अधिक होता है, इसमें स्थलरूप तेजी से विकसित होता है।
2. **ग्लीखफार्मिंग इंटिवकलुंग**—यह उत्थान की द्वितीय अवस्था है। इसमें अपरदन तथा उत्थान क्रिया समान दर से होती है। इस समय तक अपरदन चक्र यौवन दशा को प्राप्त कर लेता है। नदियों के पार्श्ववर्ती उन्नतोदर ढाल अपरदित होकर सीधे हो जाते हैं।
3. **आबस्तीजिण्डे इंटिवकलुंग**—यह उत्थान की अन्तिम अवस्था है, जिसमें उत्थान की दर मन्द हो जाती है तथा स्थलरूप ह्रास की ओर अग्रसर होता है। अन्त में भूभाग एक समतलप्राय मैदान में विकसित हो जाता है, जिसे पेंक ने 'इन्ड्रम्प' कहा।

अपरदन चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन (Demonstration of Erosion Cycle by a Graph)

पेंक ने अपरदन चक्र की ग्राफीय व्यवस्था को डेविस से भिन्न प्रकार से समझाया। इस ग्राफ में उत्थान की दशा एवं अपरदन प्रक्रिया को समान महत्त्व दिया गया है। उसके अनुसार ऐसे ग्राफ के विकास में उत्थान का, अर्थात् अन्तर्जात शक्तियों का महत्त्व कम नहीं आँका जा सकता। इस ग्राफ में क्षैतिज रेखा (क ख) के सहारे समय व सागर तल तथा लम्बवत् अक्ष (क ग) पर ऊँचाई को दर्शाया गया गया है। उसने उच्चावचन के विकास की पाँच दशाएँ (phases) बताईं—

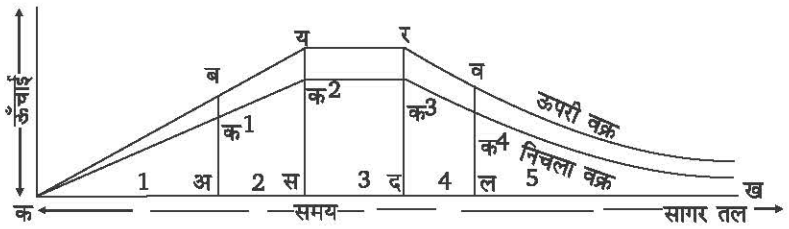

चित्र : पेंक के चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन

1. **प्रथम दशा**—जब नवीन भू-प्रदेश का उत्थान होता है तो यह उसकी प्रथम दशा कहलाती है। इस दशा में यद्यपि उत्थान और अपरदन दोनों ही कार्य साथ-साथ होते हैं, फिर भी उत्थान निरन्तर व अपेक्षाकृत तेज गति से होता है। अत: स्थल खण्ड की सामान्य ऊँचाई बढ़ती जाती है। इस अवस्था में घाटियों के गहरा करने की कम क्षमता होने से ढाल उन्नतोदर होता है। दोआब क्षेत्र समतल बने रहते हैं।
2. **द्वितीय दशा**—इस दशा में भू-प्रदेश के ऊपर उठने के साथ-साथ अपरदन भी निरन्तर गतिशील रहता है। इसी कारण कटाव की क्रिया उत्थान के साथ अपना समन्वय बनाए रखती है। अत: दोआब की भूमि एवं घाटियाँ पर्वतपदीय भागों की ओर नीची होती जाती हैं। ज्यों-ज्यों इस दशा में उत्थान होता है त्यों-त्यों घाटी का अपरदन होने से उसके गहरे होने की प्रक्रिया भी उसी से समन्वय बनाए रखती है। दोआब के बीच के भाग उभरे हुए एवं नुकीले हो जाते हैं।
3. **तृतीय दशा**—पाँच दशा क्रम में यह मध्यवर्ती दशा है। इस दशा में उत्थान व अपरदन की स्पर्धा होती है। उत्थान जारी रहता है, किन्तु अपरदन भी बराबर सक्रिय रहने के कारण उच्च भाग अधिक ऊँचे नहीं हो पाते हैं। उसने उदाहरण दिया कि आल्पस एवं हिमालय में उत्थान के अन्तिम काल में यही दशा रही होगी।
4. **चतुर्थ दशा**—समतलीकरण की दृष्टि से यह दशा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस दशा में ऊपर उठने की गति निरन्तर कम होती रहती है, परन्तु अपरदन की क्रिया पहले की भाँति ही महत्त्वपूर्ण बनी रहती है। अत: नदी घाटियाँ अधिक गहरी होती जाती हैं। धरातल के ऊपरी एवं निचले भागों के मध्य अन्तर भी अधिक बना रहता है।
5. **पंचम दशा**—पेंक के अनुसार यह दशा सबसे लम्बी होती है। इस दशा में ऊपर उठने की गति एकदम घट जाती है। अपरदन भी क्षीण पड़ जाता है। नकीले पर्वतीय टीले गोलाकार होने लगते हैं। नदियों के कटाव की क्षमता घट जाती है। पृष्ठीय अन्तर न्यूनतम हो जाता है।

आलोचना—पेंक द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त को डेविस जितनी मान्यता नहीं मिली। दुरूह जर्मन भाषा में प्रकाशन तथा अंग्रेजी अनुवादकों द्वारा गलत व्याख्या के कारण इसका प्रचार बहुत कम हो सका। इसके प्रति प्रमुखत: निम्न आपत्तियाँ उठाई गईं—

1. उत्थान व निम्नीकरण की दर के सम्बन्ध की व्याख्या भ्रामक लगती है। इसे कभी तीव्र, कभी मन्द तो कभी दोनों को समान बताते हैं।
2. स्थलरूपों के विकास में ढालों को विशेष महत्व दिया, जो कि एक संकुचित दृष्टिकोण माना गया।

प्र.2. अपरदन चक्र की बाधा या पुनर्नवीकरण की परिभाषा दीजिए तथा इसके कारकों को बताते हुए विस्तृत विवेचन कीजिए।

उत्तर

अपरदन चक्र की बाधा या पुनर्नवीकरण
(Interruption in Cycle of Erosion or Rejuvination)

सामान्यत: यह देखा गया है कि कोई भी भू-आकृति पूर्णत: डेविस या पेंक द्वारा सैद्धान्तिक रूप से समझाई गई चक्रीय व्यवस्था का उसी रूप में अनुकरण नहीं करती। किसी प्रदेश की घाटी के सामान्य विकास क्रम में युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था एवं पेनीप्लेन की दशाओं का विकास क्रमश: होना चाहिए। ऐसी दशाओं के सम्पूर्णत: विकास के लिए पृथ्वी के विशेष प्रदेश को कुछ करोड़ वर्षों का समय सामान्य संरचना वाले प्रदेश में चाहिए। अत: यह मानना कि कुछ करोड़ वर्षों तक पृथ्वी का धरातल स्थिर या अपरिवर्तित रहेगा, किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है। इसे डेविस व पेंक भी अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर चुके हैं। ऐसी दशा में सम्पूर्ण स्थलखण्ड या उसका एक विशेष भाग ऊपर उठने पर अथवा हिमयुग आने पर महासागरीय तल नीचे चले आने पर अथवा किसी भी कारण से सारे स्थलखण्ड या उस प्रदेश विशेष में बीच-बीच में अपरदन चक्र का नवीन रूप विकसित हो जाता है। इसे ही अपरदन चक्र की बाधा या

भू-आकृति का पुनर्नवीकरण (Rejuvination) कहते हैं। दूसरे अर्थों में अपरदन चक्र के विकास में बाधा आना या पुनर्नवीकरण की स्थिति का विकास सामान्य घटना है। अपरदन चक्र की बाधा निम्न कारकों से उत्पन्न हो सकती है—

1. **स्थलमण्डल का ऊँचा अथवा नीचा होना**—आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से ऐसा होता रहता है। जब कोई स्थलखण्ड प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर पुन: ऊपर उठ जाता है, तो वहाँ की नदियाँ सारे प्रदेश को पुन: युवावस्था में पहुँचा सकती हैं। इससे वह स्थलखण्ड पुनर्नवीकरण की दशा में पहुँच जाता है। इसी भाँति यदि किसी स्थलखण्ड का एक भाग नीचे धँस जाए तो वहाँ बड़ी झील बन जाएगी। इससे सारे प्रदेश की प्रवाह प्रणाली या नदी घाटी व्यवस्था एवं आधारतल ही बदल जाएगा। इस नई व्यवस्था में वह स्थलखण्ड पुन: युवावस्था में पहुँच जाएगा।
2. **समुद्र तल में परिवर्तन**—यह एक विश्वव्यापी घटना है। प्लीस्टोसीन हिमयुग के लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व विश्व के अनेक भागों की नदियाँ प्रौढ़ावस्था में एवं कई उत्तर प्रौढ़ावस्था की स्थिति में पहुँच चुकी थीं, किन्तु हिमयुग आने से सागर तल 60 मीटर नीचे चला गया। आधार तल में ही अन्तर आ जाने से विश्वव्यापी स्तर पर सभी नदियों की अपरदन क्षमता तेजी से बढ़ गई। इसी कारण सारा प्रदेश अपनी घाटी को पुन: विकसित करने लगा। किन्तु जब हिमयुग लौट जाते हैं तो बर्फ पुन: पानी बनकर सागर तल को ऊँचा उठा देती है। इस प्रकार भू-आकृति के अपरदन चक्र में स्थानीय एवं विस्तृत क्षेत्र में अनेक प्रकार से बाधाएँ पहुँचती है।
3. **नदी अपहरण**—नदी घाटी की अवस्थाओं के विकास एवं नदी की कार्यक्षमता पर नदी अपहरण की घटना का शीघ्र प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जब कोई नदी निकट की नदी के पानी को अपने में शामिल कर लेती है तो मुख्य नदी में पानी बढ़ने से उसकी कटाव की क्षमता भी बढ़ने लगती है। इससे भी थोड़े समय के लिए घाटी के अपरदन चक्र के विकास में बाधा पहुँचती है।
4. **नदी में अवसादों की कमी**—घाटी या भू-आकृति की संरचना अपरदन चक्र के विकास के साथ बदल भी सकती है। नदी घाटी का निचला तल यदि कठोर चट्टानों का है तो घाटी में अवसाद घटने लगेंगे। इससे पानी के बहाव की गति बढ़ने लगेगी, क्योंकि जब नदी में अवसाद अधिक होते हैं तो पानी के बहाव की गति घटने लगती है। अवसाद घटने पर पानी की गति बढ़ेगी। इससे आगे की घाटी में अधिक तेजी से कटाव हो सकता है। अत: वहाँ का अपरदन चक्र प्रभावित होगा।
5. **ज्वालामुखी क्रिया**—नदी के मार्ग में ज्वालामुखी उद्‌गार से फैला लावा घाटी को ऊपर उठा देता है, तो वह भाग पुन: पहले वाली अपरदन चक्र की अवस्था में लौट आता है।

अन्य कारणों में महाद्वीपों या विशाल प्रदेश की जलवायु में परिवर्तन, नदी के मार्ग की झील का भरना या झील का निकास मार्ग घटना, वायुमण्डलीय गैसों के संघठन में परिवर्तन आने से संघनन क्रिया एवं सौर ऊर्जा वितरण पर प्रभाव जैसे कारण भी प्रभाव डालते हैं।

प्र.3. डेविस के अपरदन चक्र की संकल्पना का आलोचनात्मक परीक्षण तथा आलेखी ग्राफ द्वारा प्रदर्शन कीजिए।

उत्तर

डेविस के भौगोलिक चक्र की संकल्पना
(Geographic Cycle Hypothesis of Davis)

अमेरिकी भूगोलवेत्ता डेविस के 1899 में भौगोलिक चक्र या अपरदन चक्र की संकल्पना का प्रतिपादन किया। उसने बताया कि स्थलरूपों के विकास पर संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का प्रभाव होता है। (A landscape is a function of structure, process and stage.) इन तीनों कारकों (संरचना, प्रक्रम एवं अवस्था) के डेविस के त्रिकूट (Trio of Davis) अथवा त्रिसंतुलन (Trio-isostasy of Davis) के नाम से जाना जाता है।

1. **संरचना** (Structure)—संरचना से अर्थ मुख्यत: पृथ्वी की सतह पर पाई जाने वाली चट्टानों की आकृति, बनावट, उसमें पाए जाने वाले तत्त्वों की कटाव सहने की क्षमता, नमन कोण, खनिज रचना, वलन, भ्रंश, सन्धि, सरन्ध्रता आदि से है। थॉर्नबरी के मतानुसार चट्टानों की संरचना ही स्थलाकृतियों के निर्माण में आधारभूत होती है, क्योंकि संरचना का निर्माण प्रथम क्रिया है तथा भू-आकृतियों का निर्माण बाद की घटना है। इस प्रकार स्थलाकृतियों के निर्माण में संरचना की अमिट छाप रहती है। संरचना बलुई या अवसादी मिट्टी जैसी मुलायम एवं आसानी से कटने वाली से लेकर ग्रेनाइट, गैब्रो व अन्य कठोर चट्टानों की भाँति अपरदन को दृढ़ता से सहने वाली अथवा उनके बीच की कोई भी हो सकती है। भू-आकृतियों के विकास में संरचना आधारभूत घटक है।
2. **प्रक्रम** (Process)—स्थलाकृति का स्वरूप निर्धारित करने में उस पर प्रभावी प्रक्रम का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। पवन, प्रवाहित जल, लहरें, भूमिगत जल, हिमानी आदि प्रमुख प्रक्रम हैं। थॉर्नबरी के अनुसार, "भू-आकृतियों के निरन्तर विकास में सर्वत्र प्रक्रम का ही अमिट एवं सर्वव्यापी प्रभाव बना रहता है तथा प्रत्येक भू-आकृतिक प्रक्रम स्थलरूपों का

अपना विशिष्ट समुदाय विकसित करता है।'' उदाहरण के रूप में शुष्क प्रदेशों में पवन के प्रभाव से छत्रक, वातगर्त, जालीदार शिला, आदि स्थलाकृतियाँ विकसित होती हैं। प्रक्रम के अन्तर्गत सम्पूर्ण अनाच्छादन की शक्तियाँ आ जाती हैं। पृथ्वी की संरचना कहीं भी अपवादस्वरूप ही समरूपी है। उसमें बनावट, कठोरता, झुकाव आदि के अनुसार विविधता पाई जाती है। अत: दो भू-आकृतियों पर अथवा दो क्षेत्रों की समरूपी भू-आकृतियों पर भी प्रक्रम का प्रभाव ठीक उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न होगा जिस प्रकार से दो व्यक्तियों की लिखने की लिपि में अंतर होता है। अत: इसे समझते समय प्रत्येक क्षेत्र की संरचना, उसका बदलता स्वरूप, वहाँ पर प्रभावी जलवायु एवं अनाच्छादन की व्यवस्था आदि तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रत्येक स्थलाकृति किसी विशेष प्रक्रम का परिणाम होती है, जैसे 'यू' आकार की घाटी हिमानी का, बाढ़ का मैदान प्रवाही जल का, यारडंग पवन का आदि।

3. **अवस्था** (Stage)—इसका अभिप्राय स्थलखण्ड के विकास की विशिष्ट अवस्था से है। डेविस ने अवस्था को सरलता से समझाने के लिए मानव जीवन की भाँति तीन अवस्थाएँ बताईं-युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था। वॉन एन्जिल के अनुसार, ''अवस्था से अभिप्राय किसी दृश्य भूमि के ऊपर प्रक्रमों द्वारा लाए गए परिवर्तन के दौरान हुए विशिष्ट विकास से है।''

   कोई भू-आकृति एक अवस्था को पार कर कितने समय में दूसरी अवस्था प्राप्त कर सकेगी इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है। यह ऐसा सापेक्ष तथ्य है जो कि अनेक प्रकार से संरचनाओं के बदलने पर एवं उन पर प्रक्रिया के स्वरूप में बार-बार परिवर्तन होने से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त इस पर आन्तरिक शक्तियों से भू-आकृति के ऊपर उठने या मोड़ व भ्रंश पड़ने या नीचे धँसने जैसी किसी भी क्रिया का प्रभाव पड़ता रहता है। कमजोर संरचना वाले प्रदेश में अपरदन चक्र तेजी से गतिशील बना रहने से वहाँ की भू-आकृति अधिक शीघ्र युवावस्था एवं प्रौढ़ावस्था पार कर सकती है। इसके दूसरी ओर कठोर या मिश्रित संरचना वाली भू-आकृति में लम्बे समय तक एक ही अवस्था बनी रह सकती है।

डेविस के भौगोलिक चक्र की मान्यताएँ (Assumptions of Geographic Cycle of Davis)

डेविस का भौगोलिक चक्र निम्न मान्यताओं पर आधारित है—

1. स्थलरूप आंतरिक शक्तियों एवं बाह्य कारकों की पारस्परिक क्रिया का परिणाम होते हैं।
2. स्थलरूपों का स्वरूप पर्यावरणीय दशाओं में होने वाले परिवर्तन के अनुकूल होता है।
3. स्थलरूपों का उत्थान अल्प काल में व तीव्र गति से होता है, फिर दीर्घकाल तक स्थिरता रहती है।
4. अपरदन का प्रारंभ उत्थान की समाप्ति पर ही होता है।
5. सरिताएँ अपनी घाटी को आधार तल प्राप्त होने तक गहरा करती रहती है, इसके बाद पार्श्ववर्ती अपरदन द्वारा घाटी को चौड़ा करती हैं।

भौगोलिक चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन (Demonstration of Geographic Cycle by Graph)

डेविस ने अपने भौगोलिक चक्र मॉडल की आरेख द्वारा व्याख्या की है। इसमें क्षैतिज अक्ष (क, ग) पर समय की अवधि को तथा लम्बवत् अक्ष (क, ख) पर ऊँचाई को प्रदर्शित किया गया है। इसमें दो वक्र दिखाए गए हैं। ऊपरी वक्र (क अ स) धरातल की अधिकतम औसत ऊँचाई को तथा निचला वक्र (क ब द) निम्नतम भूभागों की औसत ऊँचाई को प्रकट करता है। अ ब रेखा प्रारम्भिक औसत उच्चावच एवं स द रेखा अन्तिम अधिकतम उच्चावच को प्रदर्शित करती है। क्षैतिज रेखा के सहारे चक्र को तीन खण्डों (1, 2, 3) या अवस्थाओं में प्रदर्शित किया गया है—

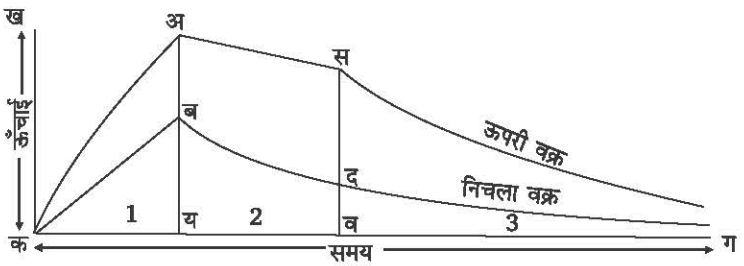

चित्र : डेविस के चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन

1. **प्रथम अवस्था**—इस अवस्था में स्थलखण्ड का उत्थान प्रारम्भ होता है। इसकी अवधि छोटी होती है। इसे युवावस्था भी कहा गया है। नदी निम्न कटाव द्वारा अपनी घाटी को गहरा करती है। नदियों का प्रवाह तीव्र होता है। पार्श्विक अपरदन नगण्य होता है। इस प्रकार अ, ब प्रारंभिक औसत उच्चावच को प्रदर्शित करते हैं।
2. **द्वितीय अवस्था**—इस अवस्था में उत्थान समाप्त हो जाता है और अपरदन का कार्य प्रारंभ हो जाता है। इसे प्रौढ़ावस्था भी कहा गया है। अपरदन की अधिकता से उच्च भाग नीचे होते जाते हैं। नदी अपनी घाटी का चौड़ाई में अधिक विस्तार करती है। प्रवाह वेग कम होने से नदियों की परिवहन क्षमता भी घट जाती है।
3. **तृतीय अवस्था**—इसे वृद्धावस्था या जीर्णावस्था भी कहते हैं। उत्थित स्थलखण्ड का अत्यधिक अपरदन हो जाने से भूपटल की विषमता घट जाती है। घाटियों में लम्बवत् अपरदन का स्थगन हो जाता है, किन्तु पार्श्विक अपरदन तथा घाटी के चौड़ा होने का कार्य अब भी जारी रहता है। ढाल कम होने से नदी प्रवाह मंद हो जाता है। लगभग समतलप्राय हो गए इस मैदान को डेविस ने 'पेनीप्लेन' (समतल मैदान) कहा है। इसमें केवल कठोर शैलों के टीले अवशिष्ट रूप में बचे रह जाते हैं, जिन्हें 'मोनाडनाक' कहा गया है।

डेविस के भौगोलिक चक्र का मूल्यांकन (Evaluation of Geographic Cycle of Davis)

डेविस की संकल्पना ने भूआकृति विज्ञान को एक क्रान्तिकारी दिशा प्रदान की। भौगोलिक चक्र को विश्व स्तर पर व्यापक समर्थन मिला। कालान्तर में इसके आलोचकों की संख्या बढ़ती गयी। सिद्धान्त के गुण या प्रभावी पक्ष निम्न हैं—

1. डेविस का मॉडल अत्यधिक सरल व ग्राह्य है। इसकी सुस्पष्ट भाषा इसे प्रभावी बना देती है।
2. स्थलरूपों के क्रमिक विकास के लिए प्रयुक्त शब्दावली (युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था) सहज, रोचक एवं सुग्राह्य है।
3. यह व्यापक स्तर पर किए गए क्षेत्र अध्ययन के परिणामों पर आधारित है।
4. यह सिद्धान्त उस युग में प्रचलित 'जीवीय विकास' की संकल्पना के अनुरूप था, अत: व्यापक मान्यता मिली।
5. इसमें स्थलरूपों के भावी विकास तथा अतीत की घटनाओं संबंधी व्याख्या का सामर्थ्य है।

आलोचना (Criticism)

डेविस का सिद्धान्त अत्यधिक प्रभावशाली एवं मौलिक होते हुए भी कुछ कमियों के कारण आलोचना का शिकार हुआ—

1. स्थलखण्ड के शीघ्र उत्थान एवं दीर्घकाल तक उसकी स्थिरता बनी रहने को अस्वीकार किया गया। वास्तव में उत्थान की प्रक्रिया दीर्घकाल तक मन्द गति से जारी रहती है, तथा स्थलखण्ड सदा गतिशील रहते हैं।
2. सर्वाधिक आपत्ति उत्थान के बाद अपरदन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने को लेकर है। वास्तव में उत्थान के साथ ही अपरदन प्रारम्भ हो जाता है।
3. जर्मन विद्वान तो डेविस द्वारा प्रयुक्त चक्र शब्द को ही भ्रामक मानते हैं। क्योंकि चक्र का आशय होता है कि जिस बिन्दु से विकास प्रारम्भ हुआ है उसी पर अन्त भी हो, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।
4. डेविस ने स्थलाकृति को संरचना, प्रक्रम एवं अवस्था का परिणाम माना। इसके कटु आलोचक पेंक के अनुसार स्थलाकृति उत्थान तथा अपरदन की दरों के सम्बन्ध का प्रतिफल है। डेविस ने समय को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है।
5. डेविस ने अपरदन चक्र का अति साधारणीकरण कर दिया है, जो कि त्रुटिपूर्ण है। इसमें भू-गर्भशास्त्र के अन्य नियमों का ध्यान नहीं रखा गया है।
6. डेविस की संकल्पना भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से अस्थिर भूखण्डों पर लागू नहीं होती है, बल्कि कठोर पिण्डों वाले भागों में ही कुछ सीमा तक लागू होती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के उपरान्त भी डेविस के सरल व सुग्राह्य सिद्धान्त का स्थलरूपों के अध्ययन में सदैव महत्त्व बना रहेगा।

प्र.4. विभंग एवं भ्रंश को परिभाषित करते हुए भ्रंश के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

विभंग एवं भ्रंश
(Fracture and Fault)

विभंग (Fracture)—जब पृथ्वी की सतह पर तनाव के कारण क्षैतिज भू-संचलन होता है तो उससे चट्टानों की सतह चटकने लगती है। इससे बिना स्थान परिवर्तन के ऊपरी तल पर दरारें पड़ सकती हैं। इसका प्रभाव सिर्फ ऊपरी सतह तक ही रहता है। जब

तनाव अधिक बढ़ने लगता है तो चट्टाने निश्चित तल के सहारे टूटने लगती हैं। यदि ऐसी चट्टानें अपना स्थान नहीं बदलें तो वहाँ सन्धियाँ (Joints) पड़ जाते हैं। जिस तल के सहारे ऐसी चट्टानें टूटती हैं, उसे विभंग तल कहते हैं।

चट्टानों में खनिजों की बनावट, संरचना की एकरूपता एवं विविधता के आधार पर ही विभंग तल का स्वरूप बनता बदलता है। इसी कारण चूने का पत्थर, ग्रेनाइट, संगमरमर जैसे पत्थरों के विभंग सरल होंगे एवं वहाँ सन्धियाँ लम्बी व समकोण पर होंगी, जबकि बलुआ पत्थर, गेब्रो, कोग्लोमरेट, पेग्मेटाइट जैसी चट्टानों की सन्धियाँ विविध आकृति वाली शंकाभ या अन्य आकार की होंगी। इनका विभंग तल इसी कारण जटिल बना रहेगा। इस प्रकार, जब तनाव का चट्टानों पर प्रभाव तो पड़े, किन्तु उससे चट्टानों का स्थान परिवर्तन नहीं हो, तो उसे विभंग कहते हैं, किन्तु जब विभंग तल के सहारे चट्टानों में स्थान परिवर्तन होने लगता है और विभंग एवं चटक या दरार का प्रभाव गहराई तक होता है, तब उस क्रिया को भ्रंशन (Faulting) कहते हैं।

भ्रंश (Fault)—जब तनाव की तीव्रता के कारण चट्टानें टूटकर दूर तक खिसकती हैं या उनमें विस्थापन (displacement) होता है तो उसे भ्रंश कहते हैं। होम्स के अनुसार, "भ्रंश वह विभंजित धरातल है जिसके विरुद्ध चट्टानें आपेक्षिक रूप से ऊपर नीचे हो जाती हैं।" जिस सतह या तल के सहारे भ्रंश होता है उसे भ्रंश या विभंग तल कहते हैं। भ्रंश तल किसी भी दिशा में एवं किसी भी कोण पर हो सकता है। भ्रंश से सम्बन्धित निम्न शब्दावली का ज्ञान भ्रंश को समझने के लिए आवश्यक है—

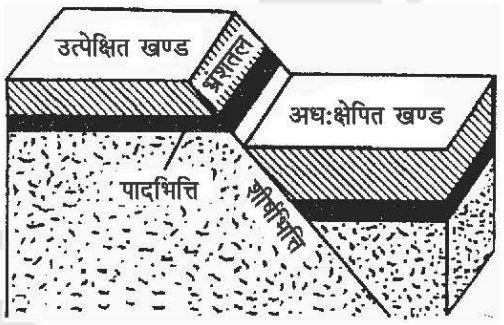

चित्र : भ्रंश की संरचना

1. **उत्क्षेपित या ऊपरी खण्ड** (Up thrown side)—भ्रंश तल से ऊपर की ओर उठे भाग को ऊपरी या उत्क्षेपित खण्ड कहते हैं।
2. **अध:क्षेपित या निचला खण्ड** (Down thrown side)—भ्रंश तल से नीचे की ओर के भाग को निचला या अध:क्षेपित खण्ड कहते हैं।
3. **शीर्ष भित्ति एवं पाद भित्ति** (Hanging wall and Foot wall)—भ्रंश की ऊपरी दीवार को शीर्ष भित्ति एवं अध:क्षेपित या निचले खण्ड से निचली दीवार को पाद भित्ति कहते हैं।
4. **भ्रंश कगार** (Fault scrop)—भ्रंश के जिस खण्ड में भृगु जैसा तेज ढालू भाग पाया जाए तो उस खड़े ढाल वाले भाग को भ्रंश कगार कहते हैं।

भ्रंश के प्रकार (Types of Fault)

भ्रंश मुख्यत: तल की विविधता एवं वहाँ बनी आकृति के अनुसार विशेष नाम से पुकारे जाते हैं। भ्रंश के मुख्य प्रकार निम्नांकित हैं—

1. **सरल या सामान्य भ्रंश** (Simple or Normal Fault)—किसी क्षेत्र की चट्टान जब भ्रंश तल के सहारे विपरीत दिशा में खिसकती है अथवा एक सामान्य भाग भ्रंश तल के सहारे खिसकता है तो उसे सामान्य भ्रंश कहते हैं। अन्य शब्दों में चट्टानों में दरार पड़ने के कारण जब दोनों खण्ड विपरीत दिशाओं में सरक जाते हैं, तो उसे सामान्य भ्रंश कहते हैं। खड़े ढाल वाले भाग को भ्रंश कगार (Fault scrap) कहते हैं। इसकी ऊँचाई सैकड़ों मीटर तक हो सकती है।
2. **विपरीत या व्युत्क्रम भ्रंश** (Reverse Fault)—इसे उत्क्रम या क्षेपित भ्रंश (Thrust fault) भी कहते हैं। इसमें सम्पीडन की क्रिया महत्त्वपूर्ण रहती है। इस क्रिया में चट्टान में दरार पड़ने के पश्चात् दोनों खण्ड आमने-सामने की ओर बढ़ते हैं। इससे चट्टान का एक भाग दूसरे पर छाया हुआ दिखाई देता है। इसमें भ्रंश कगार लटकती दीवार (Hanging wall) की भाँति दिखाई देता है।
3. **समानान्तर या सोपानी भ्रंश** (Parallal or Step Fault)—जब भिंचाव के अतिरिक्त तीव्र सम्पीडन की क्रिया बार-बार प्रभावी हो तो सम्पीडन की अधिकता से वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर समानान्तर भ्रंश तल पर दरारें पड़ेंगी। ऐसे स्थान पर सीढ़ीनुमा भ्रंशों का विकास होगा। ऐसे भ्रंश की क्रिया अपवादस्वरूप ही होती है। इसमें कगार बहुत छोटे-छोटे होते हैं, क्योंकि भ्रंश तल के मध्य दूरी कम रहती है। पर्वत निर्माण की जटिलता बढ़ने पर ऐसे भ्रंश का विकास हो सकता है।
4. **नमन या नति भ्रंश** (Dip Fault)—जब किसी भ्रंश की क्रिया के समय चट्टाने नमन (dip) की दिशा में, अर्थात् क्षैतिज तल के सहारे कुछ डिग्री का कोण बनाकर ही खिसकें तो उसे नमन भ्रंश कहते हैं। ऐसे भ्रंश कायान्तरित या परतदार चट्टानों में अधिक विकसित होते हैं।

5. **नतिलम्ब भ्रंश** (Strike Fault)—इसमें भ्रंश तल के सहारे क्षैतिज दिशा में ही चट्टानें खिसकती हैं, अत: इसमें कगार या तो पाए ही नहीं जाते या नाममात्र के मिलते हैं। ऐसे भ्रंशों के विकास में चट्टानें काफी गहराई तक एक-दूसरे से रगड़ खाती हुई किनारों या भ्रंश तल पर खिसकती हैं, अत: यह भ्रंश की एक विशेष स्थिति भी है।
6. **तिर्यक या तिरछे भ्रंश** (Oblique or Tear Fault)—ऐसे भ्रंशों का विकास भूकम्प एवं ज्वालामुखी प्रभावित क्षेत्रों में अधिक होता है। इसमें लम्बवत् एवं क्षैतिज दोनों प्रकार से चट्टानों में भ्रंश तल के सहारे खिसकाव हो सकता है। इसमें भ्रंश तल तिरछा या वक्राकार या विषम रचना वाला रहता है। पर्वतीय घाटियों में भी चट्टानें खिसकने से ऐसे भ्रंश बन सकते हैं।
7. **अधिक्षेप भ्रंश एवं ग्रीवा खण्ड** (Overthrust Fault and Neppe)—जब सम्पीडन का दबाव बहुत अधिक बढ़ जाता है तो चट्टानों का एक खण्ड आगे बढ़कर भ्रंश तल को आगे उछालकर आगे के चट्टानी भाग पर चढ़ जाता है, तो ऐसे भ्रंश का विकास होता है। इसकी अगली अवस्था ग्रीवा खण्ड का विकास है। इसका वर्णन वलन के प्रकार के साथ भी संक्षेप में दिया गया है।

प्र.5. वलन की परिभाषा देते हुए विविध प्रकार के वलन का सचित्र वर्णन कीजिए।

उत्तर

वलन
(Folds)

वलन पृथ्वी की आन्तरिक शक्ति द्वारा उत्पन्न क्षैतिजिक संचलन और सम्पीडन का परिणाम है। चट्टानों में सुविकसित लहरदार मोड़ ही वलन कहलाते हैं। भूतल पर अवसादी शैले प्राय: समतल स्तर में होती हैं, किन्तु भू-गर्भ की आन्तरिक शक्तियों के प्रभाव से उनमें सम्पीडन होने लगता है। क्षैतिज दिशा में पड़ने वाले दबाव के कारण उनमें सिकुड़ने तथा मोड़ पड़ जाते हैं। फिंच के अनुसार "समतल परतदार शैलों के अधिक मात्रा में मुड़ जाने को ही वलन (Folds) कहा गया है।" वलन के द्वारा शैलों का कुछ भाग ऊपर तथा कुछ भाग नीचे धँस जाता है।

वलन की संरचना (Structure of Fold)

वलन की संरचना को समझने के लिये उससे संबंधित शब्दावली से परिचित होना आवश्यक है, जैसे वलन की भुजा, वलन का अक्ष, अक्षीय तल, नति, नतिलंब, अपनति, अभिनति आदि।

वलन की भुजा (Limb of the Fold)—वलन के दोनों ओर के मुड़े हुए भाग वलन की भुजा कहलाते हैं।

वलन का अक्ष (Axis of the Fold)—वलन की भुजाओं के मध्य अपनति के उच्चतम तथा अभिनति के निम्नतम भाग से गुजरने वाली कल्पित रेखा को वलन का अक्ष कहते हैं।

वलन के प्रकार (Types of Folds)

सम्पीडन की तीव्रता और शैलों की प्रकृति के आधार पर भूपटल पर कई प्रकार के वलन पड़ जाते हैं। वलन मुख्यत: निम्नांकित प्रकार के होते हैं—

1. **सममित या सुडौल वलन** (Symmetrical Folds)—जब किसी वलन की दोनों भुजाओं का झुकाव या कोण एक समान हो तो उसे सममित वलन कहते हैं। इसकी भुजाएँ अक्ष रेखा पर लम्बवत् होती हैं। ऐसे वलन खुले हुए तथा सीधे होते हैं।

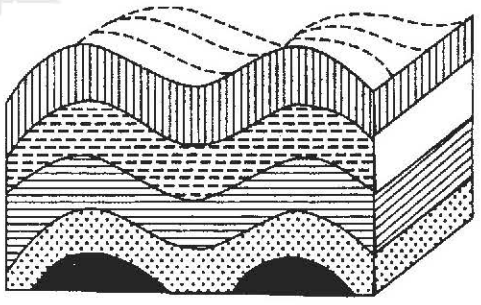

चित्र : सममित या सुडौल वलन

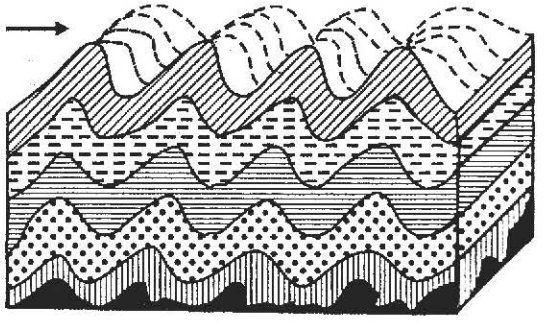

चित्र : असममित या बेडौल वलन

2. **असममित या बेडौल वलन** (Asymmetrical Folds)—जब किसी वलन की दोनों भुजाओं की लम्बाई व झुकाव का कोण समान नहीं हो तो उसे असममित, अर्थात् बेडौल वलन कहते हैं। इसमें लम्बी भुजा का ढाल धीमा एवं छोटी भुजा का ढाल तेज होता है। इस प्रकार इनकी भुजाओं के झुकाव में स्पष्ट अन्तर बना रहता है।
3. **एकनत वलन** (Monoclinal Folds)—इसमें एक भुजा का झुकाव कम या ढाल धीमा होता है, जबकि दूसरी भुजा का झुकाव अधिक या प्राय: लम्बवत् (खड़ा) बना रहता है। ऐसे वलन की उत्पत्ति के समय सम्पीडन का वेग एक दिशा में ही बना रहा होगा। यदि यह वेग और भी तेज रहता तो वलन की भुजा परिबलन का रूप ले सकती थी। इसे एकनति या एकदिग्नत वलन भी कहते हैं।

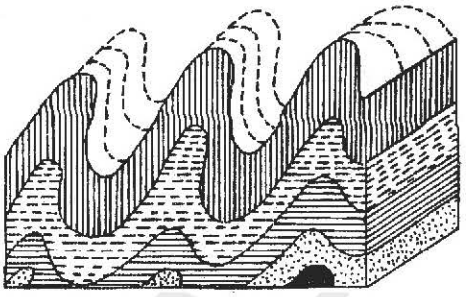

चित्र : एकनत वलन

4. **समनत वलन** (Isoclinal Folds)—यदि वलन के विकास के समय दबाव आमने-सामने से, अर्थात् दोनों ओर से समान रहा हो तो ऐसे में वलन की दोनों भुजाओं के झुकाव का स्वरूप एक दिशा में रहेगा, अर्थात् दोनों ही भुजाएँ प्राय: समानान्तर हो जाती है। इन्हें ही समनत वलन कहते है।

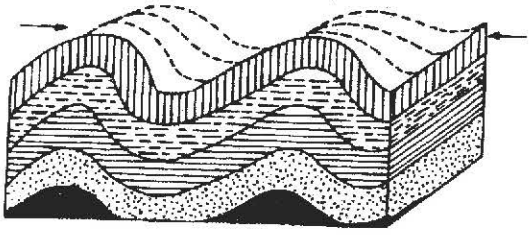

चित्र : समनत वलन

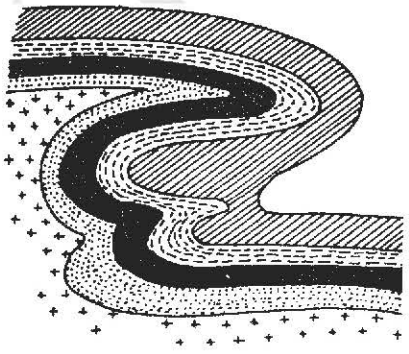

चित्र : परिवलित वलन

5. **परिवलित वलन** (Recumbent Folds)—अधिक सम्पीडन के कारण जब वलन एक ही दिशा में तीव्र गति से रहता है, तो दोनों भुजाएँ बहुत अधिक झुककर धरातल से प्राय: समानान्तर नजर आती हैं। ऐसे वलन को परिवलन (बहुत अधिक झुकाव वाला मोड़) कहते हैं। ऐसी स्थिति विशेष दशा में ही कहीं-कहीं विकसित हो पाती है। इसे शयन वलन भी कहते हैं।
6. **पंखाकार वलन** (Fan Folds)—जब बहुत तीव्र सम्पीडन लम्बे समय तक चलता रहे एवं किसी वृहद् वलन की अपनति तथा अभिनति में कई छोटी-छोटी अपनतियाँ बन जाये तो ऐसे में पंखाकार वलन का विकास होता है। इसमें वलन अधिक संकुचित होने से चटक सकते हैं या उनमें भ्रंश भी पड़ सकते हैं। इस प्रकार पंखाकार वलन विशेष मोड़ों का ऐसा मिश्रित स्वरूप है जहाँ वलन एवं भ्रंश दोनों क्रियाएँ एक साथ होती हैं।

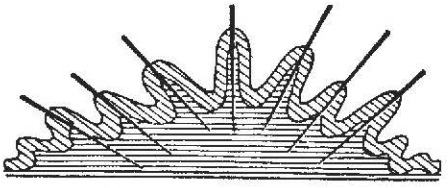

चित्र : पंखाकार वलन

कभी-कभी क्रमिक रूप से समपनति व समभिनति का विकास होने से दोहरे पंखाकार वलन या जटिल पंखाकार वलन बन जाते हैं।

7. **खुले वलन** (Open Folds)—जब वलन बनते समय दोनों भुजाओं के बीच का अभिनति तल पर बना कोण 90° से अधिक एवं 180° से कम हो तो उसे खुला वलन कहते हैं। प्राय: सुडौल या सममित वलन ऐसे ही होते हैं।

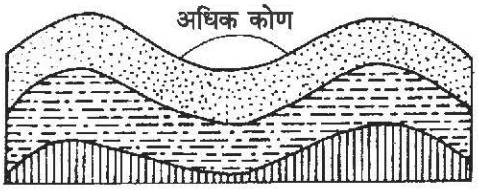

चित्र : खुला वलन

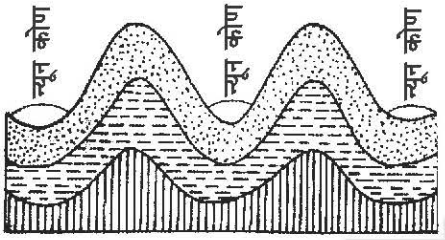

चित्र : बन्द वलन

8. **बन्द वलन** (Closed Folds)—वलन के विकास के समय सम्पीडन अधिक होने पर मोड़ अधिक पास-पास बनते हैं एवं भुजाओं का ढाल भी तीव्र रहता है। ऐसी स्थिति में वलन के बीच की भुजाओं का कोण 90° से कम का होता है। इसे ही बन्द वलन कहते हैं।
9. **प्रतिवलन** (Ouver Thrust Folds)—जब वलन के विकास के समय सम्पीडन का दबाव इतना अधिक रहता है कि भुजाएँ झुकने के पश्चात् भी सम्पीडन को सह नहीं पाती। इससे वलन की एक भुजा भ्रंशित होकर (टूटकर) क्षैजित भुजा पर उलट जाती है। इस प्रकार इसमें वलन व भ्रंश दोनों ही प्रभावी होते हैं। इसे अधिक्षिप्त वलन भी कहते हैं।
10. **अवनमन वलन** (Plunging Folds)—ऐसे वलन विषम परिस्थितियों में ही विकसित हो पाते हैं, क्योंकि इसमें मोड़ की अक्ष (axis) क्षैतिज तल के समानान्तर नहीं होती। ऐसे वलन क्षैतिज तल से कोण अवश्य बनाते हैं, इसीलिए इसे अवनमन वलन कहते हैं।

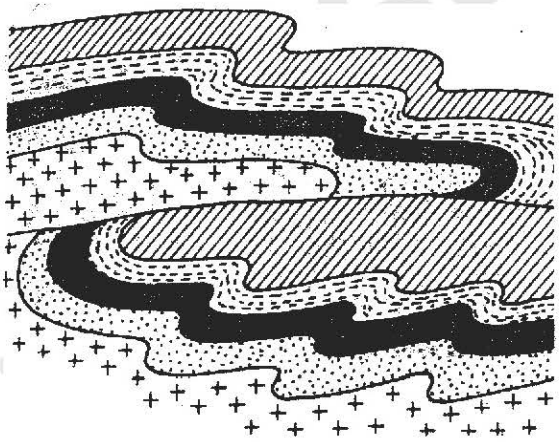

चित्र : प्रतिवलन

प्र.6. अपक्षय के प्रकार तथा इसे प्रभावित करने वाले कारकों की विवेचना विस्तारपूर्वक कीजिए।

उत्तर

अपक्षय के प्रकार एवं कारक
(Types and Factors of Weathering)

अपक्षय तीन प्रकार से चट्टानों या भूतल पर प्रभाव डालता है—(1) भौतिक अपक्षय, (2) रासायनिक अपक्षय, एवं (3) जैविक अपक्षय।

1. **भौतिक या यान्त्रिक अपक्षय**—यान्त्रिक अपक्षय में चट्टानों का विघटन होता है। मजबूत शिलाखण्ड भी निरन्तर यान्त्रिक या भौतिक प्रभाव से टुकड़ों में एवं बालू में बदलते जाते हैं। यह क्रिया निम्न कारकों द्वारा गतिशील बनी रहती है—
   (i) **ताप परिवर्तन**—जहाँ चट्टानों की संरचना अनेक प्रकार के खनिजों वाली होती है, वहाँ दिन में ऊँचे तापमान के कारण चट्टानें तेजी से फैलने लगती हैं एवं रात के पिछले प्रहर में तेजी से तापमान घटने से सिकुड़ने लगती हैं। बार-बार इस प्रकार फैलने और सिकुड़ने से चट्टानें जोड़ या सन्धि के सहारे टूटती जाती हैं। इस भाँति मुलायम चट्टानें तेजी से चूर्ण रूप में बदल जाती हैं। इस चूरे को शैल मलवा (scree or talus) कहते हैं। मरुस्थल में सूर्यास्त से कुछ समय बाद चट्टानों के टूटने से उत्पन्न आवाजें बन्दूक के छूटने जैसी लगती हैं। तापीय परिवर्तन द्वारा चट्टानों के फैलाव तथा संकुचन द्वारा विघटन कार्य उष्ण मरुस्थलीय प्रदेशों में अधिक होता है।
   (ii) **तुषारापात**—शीतोष्ण प्रदेशों में सर्दियों में रात्रि के तापमान जहाँ हिमांक बिन्दु से नीचे पहुँच जाते हैं, वहाँ तुषारापात होने से भौतिक अपक्षय होता है। ऐसे स्थानों पर दिन में पानी सन्धियों के सहारे चट्टानों में प्रवेश कर जाता है। रात्रि में यही पानी बर्फ में बदल जाता है। बर्फ पानी से ज्यादा जगह घेरती है, अत: चट्टानों पर भारी दबाव पड़ता है। इससे चट्टानों की सन्धियों के बीच दूरी बढ़ती जाती है और चट्टानें टुकड़ों या कणों में टूटती जाती हैं। दिन में तापमान बढ़ने पर बर्फ पुन: पिघल जाती है। चट्टानों में जल के जमने व पिघलने का यह क्रम जारी रहता है।

(iii) **वर्षा जल व ताप**—उष्ण प्रदेशों में दिन के समय ऊँचे तापमान रहने के कारण तप्त चट्टानों पर यदि वर्षा जल पड़ जाता है तो वे चटक कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरने लगती हैं। पथरीले मरुस्थलों में आकस्मिक वर्षा से यह क्रिया होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के टेक्सास प्रान्त में इस क्रिया के कारण चट्टानों का चटकना सामान्य घटना है।

(iv) **ताप एवं वायु**—शुष्क तथा अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों में ताप एवं वायु के सम्मिलित प्रभाव से चट्टानों की परतें उखड़ने लगती हैं, जिसे पल्लवीकरण या अपशल्कन (exfoliation) कहते हैं। रवेदार चट्टानें सूर्य के अधिक ताप से ऊपर से बहुत गर्म हो जाती हैं तथा फैल जाती हैं, किन्तु ताप की उत्तम चालक न होने के कारण भीतर से ठण्डी रहती हैं। इस तापान्तर के कारण चट्टान की ऊपरी परत भीतर के ठण्डे भाग से छिलके की भाँति अलग होने लगती है। पवनों के द्वारा यह परत हटा दी जाती है। इसे प्याजनुमा अपक्षय (onion weathering) भी कहते हैं।

(v) **दाब मुक्ति**—जब अनाच्छादन के द्वारा धरातल की ऊपरी चट्टानें हट जाती हैं तो उनके नीचे की चट्टाने दाब मुक्त हो जाती हैं। दबाव घटने से बाहर निकली हुई चट्टानें फैलती हैं जिससे उनमें सन्धियाँ या चटकनें पड़ जाती हैं। इससे पाले व जल द्वारा विघटन में सहायता मिलती है। ग्रेनाइट चट्टानों में यह क्रिया अधिक होती है।

(vi) **भूस्खलन**—वर्षा काल में पहले से ढीली व एकत्रित चट्टानें व अवसादों के ढेर भीग जाने से भारी हो जाते हैं। पर्वतीय ढालों की मिट्टियाँ अधिक मात्रा में जल सोख लेती हैं। इससे चट्टानों का वजन बढ़ जाता है एवं वह तेजी से ढाल के सहारे खिसकती हुई गिरती हैं। वह अपने साथ मार्ग के रोड़ों एवं भूमि की सतह पर रगड़ खाते हुए और भी पदार्थों को इकट्ठा करती जाती हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में भूस्खलन सामान्य घटना है। इससे गाँव के गाँव दब जाते हैं। भूस्खलन के लिए उत्तरदायी कारकों में—(अ) तीव्र व खड़े ढाल, (ब) गुरुत्व, (स) झुके स्तर वाली चट्टानें, (द) भूकम्पन, (य) आधार चट्टान का नष्ट हो जाना, (र) जल की उपस्थिति, आदि सम्मिलित हैं। वनस्पति आवरण का अभाव भी भूस्खलन को बढ़ावा देता है।

2. **रासायनिक अपक्षय**—रासायनिक अपक्षय में चट्टानों के खनिजों की संरचना पर जल में घुली विभिन्न गैसों का विशेष प्रभाव पड़ता है। इससे चट्टान के जुड़े हुए कण आपस में ढीले होने लगते हैं। चट्टानों में पूरी तरह रासायनिक परिवर्तन होने से वह नष्ट भी हो सकती हैं। सामान्यत: रासायनिक क्रिया उष्ण व आर्द्र प्रदेशों में अधिक सक्रिय रहती है। यह क्रिया निम्न प्रकार से होती है—

(i) **ऑक्सीकरण या झारण** (Oxidation)—वर्षा एवं सतह के पानी में सदैव ऑक्सीजन (O_2) गैस घुली रहती है। इसी कारण पानी उष्ण व अर्द्धोष्ण प्रदेशों में लोहांश वाली चट्टानों पर तेजी से प्रभाव डालता है। जंग लगने की क्रिया इसी कारण होती है। बार-बार पानी व हवा के सम्पर्क में आने से लोहा लौह-ऑक्साइड (FeO_2) बनता जाता है। इससे चट्टानों में वियोजन होता है। ऑक्सीजन की इस क्रिया को 'आक्सीकरण' कहते हैं। उष्ण प्रदेशों की सभी प्रकार की लाल व भुरभुरी लाल-पीली मिट्टियाँ लौह वाली चट्टानों में ऑक्सीकरण की क्रिया से ही बनती हैं।

(ii) **हाइड्रेशन या जलयोजन** (Hydration)—विशेष प्रकार की चट्टानें जैसे बॉक्साइट, फेल्स्पार आदि अधिक शीघ्रता से जल सोखती हैं। जल सोखने से इनका वजन लगभग दोगुना हो जाता है। इसके अतिरिक्त, ऐसी भीगी हुई चट्टानें तेजी से अपघटित होती जाती हैं। कुछ चट्टानें तो भीगकर खिलकर चूरे में बदल जाती हैं। ऐसी क्रिया के प्रभाव से ही फेल्स्पार खनिज केओलिन मिट्टी में बदल जाता है। जिप्सम एवं पाइराइट के जमाव भी इसी प्रकार के रासायनिक अपक्षय के परिणाम हैं।

(iii) **कार्बोनेशन** (Carbonation)—चूना, चाक एवं डोलोमाइट जैसी अधिक कैल्सियम युक्त चट्टानें पानी व कार्बन डाइ-ऑक्साइड की सम्मिलित क्रिया से तेजी से प्रभावित होती हैं। इससे चूने का कार्बन तत्त्व बाइ-कार्बोनेट में बदल जाता है। इस क्रिया में चूने की चट्टानें तेजी से घुलती जाती हैं। ऐसा चूने युक्त एवं अधिक कार्बन वाला जल हल्के तेजाब जैसा असर कर चट्टानों को निरन्तर घोलता जाता है। कार्स्ट प्रदेश की विविध रचनाएँ इसी क्रिया से होती हैं। इसी प्रकार लोहे का सल्फाइड जब कार्बन डाइऑक्साइड मिले पानी से क्रिया करता है तो लोहे का कार्बोनेट एवं गन्धक का तेजाब बनते हैं। ऐसी ही क्रिया से पोटैशियम कार्बोनेट बनता है।

(iv) **विलयन या घोल** (Solution)—वर्षा एवं झीलों का पानी कई प्रकार के क्षारों, लवणों, कैल्सियम एवं अन्य खनिजों को अपने में घोलता रहता है। इसी कारण अलग-अलग क्षेत्रों में जल का स्वाद अलग-अलग होता है। भारी व हल्का पानी, कड़वा व मीठा पानी ऐसे ही विलयन की क्रिया का परिणाम है।

(v) **सिलिका का पृथक्करण** (Desilication Process)—आर्द्र प्रदेशों की आग्नेय चट्टानों पर पानी की क्रिया के प्रभाव से उनसे सिलिका एवं अन्य तत्त्व तेजी से अलग होने लगते हैं। इस क्रिया में सिलिका बालू बची रहती है। सिलिका युक्त चट्टानों से जब गैस मिला उष्ण जल क्रिया करता है तो ऐसी चट्टानों का अधिकांश भाग घुल जाता है। इसे ही सिलिका का पृथक्करण कहते है।

3. **जैविक अपक्षय**—पृथ्वी की सतह पर वनस्पति, जन्तु एवं मानव अपक्षय की क्रिया में सहायक रहे हैं—
   (i) **वनस्पति द्वारा**—वनस्पति वायुमण्डल से गैसें व नमी ग्रहण करती है। पौधों की जड़ें भूमि के नीचे निरन्तर भौतिक तथा रासायनिक अपक्षय की क्रिया करती रहती हैं। पौधों के बढ़ने के साथ-साथ जड़ें मोटी होकर अधिक स्थान घेरती हैं। इससे चट्टानें चौड़ी होने लगती हैं एवं धीरे-धीरे पानी से क्रिया कर टूटती व चूरा बनती जाती हैं। जड़ों द्वारा आस-पास की मिट्टी से पोषक तत्त्व ग्रहण करने की क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया द्वारा चट्टानों का रासायनिक अपक्षय होता जाता है। ऐसे अपक्षय में बहुत छोटे-छोटे बैक्टीरिया एवं अपघटक भी विशेष सहायक रहते हैं। जहाँ वनस्पति भूमि के नीचे अपक्षय की क्रिया करती है, वहीं फैला जड़ों का जाल उस मिट्टी में संगठन बनाए रखता है। इसी कारण वहाँ गतिशील अपरदन शक्तियों का प्रभाव प्राय: नगण्य होता है।
   (ii) **प्राणियों द्वारा**—पृथ्वी की सतह पर अनेक प्रकार के प्राणी पाए जाते हैं। इनमें से कई जमीन में गड्ढा बनाकर या बिल बनाकर रहते हैं। कीड़े, मकोड़े, चींटियाँ, चूहे, साँप, बिच्छू, नेवला, दीमक आदि ऐसे ही जीव हैं। इससे संगठित मिट्टी ढीली व चट्टानें कमजोर हो जाती हैं। ऐसी चट्टानों का बहता जल, हवा आदि आसानी से बहाकर ले जा सकते हैं। अनेक जीव-जन्तु अपने शरीर से कई प्रकार के अम्ल निकालते हैं, जिससे चट्टानों पर रासायनिक प्रतिक्रिया होती है एवं अपक्षय को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार जन्तुओं से रासायनिक क्रिया सीमित, किन्तु भौतिक अपक्षय बड़े पैमाने पर होता रहता है। केंचुओं का जैविक अपक्षय में सर्वाधिक हाथ रहता है।
   (iii) **मानव द्वारा**—आधुनिक मानव ने अपने द्वारा खोजे गए औजारों, मशीनों एवं तकनीक द्वारा पृथ्वी की सतह पर आश्चर्यजनक गति से परिवर्तन किए हैं। वह भौतिक एवं रासायनिक अपक्षय का सबसे प्रभावी कारक बन गया है। तेजी से होने वाला औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं कृषि का व्यवसायीकरण वायु, मिट्टी व जल में प्राणघातक प्रदूषण के लिए उत्तरदायी है। बड़े पैमाने पर वनस्पति नष्ट करना, खानें खोदना, सड़क निर्माण आदि क्रियाएँ भूतल के स्वरूप को बिगाड़ रही हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में भूस्खलन एवं पंक वाह की बढ़ती घटनाएँ मानवीय गतिविधियों का ही दुष्परिणाम हैं।

धरातल पर होने वाली अपक्षय की क्रिया से मृदा का निर्माण होता है, अपरदन के लिए सामग्री प्राप्त होती है तथा नवीन स्थलाकृतियाँ बनती हैं। इस प्रकार अपक्षय का भू-आकृतिक दृष्टि से काफी महत्त्व है।

प्र.7. आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति, प्रकार तथा विशेषताओं का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

उत्तर

आग्नेय चट्टानें
(Igneous Rocks)

आग्नेय चट्टानों का अस्तित्त्व पृथ्वी के तप्त द्रवावस्था में आने के साथ ही रहा। भूतल के ठोस बनते समय यही चट्टाने सर्वत्र पाई जाती थीं। 'Igenous' मूलत: लैटिन भाषा के शब्द 'Ignus' से बना है, जिसका अर्थ है अग्नि। वरसेस्टर के अनुसार, "इन चट्टानों का निर्माण तप्त एवं द्रव पदार्थों के ठण्डे होकर ठोस अवस्था में परिवर्तित होने से हुआ।" सामान्य अर्थ में लावा या मेग्मा के शीतल होने से बनी चट्टानें आग्नेय चट्टानें कहलाती हैं। भूतल पर सबसे पहले बनने के कारण इन्हें प्राथमिक चट्टानें भी कहते हैं। भू-गर्भ में पाए जाने वाले मेग्मा भण्डारों से अर्द्ध-द्रवावस्था में मेग्मा पदार्थ भूतल की ओर ज्वालामुखी क्रिया द्वारा प्रवाहित होता है। यह मेग्मा भूतल के नीचे उपलब्ध स्थान में भरकर विविध आकृतियों में जमा हो सकता है अथवा भूतल पर ज्वालामुखी उद्‌गार द्वारा लावा के रूप में फैलकर ठण्डा होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अनेक आकार, प्रकार एवं कठोरता की आग्नेय चट्टानें बनती रहती हैं।

यद्यपि आग्नेय चट्टानें धरातल पर सबसे पहले बनने वाली चट्टानें हैं, किन्तु ज्वालामुखी की क्रिया द्वारा इनका निर्माण अभी भी जारी है। अधिकांश आग्नेय चट्टानें बहुत प्राचीन काल की हैं, वहीं कुछ नवीन चट्टानें भी धरातल पर लावा-प्रवाह के परिणामस्वरूप पाई जाती हैं। आग्नेय चट्टानों का विशेष महत्त्व इस बात से भी है कि अन्य सभी प्रकार की चट्टानों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं चट्टानों से हुई है। भारत में अरावली, नीलगिरि, कुडप्पा, धारवाड़ आदि क्षेत्रों में प्राचीन आग्नेय चट्टानें बड़ी मात्रा में पायी जाती हैं।

मेग्मा (भूतल पर लावा) के जमने की क्रिया पृथ्वी के भीतर और बाहर दोनों ही स्थानों पर होती है। इसके ठोस होने के स्थान के आधार पर आग्नेय चट्टानों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

1. **पातालीय अथवा वितलीय आग्नेय चट्टानें** (Plutonic Igneous Rocks)—भू-गर्भ का जो मेग्मा धरातल पर न आकर पृथ्वी के भीतरी भागों में बहुत अधिक गहराई पर ठण्डा होकर जम जाता है, उससे जो चट्टानें बनती हैं उन्हें

पातालीय चट्टानें कहा जाता है। यूनानी दर्शन के अनुसार प्लूटो पाताल का स्वामी है, अत: इन्हें Plutonic चट्टानों के नाम से भी पुकारा गया। ये चट्टानें पूर्ण रूप से रवेदार होती हैं। मेग्मा बहुत अधिक गहराई पर धीरे-धीरे ठण्डा होता है, अत: इसमें बड़े-बड़े रवे पड़ जाते हैं। ग्रेनाइट, गेब्रो, डायोराइट आदि इसी प्रकार की चट्टानों के उदाहरण हैं।

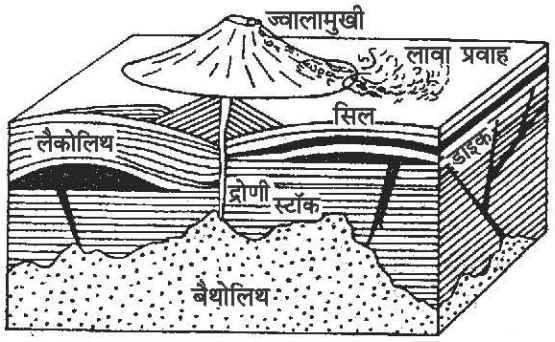

चित्र : आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति एवं वितरण स्वरूप

2. **मध्यवर्ती अथवा अधिवितलीय आग्नेय चट्टानें** (Hypabyssal Igneous Rocks)—भू-गर्भ से निकलने वाला उत्तप्त व अर्द्ध-द्रव मेग्मा जब धरातल पर नहीं पहुँचकर रास्ते में जितनी भी सन्धियाँ एवं दरारें आती हैं, उनमें भरकर बाद में ठण्डा होकर चट्टान का रूप ले लेता है। अत: पातालीय चट्टानों के ऊपर और बहिर्गामी चट्टानों के नीचे अर्थात् दोनों के बीच में पाई जाने वाली चट्टानें मध्यवर्ती चट्टानें कहलाती हैं। ये चट्टानें भी रवेदार होती हैं, किन्तु इनके रवे कुछ छोटे होते हैं, क्योंकि धरातल से कम गहराई पर ही जमती जाती हैं। मध्यवर्ती चट्टानों के कई रूप पाए जाते हैं—
   (i) सिल (Sill) या राल पट्ट,
   (ii) डाइक (Dyke) या राल भित्ति,
   (iii) लेकोलिथ (Laccolith) या छत्रक,
   (iv) लोपोलिथ (Lopolith) या कुब्ज शैल,
   (v) फैकोलिथ (Phacolith) या मसूर शैल एवं
   (vi) प्लग (Plug) या डाट।
3. **बहिर्गामी या ज्वालामुखी आग्नेय चट्टानें** (Extrusive or Volcanic Rocks)—भू-गर्भ से उत्तप्त मेग्मा जब ज्वालामुखी उद्गार के द्वारा धरातल पर आकर जम जाता है तो बहिर्गामी चट्टानें या ज्वालामुखी चट्टानें बनती हैं, जिनमें ज्वालामुखी बम, ब्रेसिया, लेपिली आदि प्रमुख हैं। भू-गर्भ से निकलते हुए लावा पदार्थ के शीघ्रता से ठण्डा हो जाने से निर्मित इन चट्टानों में प्राय: रवे नहीं पड़ते हैं। भारत में दकन का लावा पठार तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में कोलम्बिया का पठार बेसाल्ट चट्टानों द्वारा निर्मित है। इस प्रकार की बेसाल्ट चट्टानें महासागरीय ज्वालामुखियों व द्वीपों में भी मिलती हैं। इनमें लोहा, चूना, मैग्नीशियम अधिक मात्रा में तथा क्षार कम मात्रा में होता है।

रासायनिक संरचना के अनुसार आग्नेय चट्टानों के भेद—आग्नेय चट्टानों की रासायनिक संरचना का निर्धारण उसमें पाई जाने वाली सिलिका की मात्रा से होता है। ये निम्न प्रकार की होती हैं—

1. **अम्ल प्रधान आग्नेय चट्टानें** (Acid Igneous Rocks)—अम्ल प्रधान आग्नेय चट्टानों में सिलिका की मात्रा 65 से 80 प्रतिशत होती है और रंग में हल्का पीलापन होता है। यदि सिलिका की मात्रा 55 से 65 प्रतिशत तक होती है तो मध्यम अम्ल आग्नेय चट्टानें कहा जाता है। इन चट्टानों में फेल्सपार, बिल्लौर एवं स्फटिक की अधिकता तथा लोहा और मैग्नीशियम की कमी पाई जाती है। इनका प्रयोग इमारतों में अधिक होता है, क्योंकि इन पर ऋतु क्षय व अपरदन का प्रभाव प्राय: नहीं पड़ता है। ग्रेनाइट, ओबसिडियम आदि इसके उदाहरण हैं।
2. **बेसिक आग्नेय चट्टानें** (Basic Igneous Rocks)—यह चट्टानें अम्ल प्रधान चट्टानों से भारी होती हैं, क्योंकि इनमें लोहे के ऑक्साइड, एलुमिनियम एवं चूने की मात्रा अत्यधिक होती है। ये रंग में गहरी काली होती हैं। इनमें सिलिका की मात्रा 40 से 55 प्रतिशत तक होती है, इसलिए इन्हें बेसिक आग्नेय चट्टान कहा गया है। गेब्रो, बेसाल्ट इसके उदाहरण हैं।
3. **स्वल्प सिलिका चट्टानें** (Ultra Basic Rocks)—जब चट्टानों में सिलिका की मात्रा 40 प्रतिशत से भी कम होती है तो इन्हें स्वल्प सिलिका आग्नेय चट्टान कहा जाता है। इनमें Basic oxide की मात्रा 60 प्रतिशत से अधिक होती है। ये चट्टानें अधिक समय तक अर्द्ध-द्रव अवस्था में रहती हैं एवं धीमी गति से शीतल होकर जमती हैं। अत: ये मणिभ रहित रहकर दूर-दूर तक पठार की भाँति फैल जाती हैं। इमारतों में इनका प्रयोग नहीं होता है क्योंकि ये जल्दी ही टूट जाती हैं। पैरीडोटाइट इसका उदाहरण है।

मुख्य आग्नेय चट्टानें—मुख्य आग्नेय चट्टानें निम्न प्रकार हैं—

1. **ग्रेनाइट** (Granite)—यह मोटे रवेदार एवं कठोर चट्टान होती है जो तप्त मेग्मा के जमने से बनती है। ग्रेनाइट में अभ्रक, फेल्सपार, स्फटिक आदि खनिज अधिक मिलते हैं। इन चट्टानों की सतह पर सन्धियाँ पाई जाती हैं। इमारतों में इनका अधिक प्रयोग होता है।
2. **गैब्रो** (Gabbro)—यह भी कठोर चट्टान है। इनका रंग काला होता है। इनका भौतिक स्वरूप खुरदरा तथा समतल होता है। इनमें मुख्य खनिज ओगाइट तथा फेल्सपार हैं।
3. **बेसाल्ट** (Basalt)—यह भी एक भारी चट्टान होती है। इसका रंग भूरा तथा काला होता है। इसके मुख्य खनिज ओलीवाइड, मेग्नेटाइट तथा ओगाइट हैं।
4. **डायोराइट** (Diorite)—यह ग्रेनाइट से भारी होती है। इसका भौतिक स्वरूप समान कणों का होता है। इन चट्टानों में स्फटिक नहीं होता है।
5. **पेरीडोटाइट** (Peridotite)—इसमें प्रसिद्ध खनिज धातु क्रोमियम, प्लेटीनम, निकल आदि पाये जाते हैं। कभी-कभी इसका रंग हरा होता है।

आग्नेय चट्टानों के लक्षण (Characteristics of Igneous Rocks)

1. इन चट्टानों का निर्माण प्राय: ज्वालामुखी क्रिया द्वारा होता है।
2. आग्नेय चट्टानों में परतें नहीं होती हैं तथा ये पूर्णतया सघन होती हैं।
3. ये चट्टानें प्राय: रवेदार होती हैं।
4. ये चट्टानें कठोर तथा अरन्ध्र होती हैं।
5. इन चट्टानों में किसी प्रकार के जीवाश्म नहीं पाए जाते हैं।
6. इन चट्टानों में बहुमूल्य खनिज पदार्थ पाए जाते हैं।

आग्नेय चट्टानों के क्षेत्र (Area of Igneous Rocks)—विश्व में प्राचीनतम आग्नेय चट्टानों की आयु करोड़ों वर्ष आँकी गई है। इस प्रकार की चट्टानें प्रायद्वीपीय भारत, अरावली, पूर्वी साइबेरिया, म्यांमार का शान प्रदेश, उत्तर-पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील का पठार, मध्य पश्चिमी अफ्रीका तथा पश्चिमी यूरोप में पाई जाती हैं।

प्र.8. कायान्तरण क्या है? उदाहरण सहित इसके प्रकारों को वर्णित कीजिए।

उत्तर

कायान्तरित या रूपान्तरित चट्टानें
(Metamorphic Rocks)

'मेटामोरफिक' शब्द लैटिन भाषा के दो शब्दों Meta = Change एवं Morph = Form अर्थात् स्वरूप में परिवर्तन से बना है। अत: जब किसी भौतिक शक्ति एवं प्रक्रिया के प्रभाव से चट्टान के मूल स्वरूप या संरचना में परिवर्तन आने से जो नवीन चट्टान बनती है, उसे रूपान्तरित या कायान्तरित चट्टान कहते हैं। सामान्यत: ताप, दबाव, भिंचाव, भार एवं रासायनिक प्रक्रियाओं के प्रभाव से पूर्व की किसी प्रकार की चट्टान में बनावट, स्वरूप, खनिजों का पुनर्गठन एवं भौतिक लक्षणों में परिवर्तन आता रहता है, इसी के फलस्वरूप आग्नेय व अवसादी चट्टानों एवं पूर्व की कायान्तरित चट्टानों से पूर्णत: नवीन चट्टान बनती है। बरसेस्टर के अनुसार, "कायान्तरित चट्टानों में वे चट्टानें सम्मिलित हैं जो विघटित हुए बिना ही आकृति व संघटन में परिवर्तित हो जाती है। ऐसी चट्टान प्राय: (i) अपनी मूल चट्टान से निश्चित प्रक्रिया दिशा में ही रूपान्तरित होती हैं, एवं (ii) उसकी कठोरता मूल चट्टान से बढ़ जाती है।"

कायान्तरित चट्टानें स्पष्टत: रवेदार होती हैं। इसमें रवों की व्यवस्था व संगठन आग्नेय चट्टानों से अधिक सुव्यवस्थित एवं समानान्तर स्तर पर बना रहता है। अत: दोनों के अन्तर को पहचाना जा सकता है।

कायान्तरण के प्रकार (Types of Metamorphism)

1. **मूल चट्टानों के आधार पर**—मूल चट्टानों के आधार पर तीन प्रकार का कायान्तरण होता है।
   (i) **परिआग्नेय कायान्तरण** (Ortho Metamorphism)—इसमें मूलत: आग्नेय चट्टानों में जब रूप परिवर्तन होता है तो अनेक नवीन चट्टानें बनती हैं। जैसे ग्रेनाइट से नीस एवं बेसाल्ट से स्लेट की रचना होती है। यह ऑर्थो नीस व ऑर्थो शिस्ट दो प्रकार की होती है।

(ii) **परिअवसादी कायान्तरण** (Para Metamorphism)—इसमें मूल अवसादी चट्टानें कायान्तरण के कारकों से प्रभावित होकर नवीन व अधिक कठोर चट्टानों में बदल जाती हैं। जैसे-चूने का पत्थर संगमरमर में, कोयला ग्रेफाइट में, बलुआ पत्थर क्वार्ट्जाइट में। यह भी पारानीस व पारा शिस्ट दो प्रकार की होती हैं।

(iii) **बहु-कायान्तरण** (Poly Metamorphism)—यह कायान्तरण की विशिष्ट क्रिया है, जिसमें पूर्व की कायान्तरित चट्टान पुनः अगले स्तर पर उच्चस्तरीय कायान्तरित चट्टान में बदल जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रेफाइट से बहु-कायान्तरण द्वारा हीरा बनता है, स्लेट से अभ्रक शिस्ट की रचना होती है।

2. **प्रक्रिया के आधार पर**—चट्टानों में विविध प्रकार से कायान्तरण प्रक्रिया सम्पन्न होती है एवं नवीन चट्टानों की रचना होती है। इस आधार पर कायान्तरण के चार प्रकार हैं—

(i) **तापीय एवं स्पर्श कायान्तरण** (Thermal and Contact Metamorphism)—इस प्रकार के कायान्तरण ज्वालामुखी उद्गार के समय चट्टानों के मेग्मा से सम्पर्क से होता है। इसमें उच्च ताप का सहयोग रहता है। मेग्मा के साथ उत्तप्त वाष्प व जल मिले रहने के कारण रासायनिक परिवर्तन भी होता है। इसे स्थिर कायान्तरण भी कहते हैं। चूना पत्थर गर्म लावा के स्पर्श से संगमरमर में बदल जाता है।

(ii) **गतिक तथा क्षेत्रीय कायान्तरण** (Regional or Dynamic Metamorphism)—किसी विस्तृत क्षेत्र में ऐसी क्रिया होने के कारण इसे क्षेत्रीय कार्यान्तरण कहते हैं। पर्वत निर्माणकारी हलचल के समय अधिक दबाव, भिंचाव एवं ताप के कारण विशाल क्षेत्र में कायान्तरण सम्पन्न हो जाता है।

(iii) **जलीय कायान्तरण** (Hydro Metamorphism)—जल में मिले रासायनिक पदार्थों का घोल में परिवर्तन हो जाने से उनमें परिवर्तन हो जाता है। जल की गहराई के कारण भी निरन्तर दबाव बढ़ते जाने से चट्टानों में रूपान्तरण होता है।

(iv) **उष्ण जलीय कायान्तरण** (Hydro Thermal Metamorphism)—भू-गर्भ में विशेष उत्तप्त वाष्प व जल चट्टानों की संरचना को विशेष रूप से एवं तेजी से प्रभावित करते हैं। इससे चट्टानों का शीघ्र रूपान्तरण होता है एवं नवीन कायान्तरित चट्टानें बनती हैं। इसमें कम गहराई की अवसादी चट्टानें तेजी से प्रभावित होती हैं।

3. **क्षेत्र विस्तार के आधार पर**—क्षेत्र विस्तार के आधार पर कायान्तरण को दो उप-भेदों में बाँटा गया है—

(i) **प्रादेशिक या गतिज कायान्तरण,**

(ii) **स्थानीय या स्पर्श कायान्तरण।** इन दोनों को पूर्व में समझाया गया है।

4. कणों व परतों की रचना के आधार पर.दो उप-भेदों में बाँटा गया है—

(i) **नीस कायान्तरित चट्टानें**—ऐसी चट्टानें विशेष कठोर या संगठित एवं परत रहित होती हैं। अतः इन्हें अपत्रित चट्टान भी कहते हैं। संगमरमर, क्वार्ट्जाइट, ग्रेनाइट नीस एवं गैब्रो नीस इसके विशेष उदाहरण हैं।

(ii) **शिस्ट कायान्तरित चट्टानें**—ऐसी चट्टानें विशेष तल के सहारे परतों में खिल जाती हैं या अलग की जा सकती हैं। अतः इन्हें पत्रित चट्टान भी कहते हैं। स्लेट, अभ्रक आदि इसके उदाहरण हैं।

प्र.9. चट्टानों का सामान्य परिचय देते हुए अवसादी चट्टानों की उत्पत्ति एवं रचना विधि के अनुसार जैविक तत्त्वों से निर्मित तथा रासायनिक क्रिया द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

चट्टानों का सामान्य परिचय
(General Introduction to Rocks)

पृथ्वी के ऊपरी ठोस भाग को क्रस्ट या पपड़ी कहते हैं। इसके जल से आवृत्त भाग को जलमण्डल तथा स्थलीय भाग को स्थलमण्डल कहते हैं। क्रस्ट की संरचना अनेक तत्त्वों से हुई है, जिनमें ऑक्सीजन, सिलिकन, एलुमिनियम, लोहा, कैल्सियम, सोडियम, पोटैशियम व मैग्नीशियम प्रमुख हैं। क्रस्ट के पदार्थों को चट्टान कहा जाता है। सामान्य अर्थ में चट्टान से अभिप्राय कठोर या दृढ़ भू-भाग होता है, किन्तु भू-विज्ञान व भूगोल में इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। अर्थात् चट्टान में कठोर या कोमल सभी प्रकार के पदार्थ आते हैं। अतः भूतल निर्माण के सभी पदार्थों को चट्टान कहते हैं। भू-वैज्ञानिकों के अनुसार, "चट्टानें खनिजों का समूह है।"

चट्टानों का वर्गीकरण (Classification of Rocks)

निर्माण एवं संरचना के आधार पर चट्टानों को निम्न तीन वर्गों में रखा जाता है—

A. आग्नेय चट्टानें, B. अवसादी या परतदार चट्टानें, C. कायान्तरित या रूपान्तरित चट्टानें।

अवसादी चट्टानें
(Sedimentary Rocks)

ये चट्टानें अपने विशिष्ट लक्षणों के आधार पर अवसादी, परतदार अथवा द्वितीयक नामों से जानी जाती हैं। Sedimentary शब्द लैटिन भाषा के *Sedimentum* (नीचे बैठना या जमना) से बना है। **वर्सेस्टर** के अनुसार, अवसादी चट्टानों का निर्माण प्राचीन चट्टानों के मलवे तथा खनिजों के अवसादों के परत के रूप में संगठित होने से हुआ है।

अवसादी चट्टानों के प्रकार (Types of Sedimentary Rocks)

अवसादी चट्टानें अन्य चट्टानों की अपेक्षा अधिक विविधता युक्त होती हैं। इन्हें उत्पत्ति एवं रचना विधि के अनुसार निम्न तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. जैविक तत्त्वों से निर्मित अवसादी चट्टानें,
2. रासायनिक क्रिया द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें,
3. यान्त्रिक क्रिया द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें।

इनमें से जैविक तत्त्वों तथा रासायनिक क्रिया द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानों का विवरण निम्नलिखित है—

1. **जैविक तत्त्वों से निर्मित चट्टानें** (Rocks of Organic Origin)—ऐसी चट्टानों की रचना में जीव-जन्तु व वनस्पति तत्त्वों की प्रधानता रहती है। इनके तीन उपभेद हैं—
   (i) **कार्बन प्रधान चट्टानें**—प्राचीन काल में वनस्पति के सघन विस्तार एवं उनके भूमि में दबने से बनने वाला विविध प्रकार का कोयला (बिटुमिनस, सबबिटुमिनस, लिग्नाइट एवं पीट) कार्बनिक चट्टानों में आता है। इसी भाँति सागर तली में निरन्तर रहने वाले सूक्ष्म जीवों के विशेष अनुकूल स्थलों पर एकत्रित होते रहने से उनके तेलजन्य या हाइड्रोकार्बन तत्त्व चट्टानों के बीच खनिज तेल एवं प्राकृतिक गैस के रूप में भारी मात्रा में पाए जाते हैं।
   (ii) **चूना प्रधान चट्टानें**—अनेक समुद्री जीव अपने भोजन हेतु मुख्यत: चूना प्रधान तत्त्वों पर निर्भर रहते हैं। चूना युक्त चट्टानों में ऐसे जीव मर जाने पर अपनी संरचनाओं सहित एकत्रित होते जाते हैं। ऐसी चट्टानों में खड़िया, जिप्सम, सेलखड़ी, डोलोमाइट, चूने का पत्थर (जैवयुक्त) आदि मुख्य हैं। ये चट्टानें मुलायम होने से इन पर अपक्षय एवं अपरदन का शीघ्र प्रभाव पड़ता है।
   (iii) **सिलिका प्रधान चट्टानें**—जब चट्टानों में सिलिका की मात्रा अधिक होती है, उसे सिलिका प्रधान चट्टान कहते हैं। ऐसी चट्टानों में सिलिका पर आश्रित जीवों के अवशेष प्रधानत: आते हैं। सागर तली में डायटम व रेडियोलेरियन पंक, स्पंज आदि के अवशेष से बनी चट्टानें इसमें आती हैं। फ्लिन्ट एवं चर्ट चट्टानें इसी प्रकार की हैं।
2. **रासायनिक पदार्थों से निर्मित चट्टानें** (Rocks of Chemical Origin)—चूना, नमक, शोरा, सल्फेट, जिप्सम, पोटैशियम आदि पदार्थ जल में अधिक शीघ्रता से एवं पूरी तरह घुलते जाते हैं। यही सब पदार्थ महासागरों के विशेष भागों में भू-वैज्ञानिक काल में जमा होते रहे हैं। मध्य जीव कल्प के युगों में महासागरीय अतिक्रमण स्थल भागों पर काफी दूरी तक हुआ। अत: इसी काल में भारी मात्रा में सागर तली में चूना प्रधान या डोलोमाइट चट्टानों का जमाव होता गया। सैंधा नमक, हरसौंठ, शोरा, सल्फेट आदि लवण युक्त चट्टानें भी इसी विधि से बनीं। इस प्रकार रासायनिक विधि से निर्मित चूने की चट्टानों का विस्तार जैविक विधि की चूनामय चट्टानों से अनेक गुना अधिक है।

प्रमुख अवसादी चट्टानें (Main Sedimentary Rocks)

1. **बलुआ पत्थर** (Sand Stone)—यह बालू के कणों के कठोर होने से बनता है। इसकी रचना सिलिका प्रधान होती है। यह अनेक रंगों वाला तथा रन्ध्रमय होता है, इसमें परतें भी पाई जाती हैं।
2. **चूना पत्थर** (Lime Stone)—इसका मुख्य घटक कैलसाइट है। अधिकांशत: समुद्री जीवों के कंकालों से निर्मित होता है। अनेक रंगों का होता है। पानी में सरलता से घुलने से सीमित उपयोग होता है।
3. **डोलोमाइट** (Dolomite)—यह चूना पत्थर से मिलता-जुलता है। यह कैल्सियम व मैग्नीशियम मिश्रित होने से अधिक भारी व संगठित होता है। यह इमारती कार्यों में विशेष उपयोगी होता है।
4. **कोंग्लोमरेट** (Conglomerate)—यह बजरी या रेत के संगठित होने से बनता है। इसमें क्वार्ट्स तथा कैल्सेडोनी की मात्रा अधिक होती है। हिमानियों के निक्षेपों से बनने वाले बड़े कोंग्लोमरेट को टिलाइट कहते हैं।

5. **शेल** (Shale)—अवसादी चट्टानों में यह सबसे व्यापक है। यह कीचड़ तथा चीका से निर्मित होती है एवं बहुत मुलायम होती है। इसमें प्राय: अभ्रक व क्वार्ट्स मिले रहते हैं।
6. **खड़िया** (Chalk)—यह अत्यन्त बारीक कणों वाला चूने का पत्थर है। यह सफेद व भूरा होता है। इसकी रचना छोटे-छोटे समुद्री जीवों के खोल से होती है।

अवसादी चट्टानों के लक्षण (Characteristics of Sedimentary Rocks)

1. अवसादी चट्टानें आग्नेय एवं कायान्तरित चट्टानों की तुलना में मुलायम होती हैं।
2. ये निश्चित परतों के सहारे अधिक आसानी से अलग की जा सकती हैं।
3. इन चट्टानों में जीवों के अवशेष पाए जाते हैं। ऐसे जीवों के द्वारा चट्टानों की आयु व रचना विधि का ज्ञान सरलता से हो जाता है।
4. इनका निर्माण विविध प्रकार की प्रक्रिया से होता है, अत: इनमें अधिक विविधता होती है। यह परतदार अथवा बिना परत वाली, कभी-कभी रवेदार एवं कभी असंगठित रूप में, कभी बड़े कंकड़-पत्थरों के मिलने से एवं कभी चिकनी मिट्टी से निर्मित होती है।
5. अवसादी चट्टानें प्राय: छिद्रमय होती हैं। अत: यह भूमिगत जल स्रोत का कारण भी होती हैं।
6. अवसादी चट्टानें आग्नेय की तरह बड़े-बड़े स्थल रूपों में नहीं पायी जाती हैं।
7. इनमें संधियाँ व जोड़ अधिक पाये जाते हैं।

प्र.10. दीर्घकालिक एवं संवलन को परिभाषित करते हुए भ्रंश घाटियों के विकास सम्बन्धी विचारधाराओं को समझाइए।

उत्तर

दीर्घकालिक या पटल विरूपणी शक्तियाँ
(Diastrophic Movements)

पटल विरूपण के अन्तर्गत वे समस्त दीर्घकालीन घटनाएँ सम्मिलित हैं जो कि अन्तर्जात शक्तियों द्वारा उत्पन्न होती हैं तथा जिनके उत्पन्न होने में लम्बा समय लगता है। फिंच व ट्रिवार्था के अनुसार, "पटल विरूपण से अभिप्राय उन समस्त प्रक्रमों से है जिनका भूपटल के उत्थान, अवतलन या किसी एक भाग के सम्बन्ध में दूसरे भाग के विस्थापन और उसके टूटने, मुड़ने तथा संवलित होने में योग होता है।"

पृथ्वी के आन्तरिक भागों में होने वाले निरन्तर परिवर्तन एवं विशेष शक्तियों के क्रियाशील होने से पृथ्वी की सतह पर निरन्तर क्षैतिज एवं लम्बवत् दोनों प्रकार की गतियाँ अनेक प्रकार के स्थल रूपों का निर्माण करती रहती हैं। यह निर्माण बहुत धीमी गति से, किन्तु निरन्तर होता रहता है। जैसे पौराणिक सरस्वती की तली का उत्थान 3-4 हजार वर्षों में 60 से 80 मीटर तक हुआ है। इसी भाँति मुम्बई के निकट का तट कुछ सदियों में (लगभग 500 वर्षों में) 20 से 25 मीटर नीचे धँसा है। संयुक्त राज्य का न्यूजर्सी राज्य का तट प्रति सौ वर्ष 60 सेण्टीमीटर नीचे धँस रहा है। क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से पटलविरूपणी शक्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) महादेशजनक शक्तियाँ (Epeirogenetic Forces)

इनके परिणामस्वरूप महाद्वीपों में उत्थान (निर्गमन) तथा अवतल (निमज्जन) की क्रियाएँ जारी रहती हैं। इनसे केवल लम्बवत् भू-आकृतियों का ही निर्माण होता है। Epeirogenetic शब्द ग्रीक भाषा के 'एपीरोज' (Epeiros) से बना है, जिसका अर्थ 'महाद्वीप' है और जैनिसिस (Genesis) का अर्थ 'उत्पत्ति' से है। इसका अभिप्राय हुआ 'महाद्वीप की उत्पत्ति'। दिशा के आधार पर इनको भी दो भागों में बाँटा गया है—

1. **उपरिमुखी शक्तियाँ** (Upward Forces)—महाद्वीपों में ये शक्तियाँ दो प्रकार के उत्थान पैदा करती हैं। प्रथम में कोई भी महाद्वीप या उसका काफी बड़ा भाग अपनी पहली वाली सतह से ऊँचा उठ जाता है, तो उत्थान (upliftment) कहलाता है। द्वितीय में किसी भी महाद्वीप का तटीय भाग समुद्रतल से ऊपर उठ जाता है, जिसे निर्गमन (Emergence) कहते हैं।
2. **अधोमुखी शक्तियाँ** (Downward Forces)—इन शक्तियों के फलस्वरूप भी महाद्वीपीय भागों का धँसाव दो प्रकार से होता है—पहला कोई भी महाद्वीपीय भाग अपनी समीपी सतह से नीचे धँस जाए, जिसे अवतलन (subsidence) कहते हैं। द्वितीय स्थिति में स्थल खण्ड सागर तल से नीचे चला जाए अर्थात् जलमग्न हो जाए जिसे निमज्जन कहते हैं। ये गतियाँ प्राय: सागरों के तटीय भागों में ही होती हैं।

(ख) पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ (Orogenetic Forces)

'ओरोजेनेटिक' शब्द ग्रीक भाषा के ओरोज (oros) तथा जेनेसिस (genesis) से बना है, जिसका अभिप्राय है पर्वत निर्माणकारी'। ये शक्तियाँ भूतल पर क्षैतिज रूप से सक्रिय रहती हैं, अत: इन्हें क्षैतिज बल या स्पर्शरेखीय बल (tangential force) भी कहते हैं। यह बल दो रूपों में कार्य करता है—

पहला तनाव मूलक, जिसमें तनाव के द्वारा चटकनें (cracks), भ्रंश (fault), दरार (fracture) आदि पड़ती हैं। द्वितीय सम्पीडनात्मक बल (compressional force), जिसमें वलन (folds) एवं संवलन (warp) पड़ते हैं।

संवलन
(Warping)

जब दो या दो से अधिक क्षैतिजिक शक्तियाँ एक-दूसरे के आमने-सामने क्रियाशील होती हैं, तो धरातलीय चट्टानों में मुड़ाव या बंकन (Crystal Bending) होने लगता है। मुड़ाव भी दो तरह से पड़ते हैं—एक वलन (folds), द्वितीय संवलन (warp)। संवलन के प्रभाव से धरातल के विस्तृत क्षेत्र में परिवर्तन होता है तथा विस्तृत क्षेत्र लहर के समान ऊपर-नीचे हो जाता है। इस परिवर्तन में धरातल का बड़ा भाग या तो ऊपर उठ जाता है या नीचे धँस जाता है। कभी-कभी धरातल का कोई भाग गुम्बद के आकार में ऊपर उठ जाता है, जो कि उत्संवलन (upwards) कहलाता है। संवलन के ऊपर उठे हुए भाग को भू-अपनति (geo-anticline) भी कहते हैं। कभी-कभी इसके द्वारा धरातलीय भाग नीचे की ओर भी धँस जाता है, जिससे गड्ढा या बेसिन बन जाता है। इसे अवसंवलन (downwarps) कहते हैं। संवलन के नीचे धँसे हुए भाग को भूअभिनति (geo-syncline) भी कहते हैं। जब संवलन क्रिया काफी बड़े क्षेत्र में होती है, उसे वृहद् संवलन (Broad warp) से सम्बोधित किया जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही लक्षणों के ढाल धीमे रहते हैं।

भ्रंश घाटियों के विकास सम्बन्धी विचारधाराएँ (Developmental Ideology of Rift Valleys)

भ्रंश घाटियों का निर्माण या विकास विद्वानों के लिए विशेष चिन्तन का विषय रहा है। इसी कारण इनके निर्माण के बारे में विद्वानों ने अपने विचार समय-समय पर प्रस्तुत किए हैं।

तनाव पर आधारित विचारधारा—यह एक अधूरी एवं अस्पष्ट विचारधारा रही है, अत: वर्तमान में अधिक मान्य नहीं है। इसके अनुसार जिस प्रकार मेहराव के मध्य का पत्थर (Keystone) तनाव द्वारा हटाने से वहाँ खड्ड पड़ जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी पर तनाव बढ़ने से विशेष प्रभावित भाग में दरार पड़ने या मध्यवर्ती भाग के नीचे धँसने से वहाँ दरार या भ्रंश घाटी बन जाती है।

सम्पीडन पर आधारित विचारधारा—वारेन, स्मिथ, बेलेण्ड, विलिस आदि विद्वानों ने भ्रंश घाटी के निर्माण की नवीन विचारधारा प्रस्तुत की। इसमें तनाव के साथ-साथ तीव्र सम्पीडन एवं दबाव को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। ऐसे सम्पीडन से प्रतिवलन की क्रिया के समय अधिक्षेप भ्रंश के सहारे रिफ्ट ब्लॉक एवं भ्रंशोत्थ ब्लॉक का निर्माण होता है। ऊपर उठे हिस्से ब्लॉक पर्वत कहलाते हैं एवं नीचे धँसने वाले भाग भ्रंश या दरार घाटी बनाते हैं। बाद में बिलार्ड ने इसमें सुधार कर अधिक मान्य विचारधारा प्रस्तुत की।

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-IV

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. नदी घाटी किसे कहते हैं?

उत्तर विभिन्न बड़ी नदियों के अपवाह बेसिनों को प्रथक करने वाली उच्च भूमियाँ जल विभाजक कहलाती हैं तथा जिस निश्चित मार्ग में नदी प्रवाहित होती हैं, उसे नदी घाटी कहते हैं।

प्र.2. नदी के कार्य लिखिए।

उत्तर "नदी का प्रमुख कार्य स्थल को सागर तक ले जाना है।" अर्थात् नदी स्थल को काटती है तथा उसे परिवहित करके अन्यत्र निक्षेपित करती है। नदी अपनी घाटी में बहने वाले जल के द्वारा घाटी को गहरा एवं किनारों को भी चौड़ा करती रहती है। इससे घाटी का विस्तार होता रहता है। इन दोनों से ही नदी घाटी एवं नदी बेसिन की भू-आकृतियों का विशेष प्रकार से विकास होता है। नदी के कार्य एवं उनसे निर्मित भू-आकृतियाँ एक-दूसरे पर पूरी तरह निर्भर हैं।

नदी समतलीकरण (gradation) के अन्य अभिकर्ताओं (agents) की भाँति अपरदन (कटाव), परिवहन (बहाव) एवं निक्षेपण (जमाव) तीनों ही कार्य करती हैं।

प्र.3. बालू भित्ति एवं बालू द्वीप के बारे में आप क्या जानते हैं?

उत्तर कई नदियाँ अपने साथ महीन चीका एवं दुमट के साथ-साथ बालू कण भी लाती रहती हैं। साथ ही समुद्री लहरों व ज्वारीय लहरों के साथ भी नदी के मुहाने के निकट बालू एकत्रित होती जाती है। ऐसी दशा में बड़ी नदियों के मुहानों एवं डेल्टा की बाहरी सीमा व तट पर बालू (महीन रेत) की पट्टी बिछ जाती है। इसी भाँति अपतटीय समुद्र में अवसादों के जमा होते रहने से भी नए द्वीप बनते रहते हैं। गंगा, नील, नाइजर, यांगत्सी आदि नदियों के डेल्टा के आगे ऐसे द्वीप पाए जाते हैं। ब्रह्मपुत्र, कावेरी, कांगो, मिसीसिपी, मिसौरी आदि नदियों में तो स्थायी एवं बसे हुए द्वीप भी पाए जाते हैं।

प्र.4. अल्पकालिक सरिताएँ या नाले किन्हें कहते हैं?

उत्तर नदी अपने मार्ग में बहते समय सम्पूर्ण प्रवाही प्रदेश या नदी बेसिन को प्रभावित करती है तथा मरुस्थलीय एवं शुष्कप्राय प्रदेशों में नदियाँ कुछ दिन या कभी-कभी कुछ घण्टे ही बहती हैं, ऐसी नदियों को अल्पकालिक सरिताएँ या नाले कहते हैं।

प्र.5. उल्काजात जल से आप क्या समझते हैं?

उत्तर उल्काजात जल को आकाशी जल भी कहते हैं। वर्षा तथा पिघले हुए हिम से प्राप्त जल को उल्काजात जल कहते हैं। भूमिगत जल का प्रमुख स्रोत यही जल है। इसमें नदियों व झीलों के तल से रिसने वाला जल भी सम्मिलित है।

प्र.6. मेग्मा जल विलम्बित जल से क्या अभिप्राय है?

उत्तर **मेग्मा जल**—ज्वालामुखी क्रिया के समय तप्त मेग्मा चट्टानों में प्रवेश कर जाता है। मेग्मा में उपस्थित जलवाष्प घनीभूत होकर चट्टानों के छिद्रों व दरारों में एकत्रित हो जाता है। इस जल को मेग्मा जल कहते हैं।

विलम्बित वर्षा जल—इस प्रकार विभिन्न स्रोतों से जल भूमि में संगृहीत होता है। भूमिगत जल का जो अंश कुओं और स्रोतों के रूप में पुनः धरातल पर प्रकट होता है, उसे विलम्बित वर्षा जल कहते हैं।

प्र.7. सहजात जल की परिभाषा लिखिए।

उत्तर धरातल पर बिछी हुई जलज या अवसादी चट्टानों में जल का पर्याप्त अंश रहता है। पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों में नीचे दब जाने पर भारी दबाव से इनमें से जल निकलने लगता है, जिसे सहजात जल कहते हैं।

प्र.8. हमादा क्या है? यह कहाँ पाया जाता है?

उत्तर ऐसे मरुस्थल जिनकी सतह पर मुख्यतः नग्न चट्टानें पाई जाती हैं, चट्टानों का ऊपरी आवरण, (बालू और धूल) हवा द्वारा उड़ा लिया जाता है। वायु के अपवाहन तथा अपघर्षण कार्य से चट्टानी सतह पर कहीं गड्ढे तो कहीं टीले बन जाते हैं। इसे हमादा या चट्टानी मरुस्थल कहते हैं। मरुस्थल का यह प्रकार विशेषतः सहारा में पाया जाता है।

प्र.9. पठारी मरुस्थल की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर शुष्क पठारी भागों पर अनाच्छादन के निरन्तर क्रियाशील रहने से इनकी उत्पत्ति होती है। यहाँ नदियों द्वारा महाखण्डों या केनियन का निर्माण होता है। संयुक्त राज्य में कोलोरेडो व एरीजोना ऐसे ही मरुस्थल हैं। कभी-कभी मरुस्थली गर्त चारों ओर पर्वतों से घिरे होते हैं, इन्हें पर्वत व बालसन मरुस्थल कहते हैं।

प्र.10. रेग क्या है? इसे पश्चिमी सहारा क्षेत्रों में किस नाम से जाना जाता है?

उत्तर रेग ऐसे मरुस्थल हैं जिनकी सतह से महीन बालू उड़ गई होती है और धरातल पर केवल छोटे-छोटे पत्थर तथा बजरी शेष रह गई होती है। पश्चिमी सहारा में इसे रेग, पूर्वी सहारा में सेरिर, मध्य एशिया में साई तथा ऑस्ट्रेलिया में गिब्बर कहते हैं।

प्र.11. वायु के परिवहन कार्य को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर पवनें बालू को बहाकर ले जाने का कार्य भी करती हैं। वायु बहते समय अपने द्वारा काटे गए एवं अपक्षय द्वारा नष्ट हुए टुकड़ों को कणों में बदलकर अपने साथ बहा ले जाती है। मरुस्थलों में वायु परिवहन की क्षमता का अन्दाज तूफान के समय लगाया जा सकता है। एक उत्पाती तूफान या बवण्डर में हजारों टन मिट्टी व बालू एक स्थान से कई किलोमीटर दूर तक बहाकर बिछा दी जाती है। प्राय: मोटे कण व कंकड़ रगड़ खाते हुए कुछ ही दूरी तक वायु की गति के अनुसार बहते जाते हैं, जबकि बालू के कण कई किमी दूर तक तथा महीन मिट्टी के कण सैकड़ों किमी दूर तक बहाकर ले जाए जाते हैं। परिवहन की क्रिया पर वायु की गति, बालू के कणों का आकार, कणों की मात्रा, मार्ग की बाधाएँ आदि तथ्यों का विशेष प्रभाव पड़ता है।

प्र.12. झीलों के समाप्त होने के क्या कारण हैं?

उत्तर नदी के मार्ग में घाटी के मध्य कई स्थानों पर गड्ढे पाए जाते हैं। नदी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे गड्ढों में एक ओर से गिरकर वहाँ झील की रचना करती है और दूसरी ओर से बाहर निकलती है। वूलर एवं डल झील (कश्मीर), नैनी झील (नैनीताल), मानसरोवर (तिब्बत) आदि ऐसी ही झीलें हैं। ये झीलें धीरे-धीरे अवसादों से भरते जाने से अथवा झील के निकासी मार्ग के नीचे की ओर कटाव होते रहने से समाप्त होने लगती हैं।

प्र.13. हिमानी पट्ट का स्वरूप कैसे नष्ट हो जाता है? आप क्या समझते हैं?

उत्तर जब कभी हिमानी के ऊपर बड़े शिलाखण्ड पड़े होते हैं तो वे अपने नीचे की बर्फ को संरक्षण प्रदान करते हैं। किन्तु जब चारों ओर की बर्फ पिघल जाती है तो ये शिलाखण्ड निकटवर्ती सतह से टेबल के रूप में ऊँचे उठे हुए रह जाते हैं। अन्तत: हिम के पिघल जाने पर ये शिलाखण्ड भी नीचे गिर जाते हैं और हिमानी पट्ट का स्वरूप ध्वस्त हो जाता है।

प्र.14. हिमानी के परिवहन कार्य को समझाइए।

उत्तर यद्यपि हिमानी की गति नदी की तुलना में बहुत कम होती है, किन्तु इसकी परिवहन क्षमता काफी होती है। इनके द्वारा विशाल शिलाखण्ड भी सैकड़ों किमी दूर तक हटा दिए जाते हैं। हिमानी द्वारा परिवहित किए जाने वाले कुल पदार्थ को अपोढ़ (draft) कहते हैं। हिमानी द्वारा ढोए गए पदार्थों में समस्त क्रम के अर्थात् छोटे व बड़े पदार्थ होते हैं। कुछ ऊपरी तली में, कुछ किनारों पर तो कुछ मध्य में फँसे रहते हैं। इस प्रकार हिमानियाँ बड़ी मात्रा में पदार्थों का परिवहन करती हैं।

प्र.15. उन्मग्न तट रेखाओं से आपका क्या अभिप्राय है? संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर उन्मग्न तट रेखा स्थल की भूगर्भिक हलचलों या समुद्रों में जल की कमी के कारण ही बनती है। मग्नतट पर नदियों, हवाओं, हिमनदों आदि साधनों द्वारा स्थल भाग के निक्षेप अवसाद के रूप में जमा होते रहते हैं तथा यह अवसाद एक नई परत की स्थिति प्रदर्शित करता है। जब कभी भूगर्भिक हलचलें होती हैं, तो यह महाद्वीपीय मग्नतट समुद्र के ऊपर आ जाता है। ऊपर आये भाग की नई तथा पुरानी परत एक समतल रूप में नवनिर्मित भू-भाग कहलाती है। इसी को उन्मग्न तट रेखा के नाम से पुकारते हैं। ये तट रेखाएँ पूर्णत: सीधी तथा चौरस होती हैं। इनमें किसी भी प्रकार की खाड़ियाँ नहीं होतीं। भारत का मद्रास तट भी उन्मग्न तट रेखा का उदाहरण है। इन पूर्ववर्ती नितलों पर निक्षेप जमे रहते हैं।

प्र.16. निमग्न तट रेखाओं की विकासोन्मुखी अवस्थाओं में से प्रौढ़ावस्था को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर इस स्थिति में निमग्न तट रेखा की लगभग सभी छोटी विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं। सामुद्रिक लहरें स्थल भाग को काटकर समुद्र के क्षेत्र को बढ़ा देती हैं तथा जितने भी अवरोध पदार्थ एकत्रित होते हैं वे सब धीरे-धीरे दूर-दूर तक लुप्त हो जाते हैं। इस स्थिति पर निमग्न तट रेखाएँ अपनी पूर्ण युवावस्था से विकासोन्मुखी अवस्था पर आती हैं। इस अवस्था को निमग्न तट रेखाओं की प्रौढ़ावस्था कहते हैं। इस प्रकार की अवस्था का उदाहरण पश्चिमी भारत की तट रेखा को माना जाता है।

प्र.17. जलदाब क्रिया द्वारा अपरदन कार्य को संक्षेप में परिभाषित कीजिए।

उत्तर जब लहरें तट से टकराती हैं तो वह मेहराबों, गुफाओं, स्तम्भों के मोड़ों में भी तेजी से प्रवेश करते समय संकरे भाग की ओर जाती हैं। यहाँ दो प्रकार से अपरदन क्रिया होती है—(i) लहरों के सिकुड़ने से अधिक दबाव से तट से टकराकर काट-छाँट करना, एवं (ii) लहरों से पूर्व पवन का तेजी से दबाव के साथ प्रवेश करना। इससे संकरे व नुकीले भाग नष्ट होते जाते हैं।

प्र.18. अपघर्षण द्वारा अपरदन क्रिया के कार्य को बताइए।

उत्तर लहरों द्वारा अपरदित या उठाए गए पदार्थ तट पर बहाव के समय लहरों के साथ टकराकर घर्षण द्वारा तोड़फोड़ का काम करते हैं।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. नदी के अपरदन सीमा एवं आधार तल से क्या अभिप्राय है? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर

नदी अपरदन की सीमा एवं आधार तल
(Limitations of River Erosion and Base Level)

बहता हुआ जल ढाल का अनुसरण करता है। जहाँ भी ढाल कम होगा उसकी गति घट जाएगी। इसी ढाल क्रम के अनुसार उसमें काटने या अपरदन की क्षमता भी विकसित होती है, किन्तु प्रश्न यह है कि बहता हुआ जल या नदी अपनी घाटी को किस सीमा तक काट सकती है? इसी के उत्तर में भू-वैज्ञानिकों एवं भूगोलविदों ने आधार तल (Base level) की विचारधारा प्रस्तुत की। इस के अनुसार विश्वव्यापी या सार्वभौमिक आधार तल के लिए सागर तल को प्रमाण माना जाता है। यह वह तल या सीमा है जहाँ पर विश्व की लगभग सारी ही नदियाँ आकर मिलती हैं। अत: विशेष अपवादों को छोड़ नदी अपनी घाटी को सागर तल से अधिक गहरा नहीं कर सकती, किन्तु जो नदियाँ आन्तरिक झीलों में गिरती हैं, उनमें से प्रत्येक का आधार तल वह झील होगी जिसमें वह नदी विशेष मिलती है। जैसे बोल्गा एवं यूराल कैस्पियन सागर में, सरदरिया एवं अमूदरिया अरल सागर में जाकर मिलती हैं। इसी भाँति जोर्डन नदी मृत सागर में गिरती है। इसके लिए भी मृत सागर ही आधार तल बनेगा। कुछ झीलें सागर तल से भी नीचे (Below sea level) स्थित हैं, जैसे कैस्पियन सागर एवं मृत सागर। अत: ऐसी अपवाद की स्थिति में नदी के अपरदन की सीमा सागर तल से भी नीचे होगी। इसी प्रकार कुछ छोटी-छोटी नदियाँ ऊँचे पहाड़ी भागों में बहती हुई पहाड़ी झीलों में ही मिल जाती हैं। अत: जिस ऊँचाई पर वह झील स्थित है वही ऊँचाई उस नदी के अपरदन की सीमा को निश्चित करेगी।

इसी भाँति सहायक नदियाँ जिस बिन्दु पर या ऊँचाई पर मुख्य नदी में मिलती हैं, वही ऊँचाई सहायक नदी के लिए आधार तल या अपरदन की सीमा का तल होगी। यहाँ पर एक बात और विशेष महत्वपूर्ण है कि मुख्य नदी कटाव द्वारा ज्यों-ज्यों अपनी घाटी गहरा करती जाएगी, उसी के अनुसार सहायक नदियों का आधार तल भी बदलता जाएगा। दूसरे शब्दों में, महासागरीय तल (Sea level) को छोड़कर कोई भी आधार तल स्थायी या सार्वभौमिक नहीं है, क्योंकि झीलों के सूखने से या उनसे दूसरी नदी निकलने से ऐसी झीलों के पानी का तल घट सकता है। ऐसी स्थिति में उस झील में गिरने वाली नदी का आधार तल भी बदल जाएगा। सारांश रूप में कहें तो आधार तल या निम्नतम तल वह तल है जहाँ तक नदी अपने तल को अपरदित कर सकती है।

प्र.2. आकृति के अनुसार डेल्टा के मुख्य प्रकारों को लिखिए।

उत्तर

डेल्टा के प्रकार
(Types of Delta)

आकृति के अनुसार डेल्टा के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. **चापाकार डेल्टा**—ऐसे डेल्टा का आगे का भाग चापाकार या धनुषाकार रहता है। विश्व की अधिकांश नदियों के डेल्टा प्राय: इसी आकृति के हैं। गंगा-ब्रह्मपुत्र, नील, ह्वांगहो, नाइजर, पो, इरावदी आदि नदियों के डेल्टा ऐसे ही हैं। इसमें मुख्य नदी जब शाखाओं में बँट जाती है तो अपने साथ लाए महीन अवसादों (चीका मिट्टी, दुमट व रासायनिक पदार्थ) को धारा के दोनों ओर एवं सागर मिलन के स्थान पर जमा करती रहती है। इससे डेल्टा त्रिकोणाकार बनने के साथ-साथ आगे से चापाकार भी बनता जाता है। ऐसे डेल्टा निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं, अत: उन्हें **प्रगतिशील डेल्टा** भी कहते हैं।
2. **पंजाकार डेल्टा**—जिस नदी की अन्तिम घाटी में महीन भौतिक अवसाद कम एवं रासायनिक अवसाद अधिक हों, समुद्र तट व मुहाने के निकट विशेष शान्त दशाएँ पाई जाएँ तो ऐसी नदियों की मुख्य धारा के आस-पास ही पदार्थों का जमाव

अधिक होगा। अन्य शाखाओं का जमाव कम गति से होने से पिछड़ जाएगा। इसी कारण ऐसे डेल्टा की आकृति पक्षी के पंजे जैसी हो सकती है। मिसीसिपी नदी का डेल्टा पंजाकार डेल्टा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

कभी-कभी डेल्टा का आगे का भाग धरातलीय गतियों व लहरों के प्रभाव से खण्डित हो जाता है। ऐसे डेल्टा को खण्डित डेल्टा (Truncated Delta) कहते हैं।

प्र.3. नदी मुहाना व डेल्टा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

मुहाना व डेल्टा में अन्तर
(Differences between Estuary and Delta)

मुहाना या एस्चुरी (Estuary)—ऐसे तटीय भाग जहाँ पर तट के पीछे के प्रदेश में पठार या पठारी कगार तेजी से ऊपर उठ गए हैं, वहाँ पर नदी के मुहाने के निकट जलधारा की गति पर्याप्त तेज रहती है, अत: मुहाने के अवसाद मुख्य घाटी की धारा के साथ-साथ कुछ दूर तक सागर की ओर फैल जाते हैं। ऐसे में यदि अपतटीय चबूतरा (Continental Shelf) कम चौड़ा हो तो अवसाद निरन्तर सागर में ही जमा होते रहते हैं। इसी भाँति यदि मुहाने के आस-पास का भाग एवं अपतटीय सागर ढालू हो तो नदी अपने अवसाद तट के चारों ओर नहीं फैला सकती।

उपर्युक्त सभी दशाओं में नदी एक ही धारा के रूप में सीधे सागर में गिरती है। अत: ऐसी नदियाँ त्रिकोणाकार डेल्टा का निर्माण नहीं कर पातीं। ऐसे नदी मुख को एस्चुरी या मुहाना कहते हैं। भारत की नर्मदा, तापी, साबरमती, फ्रांस की सीन, लायेर एवं गेरीन तथा अफ्रीका महाद्वीप की कांगो, लिम्पोपो, ऑरेन्ज आदि नदियाँ एस्चुरी बनाती हैं।

डेल्टा (Deltas)—नदी अपनी अन्तिम अवस्था में अथवा समुद्र में मिलने से पूर्व अपने साथ लाए अवसाद वहाँ जमा करती रहती है। इससे समुद्र तट के निकट का ऊबड़-खाबड़ भाग समतल होता जाता है। ऐसे भाग में यदि अवसाद अधिक होते हैं, तो मुख्य नदी कई वितरिकाओं में बँटकर प्राय: त्रिकोणाकार डेल्टा का निर्माण कर देती है।

नदी की वह शाखा जो डेल्टा के निकट मुख्य नदी को छोड़ देती है और उसमें पुन: नहीं मिलकर अपने जल को समुद्र तक ले जाती है, उसे वितरिका (distributary) कहते हैं। यद्यपि डेल्टा की मोटे तौर पर आकृति त्रिकोण जैसी होती है, फिर भी विश्व में सभी डेल्टाओं का विस्तार समान नहीं है। जिस डेल्टा प्रदेश को नदियों से निरन्तर एवं अधिक मात्रा में अवसाद मिलते हैं, वह अपना विस्तार प्राय: समुद्र की ओर करते रहते हैं। डेल्टा बनने के लिए निम्न दशाएँ होनी चाहिए—

1. नदी की धारा में अवसाद पर्याप्त आते रहें।
2. समुद्र की ओर से ज्वारीय लहर या तूफानी लहरें कम उठें।
3. सम्पूर्ण डेल्टा का ढाल अत्यंत धीमा रहे। इससे मुख्य नदी कई शाखाओं में बँटकर चारों ओर अवसाद फैलाती रहेगी।
4. नदी के निचले बेसिन में अधिक वर्षा होते रहने से भी डेल्टा विस्तार में विशेष सहायता मिलती है।

प्र.4. नदी परिवहन कार्य को समझाते हुए इनके परिवहन के प्रकारों को बताइए।

उत्तर

नदी का परिवहन कार्य
(Functions of River Transportation)

नदी अपरदन एवं परिवहन का कार्य निरन्तर प्रक्रिया के रूप में करती है। नदी की युवावस्था में जबकि कटाव सबसे अधिक होता है, तब कई अनुकूल कारणों से नदी की परिवहन क्षमता भी सबसे अधिक रहती है, किन्तु ज्यों ही नदी मैदानी भाग में प्रवेश करती है कटाव की क्षमता तो घटती ही है, साथ ही पदार्थों को बहाकर ले जाने की क्षमता भी घटने लगती है। इसी कारण मैदानी भाग में बहाव एवं जमाव दोनों ही कार्य महत्वपूर्ण होते जाते हैं। सभी बड़ी नदियाँ प्रति वर्ष अपने साथ करोड़ों टन अवसाद बहाकर ले जाती रहती हैं। इनके परिवहन के प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. **लुढ़ककर**—इसमें नदी के बहाव की शक्ति या क्षमता से भी अधिक बड़ी चट्टानें, ढाल एवं दबाव के प्रभाव से लुढक-लुढ़ककर आगे बढ़ती रहती हैं। जब चट्टानें गोलाकार टुकड़ों में बदलती जाती हैं तो अधिक दूरी तक आसानी से बहाई जा सकती हैं। इसी कारण पर्वतपदीय क्षेत्रों तक ऐसे गोलाश्म (गोलाकार टुकड़े) लुढ़ककर चले जाते हैं।
2. **रगड़ खाकर**—नदी के पैंदे में मटर जैसे दाने व रेत के मोटे कण रगड़ खाते हुए बहते हैं। यही नहीं बहते पानी में ऐसे मोटे कण उछलते हुए भी आगे बढ़ते रहते हैं। इससे नदी के पैंदे एवं किनारों पर कटाव होता रहता है। इस क्रिया में बहने वाले मोटे कण स्थिर नहीं रहते। इसी कारण जब हम नदी की तली में खड़े होते हैं, तो हमारे पाँवों के नीचे से रेत खिसकती जाती है।

3. **झूलती एवं तैरती अवस्था में**—ढाल या पानी की मात्रा अधिक होने पर पानी में भारी मात्रा में महीन कण (दुमट एवं चिकनी मिट्टी) झूलती हुई अवस्था में बहते हैं। नदी का पानी इसी कारण बाढ़ के समय मटमैला हो जाता है। ज्यों-ज्यों नदी का पानी स्थिर होता जाता है, ऐसे झूलते महीन कण भूमि पर उपजाऊ दुमट (loam) मिट्टी की परत बिछा देते हैं।
4. **घुली हुई अवस्था में**—नदी जल में अनेक प्रकार के खनिज, लवण व चूनायुक्त चट्टानें घुलती जाती हैं। ऐसा घुला हुआ भार दिखाई नहीं देता, फिर भी पर्याप्त मात्रा में नदी जल के साथ बहता रहता है।

नदी अपने बहाव के साथ कितनी मात्रा में किस प्रकार के अवसाद बहाकर ले जा सकती है। यह बात मुख्यत: निम्न बातों पर निर्भर करती है—(1) प्रवाहित जल की गति, (2) चट्टानों की संरचना एवं प्रकृति, (3) जल में घुलित रासायनिक पदार्थों की मात्रा, (4) अवसादों की मात्रा, आकृति एवं भार।

प्र.5. कार्स्ट प्रदेशों से बनी स्थलाकृतियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

कार्स्ट प्रदेशों में बनी स्थलाकृतियाँ
(Landforms of Karst Regions)

विश्व के कुछ ही प्रदेशों में चूनामय चट्टानों के या कार्स्ट के प्रदेश पाए जाते हैं। मुख्य चूनामय या कार्स्ट प्रदेश निम्न हैं—

1. **एड्रियाटिक सागर तट**—भूतपूर्व यूगोस्लाविया (दक्षिणी यूरोप) के एड्रियाटिक सागर तट पर कार्स्ट प्रदेश में अनेक प्रकार की भूमिगत रचनाएँ पाई जाती हैं। यह प्रदेश लगभग 500 किमी लम्बा और 100 किमी चौड़ा है।
2. **फ्रांस**—इसके दक्षिणी भाग में कारसो प्रदेश में चूनामय चट्टानें पाई जाती हैं। यहाँ पर गुफाएँ, पोनोर डोलाइन एवं अन्य रचनाएँ बड़े पैमाने पर मिलती हैं। यह क्षेत्र यूगोस्लाविया से छोटा है।
3. **इटली**—इसके उत्तरी-पूर्वी तटीय भाग में एड्रियाटिक सागर तट पर सफेद चूने की चट्टानों का क्षेत्र विस्तृत है। यह प्रदेश पो बेसिन एवं आल्पस के ढालों तक फैला है। यह भाग मुख्यत: एड्रियाटिक सागर के दूसरी ओर स्थित यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश की संरचना का ही भूमिगत विस्तार है।
4. **संयुक्त राज्य अमेरिका**—यहाँ विशाल कार्स्ट प्रदेश फैला है। फ्लोरिडा, केण्टकी, जॉर्जिया, वर्जीनिया, न्यूमेक्सिको आदि प्रान्तों में इसका विस्तार पाया जाता है। केण्टकी एवं न्यूमेक्सिको की कार्स्ट गुफाएँ (कन्दराएँ) विश्वप्रसिद्ध हैं।
5. **मेक्सिको**—यहाँ के यूकाटन प्रायद्वीपीय क्षेत्र में कार्स्ट क्षेत्र पाए जाते हैं।

भारत में उत्तराखण्ड में देहरादून क्षेत्र, मध्य प्रदेश में पंचमढ़ी क्षेत्र, आन्ध्र प्रदेश में विशाखापत्तनम क्षेत्र (बोरो गुहालु), छत्तीसगढ़ में बस्तर क्षेत्र, द०प० बिहार, उत्तराखण्ड में देहरादून क्षेत्र तथा कश्मीर घाटी में कार्स्ट स्थलाकृतियाँ पाई जाती हैं।

प्र.6. कार्स्ट प्रदेशों के अपरदन चक्र को बताते हुए इसकी अवस्थाओं का वर्णन संक्षेप में कीजिए।

उत्तर

कार्स्ट प्रदेशों का अपरदन चक्र
(Erosion Cycle of Carst Regions)

चूने के प्रदेशों के अपरदन चक्र की संकल्पना पर **बीदे, स्वीजिक** एवं **डेविस** ने अपने विस्तृत विचार प्रस्तुत किए हैं। इनमें से स्वीजिक (Cvijic) की विचारधारा को विशेष महत्व दिया जाता रहा है। उसके अनुसार कार्स्ट अपरदन चक्र उन्हीं प्रदेशों में सम्भव है, जहाँ पर भूमि की अभेद्य चट्टानों की परत के अनुसार पर्याप्त मोटी परत में सन्धियों वाली चूने की चट्टानों का जमाव पाया जाए। यहाँ पर वर्षा सामान्य ही होनी चाहिए। अधिक वर्षा के साथ ऊँचे तापमान (उष्ण व आर्द्र प्रदेश) मिलने पर ऐसे अपरदन चक्र का विकास क्रम बहुत शीघ्र पूरा हो सकता है। स्वीजिक ने इसकी अवस्थाओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

1. **किशोरावस्था या प्रारम्भिक अवस्था** (Initial Stage)—इस अवस्था को प्राथमिक (Primary) अवस्था भी कहा जाता है। इसमें सतह पर ही बहते जल एवं वर्षा से एकत्रित पानी की घोलने की क्रिया से छोटे-बड़े गड्ढे या छिद्र बनने लगते हैं। धीरे-धीरे सन्धियों के मार्ग से पानी भूमिगत होने लगता है। विशेष चाक युक्त या डोलोमाइट क्षेत्रों में लेपीज भी बनने लगते हैं। जब भूमिगत मार्ग का विकास होने लगता है, अर्थात् कार्स्ट जमावों की सन्धियों से पानी नीचे की ओर जाने का मार्ग ढूँढ लेता है, तो वहाँ विलयन रन्ध्र एवं पोनोर या भूमिगत कीपनुमा मार्ग बनने लगते हैं।
2. **युवावस्था या विशेष विकास अवस्था** (Youth Stage)—इस अवस्था में भूमिगत जल कार्स्ट प्रदेश में धरातल पर एवं धरातल के नीचे अनेक प्रकार से निरन्तर घोल की क्रिया द्वारा आकृतियों का निर्माण करता जाता है। इसी कारण

विलयन रन्ध्र बड़े होकर युवाला (संकुण्ड) में तथा पोनोर, शुष्क घाटियाँ, गुफाएँ, प्राकृतिक पुल जैसी अधिक विकसित आकृतियों का रूप स्पष्टत: बनता जाता है। मोटी चूने की परतें कई स्थानों पर काफी गहराई तक भीतर ही भीतर घुलकर गुफाओं में बदल जाती हैं।

3. **प्रौढावस्था या विकास की चरम अवस्था** (Mature Stage)—इस अवस्था में चूने के प्रदेश की मोटाई घटने लगती है। जगह-जगह युवाला (संकुण्ड) और कहीं-कहीं राजकुण्ड (पोल्जी) बनने लगते हैं। गुफाओं की छत में छिद्र पड़ने से कार्स्ट खिड़की, विषम धरातल वाली ऊपरी शुष्क व वनस्पति रहित सतह आदि का विकास होता है। जिस भाग में पोल्जी एवं विशाल कार्स्ट खिड़की बनते हैं, वहाँ नीचे की अभेद्य या कठोर परत दिखाई देने लगती है। सारा ही भूमिगत जल ऐसी परत के ऊपर नये सिरे से अपना बहाव मार्ग बनाता है। इसी कारण घोल के साथ-साथ जमाव के कार्य भी पूरे होते जाते हैं। इनमें स्टेलेक्टाइट, स्टेलेग्माइट, स्तम्भ आदि आकृतियाँ बनती हैं। अघुलनशील पदार्थ के हम्स जैसे टीले एवं स्थानीय ग्रन्थियों में अन्य खनिजों के जमाव भी पाए जा सकते हैं। कहीं-कहीं चूने या कार्स्ट के स्थानीय जमाव बचे रहते हैं।
4. **वृद्धावस्था** (Old Stage)—ऐसी अवस्था संकल्पना से मानी जाती है, क्योंकि किसी भी अपरदन चक्र में पर्याप्त लम्बे काल तक पृथ्वी की सतह लगातार स्थिर नहीं रहती। फिर भी चूने के प्रदेश में वृद्धावस्था की दशा में स्वीजिक के अनुसार चूने की ऊपरी मोटी परत घुल जाती है। सारा ही प्रदेश पुन: नीचे की अघुलनशील परत तक समतलप्राय (पेनीप्लेन) में बदलने लगता है। इसमें बीच में अघुलनशील पदार्थ (चूर्णकूट), खनिज ग्रन्थि, खनिज शिराएँ आदि के रूप में देखे जा सकते हैं। राजकुण्ड के अवशेष अवश्य बाहरी भागों में कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। अन्य सारी युवावस्था और प्रौढ़ावस्था की आकृतियाँ घुल-घुलकर नष्ट हो जाती हैं। ऐसे उदाहरण चूने के प्रदेश के कुछ भागों में जहाँ पर राजकुण्ड की सतह का बड़े क्षेत्र में विस्तार पाया जाता है, वहीं मिलते हैं। संयुक्त राज्य व फ्रांस के कार्स्ट क्षेत्र में वृद्धावस्था के कुछ स्थानीय प्रमाण ही पाए जाते हैं।

प्र.7. कार्स्ट प्रदेशों में जमाव क्रिया से बनी आकृतियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर

कार्स्ट प्रदेशों में जमाव क्रिया से बनी आकृतियाँ
(Forms made due to Deposition in Karst Region)

कार्स्ट प्रदेशों में घोल की क्रिया ही महत्वपूर्ण होती है। पानी में चूने का घोल बढ़ने, पानी स्थिर रहने पर उसमें से कार्बन डाई-ऑक्साइड पुन: मुक्त हो जाने, पानी के तापमान में कमी आने, पानी के भाप बनकर उड़ने आदि कारणों से कहीं-कही विशेषकर गुफाओं में चूने एवं अन्य अघुलनशील पदार्थों के जमाव पाए जाते हैं। भूमिगत जल की ऐसी जमाव क्रिया द्वारा कार्स्ट प्रदेशों में बनी आकृतियाँ मुख्यत: निम्न हैं—

1. **ज्यूडीज** (Geodes)—कार्स्ट प्रदेशों में कई बार अघुलनशील केल्साइट एवं क्वार्टज् आदि के पट्टीनुमा जमाव पाए जाते हैं। ऐसे जमाव पानी के बहाव मार्ग के साथ पाए जाते हैं। कभी भूमिगत जल के उष्ण प्रदेशों के निकट से बहने पर अन्य खनिज जैसे गन्धक एवं धातुएँ शिराओं (Veins) में जम सकते हैं। ऐसे जमाव रवों के गोलाकार या पिण्डाकार आकार में भी पाए जा सकते हैं। ऐसे जमावों को ज्यूडीज एवं वग्स कहते हैं।
2. **स्टेलेक्टाइट एवं स्टेलेग्माइट** (Stalactite and Stalagmite)—कार्स्ट प्रदेशों में बनने वाली गुफाओं में कई विशेष आकर्षक जमाव पाए जाते हैं। जब भी सतह का पानी चूने के प्रदेश से बहता हुआ भूमिगत गुफाओं की छत से टपकने लगता है तब वहाँ धीरे-धीरे चूने के छत से नीचे लटकते हुए जमाव विकसित होते हैं। ऊपर की ओर लटकती हुई ऐसी आकृति को स्टेलेक्टाइट कहते हैं। छत का पानी ऊपर से टपककर जिस स्थान पर नीचे गिरता है वहाँ भी धीरे-धीरे चूने का एवं अन्य अघुलनशील पदार्थों का मिश्रित जमाव शंकु के आकार में होने लगता है। स्टेलेक्टाइट के ठीक नीचे इस प्रकार भूमि पर बनने वाले जमाव को स्टेलेग्माइट कहते हैं। स्टेलेग्माइट स्टेलेक्टाइट की अपेक्षा छोटे तथा मोटे होते हैं। सामान्यत: दोनों ही सिलिका एवं चूने से बने होते हैं। ये दोनों ही आकृतियाँ साथ-साथ पाई जाती हैं।
3. **कंदरा स्तम्भ** (Cave Pillar)—भूमिगत गुफाओं की छत से लटकते स्टेलेक्टाइट कभी-कभी बढ़ते-बढ़ते गुफा की फर्श तक पहुँच जाते हैं या स्टेलेक्टाइट व स्टेलेग्माइट दोनों ही धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते परस्पर मिल जाते हैं, तो कंदरा स्तम्भ का विकास होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्ल्सवाद की गुफाओं में ऐसे हजारों स्तम्भ पाए जाते हैं।
4. **कार्ट दीवार** (Drip Stone)—जब कार्स्ट गुफाओं में बराबर अधिक मात्रा में चूने के जमाव होते हैं, तो कुछ स्थानों पर दो स्तम्भों के बीच के भाग में भी पतली दीवार की भाँति जमाव होने लगते हैं। इन्हें 'परदे जैसे जमाव या ड्रिप स्टोन' भी कह सकते हैं। ऐसे जमाव केण्टकी (संयुक्त राज्य) की गुफाओं में अधिक पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भूमिगत जल के मार्ग में कभी रासायनिक क्रियाओं से बने या प्राकृतिक गड्ढों में धात्विक या अधात्विक खनिजों का जमाव होने लगता है। ऐसा जमाव एकाकी स्थान पर होता है। अत: इसे 'ग्रन्थियों' का जमाव कहते हैं। इसी प्रकार कुछ अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के क्षार व अन्य घुलनशील पदार्थ सतह की ओर भूमिगत जल के साथ आकर शुष्कता के प्रभाव से शीघ्र जमा होते जाते हैं। जब ऐसे पदार्थ ऊपरी सतह के नीचे कठोर परत की भाँति जमाव करते हैं तो इन्हें 'डूराक्रस्ट' (Duracrust) कहते हैं। जब ऐसे जमाव विशेष स्थान पर स्थानीय बालू या चट्टानों के साथ होते जाते हैं तो ऐसे ठोस भाग को केलिशे (Caliche) कहते हैं। चिली एवं पीरू के शुष्क प्रदेशों में ऐसे जमाव अधिक पाए जाते हैं।

प्र.8. मरुस्थलीय प्रदेशों के अपरदन चक्र को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर

शुष्क या मरुस्थलीय प्रदेशों का अपरदन चक्र
(Cycle of Erosion of Arid Regions)

शुष्क प्रदेशों में भी अपरदन चक्र का विकास अन्य प्रदेशों की भाँति चलता है। इसका अध्ययन डेविस, गिलबर्ट, पैंक आदि विद्वानों ने किया। प्रारम्भिक अवस्था में धरातल के उत्थान या सागर तल से बाहर आने के साथ-साथ मोड़, भ्रंश, वलन आदि का विकास होता है। इससे धरातल विषम बनता जाता है। ऊँचे तापमान और तापान्तर दोनों ही इन प्रदेशों में तेज हवा के बहाव में सहायक रहते हैं। हवा के साथ बालू के उड़ने से कटाव की क्रिया महत्वपूर्ण होने लगती है। इससे खरोंचें व गड्ढे पड़ने लगते हैं। युवावस्था के विकास के साथ-साथ धरातल पर वायु अपरदन (कटाव) से अनेक प्रकार की आकृतियाँ स्पष्ट रूप से बनने लगती हैं। हवा पहाड़ी ढालों एवं चट्टानों की विविध संरचना के अनुसार बालू की सहायता से कटाव कार्य तेजी से करती रहती है। इसी कारण गारा, ज्यूगेन, यारडंग, डिमोइसिल आदि बनते जाते हैं। रेतीले टीलों के जमाव भी होते जाते हैं। तूफान के समय भारी मात्रा में रेत या बालू खिसकती जाती है। इससे बालुका स्तूप बनते व बिगड़कर फिर बनते जाते हैं। लोयस का विकास होने लगता है। जहाँ कहीं पानी बहता है तो उसके प्रभाव से छोटी व संकरी घाटियाँ एवं पेडीमेण्ट (पथरीले चबूतरे) भी बनने लगते हैं। प्रौढावस्था में ऊँचे-नीचे भागों का अन्तर घटने लगता है। पेडीमेण्ट व बजाड़ा का ढाल घटता जाता है। रेत का विस्तार बढ़ने लगता है। पथरीले चबूतरे भी पाए जाते हैं। इस अवस्था में यद्यपि भूमि के ढाल का अन्तर तो घटता है, किन्तु सारा भाग ऊबड़-खाबड़, रेतीला, पथरीला एवं जटिल रचना वाला बनता जाता है। शुष्क प्रदेशों की वृद्धावस्था एक प्रकार से कल्पना का विषय है। इसमें निम्न भाग एवं कम ढालू गड्ढे पाये जाते हैं। कठोर चट्टानों के टीले या इन्सलबर्ग मिलते हैं। ऐसे समतलप्राय क्षेत्र को मरू पेनीप्लेन (Desert peneplane) कहते हैं।

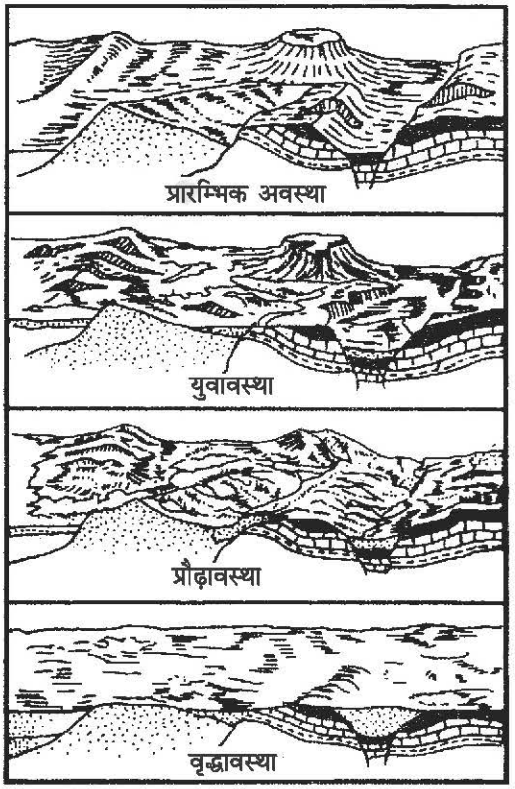

चित्र : मरु प्रदेश अपरदन चक्र

प्र.9. हिमानी प्रभावित क्षेत्रों के अपरदन चक्र से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में लिखिए।

उत्तर

हिमानी प्रभावित क्षेत्रों का अपरदन चक्र
(Cycle of Erosion of Glaciated Regions)

हिमानी में नदी जल की भाँति सार्वभौमिक आधारतल (Universal Base Level) नहीं होता है। अत: प्रत्येक प्रदेश में हिमानी के कटाव की सीमा जलवायु, उपलब्ध नमी, बर्फ की मात्रा, घाटी हिमानी के नीचे उतरने की सीमा आदि तथ्यों से पूरी तरह प्रभावित रहती है। फिर भी क्षेत्रवार हिमानी निर्मित स्थलाकृति (Glacial landform) युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, उत्तर प्रौढ़ावस्था जैसी चक्रीय गति से होकर गुजरती है।

युवावस्था में हिम ढालू भागों या पर्वतीय ढालों पर एकत्रित होकर सर्क या हिम गह्वर बनाती है। हिम क्षेत्रों से बाहर की ओर बर्फ के पिघलने से 'U' आकार की व लटकती घाटियों का निर्माण होता है। अपरदन चक्र के विकास के साथ-साथ गिरि शृंग एवं कंघीनुमा पहाड़ियों का विकास होता है। बर्फ के फिसलाव वाले क्षेत्रों में गहरी खरोंचें व रेगमाल की भाँति धारियाँ पड़ती जाती हैं। युवावस्था के आगे बढ़ने एवं प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ के साथ-साथ पहाड़ी भाग गोलाकार होते जाते हैं। टार्न झीलों व दैत्यसोपानों का जगह-जगह घाटी में विकास होता है। हिम राशि में दरारें पड़ने से व अपक्षय के प्रभाव से हिम गह्वर चौड़े होकर आपस में मिल जाते हैं। कहीं-कहीं कॉल का भी विकास होता है। कठोर चट्टानों के ऊँचे उठे भाग नूनाटक के रूप में दिखाई देते हैं। जगह-जगह गड्ढे गहरे बनने से व हिम के पीछे हटने से वहाँ बड़ी झीलें बन जाती हैं। उत्तरी अमेरिका की महान झीलें, कनाडा, नार्वे व स्वीडन की अधिकांश झीलें इसी प्रकार बनी हुई हैं। उत्तर प्रौढ़ावस्था तक भूमि के उभार वाले भाग प्राय: घिस-घिसकर नष्ट हो जाते हैं, तब वृद्धावस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था को विद्वानों ने समतलप्राय मैदानों के विकास की अवस्था कहा है, सैद्धान्तिक अधिक है। इसमें बार-बार हिम आगे बढ़ने एवं पीछे हटने से अधिकांश ऊबड़-खाबड़ भाग नष्ट होते जाते हैं। क्षेत्रवार ऐसे समतलीकरण को विद्वानों ने इक्वीप्लेनेशन (Equiplanation) या आल्टीप्लेनेशन (Altiplanation) की स्थिति बताकर समझाया।

प्र.10. हिमानियों के मुख्य प्रकारों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर

हिमानियों के प्रकार
(Types of Glaciers)

स्थिति, आकार तथा रचना की दृष्टि से हिमानियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। हिमानियों के मुख्य प्रकार निम्न हैं—

1. **घाटी हिमानी** (Valley Glaciers)—ऊँचे पर्वतीय भागों में जहाँ पर विशाल हिम क्षेत्र पाए जाते हैं, वहाँ से बर्फ फिसलकर घाटी में आता रहता है। ऐसी हिमानी या हिमनद प्राय: 2 से 10 किमी तक लम्बे होते हैं। इनकी गहराई एवं चौड़ाई नदी की तुलना में कहीं अधिक होती है। विश्व में सबसे लम्बी घाटी हिमानियाँ पामीर, कुनलुन एवं हिमालय-काराकोरम पर्वतीय प्रदेश में पाई जाती हैं। यहाँ की हिस्पार, सियाचिन, बाल्टोरो, सासाइनी, बियाफो आदि हिमानी 50 से 80 किलोमीटर के मध्य लम्बी हैं।
2. **पर्वतपदीय हिमानी** (Piedomont Glaciers)—शीत शीतोष्ण कटिबन्ध में हिम रेखा काफी नीचे लगभग 1,500 मीटर तक उतर आती है। अत: यहाँ की छोटी-छोटी घाटी हिमानियाँ पहाड़ों की तलहटी में उतरकर आपस में मिलने लगती हैं। अलास्का की बेरिंग व मालास्पिना, आयरलैण्ड की वेटानाजोकुल एवं ग्रीनलैण्ड की फ्रेड्रिकशाव ऐसी ही पर्वतपदीय हिमानियाँ हैं। पर्वतों की तलहटी में ऐसी बर्फ स्थिरप्राय दशा में पड़ी रहती है। इसी कारण उस पर अनेक प्रकार से पत्थर, मिट्टी व अन्य पदार्थ जमा हो सकते हैं। अलास्का की मालास्पिना हिमानी पर तो ऐसे मलवे (मिट्टी, पत्थर आदि) के ऊपर कहीं-कहीं हरियाली भी पाई जाती है। यह लगभग चार हजार वर्ग किमी में फैली है तथा पर्वतपदीय हिमानी का आदर्श उदाहरण है।
3. **महाद्वीपीय हिमानी** (Continental Glaciers)—कुछ हिमानियों का विस्तार लाखों वर्ग किमी क्षेत्र में होता है। प्लीस्टोसीन हिमयुग के समय ऐसी महाद्वीपीय हिमानी यूरोप, एशिया एवं उत्तरी अमेरिका के विशाल क्षेत्रों को घेरे हुए थी। उस समय इन महाद्वीपों के मध्यवर्ती भाग में 2,500 से 3,000 मीटर तक की मोटाई में बर्फ पाई जाती थी। तब सागर तल आज से 60 मीटर नीचे थे। वर्तमान में अण्टार्कटिक महाद्वीप ही महाद्वीपीय हिमानी का श्रेष्ठ उदाहरण है। ग्रीनलैण्ड भी छोटे पैमाने पर ऐसी ही हिमानी है। यहाँ पर अनेक स्थानों पर लाखों वर्ष पुरानी बर्फ सैकड़ों मीटर की मोटाई में पाई जाती है।
4. **हिम टोपी** (Ice Cap)—महाद्वीपीय हिमानी का छोटा रूप हिम टोपी कहलाता है। वैसे तो अधिकांश ऊँचे पर्वतीय शिखर एक प्रकार से हिम टोपियाँ ही हैं। ध्रुवों के निकट के द्वीप विशेषकर कनाडा के उत्तरी द्वीपों पर भी स्थायी बर्फ के क्षेत्र पाए जाते हैं। ये भी हिम टोपियाँ ही हैं।
5. **ज्वारीय हिमानी** (Tidal Glaciers)—जब महाद्वीपीय हिमानी का विस्तार समुद्र तट तक होता है तो हिम राशि जीभ की तरह समुद्र की ओर खिसकती जाती है। जब तक ऐसी हिमानी का सम्बन्ध मुख्य या महाद्वीपीय हिमानी से बना रहता है, तब तक इसे ज्वारीय हिमानी कहते हैं। ऐसी हिमानी प्राय: आधा किसी से डेढ़ किमी तक लम्बी हो सकती है। बाद में निरन्तर बढ़ते भार एवं पानी में होने वाली गतियों एवं अस्थिरता के कारण यह टूट जाती है। ऐसे टूटी हुई ज्वारीय हिमानी को हिमशिला या हिमखण्ड (Ice berge) कहते हैं। ग्रीनलैण्ड एवं अण्टार्कटिका महाद्वीप से ज्वारीय हिमानी एवं हिमखण्डों की उत्पत्ति होती रहती है। नौ-परिवहन में ऐसी हिमशिलाएँ खतरनाक बाधा मानी जाती हैं, क्योंकि हिमानी की मोटाई का मात्र 1/10 (दसवाँ भाग) ही पानी के ऊपर दिखाई देता है, शेष 9/10 (90% भाग) पानी में डूबा रहता है।

प्र.11. हिमानी के गति एवं बहाव के सम्बन्ध में संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर

हिमानी की गति एवं बहाव
(Glacial Motion and Flow)

प्रारंभ में यह माना जाता था कि बर्फ अपनी घाटी में या हिम प्रदेशों में स्थायी रूप से जमी हुई रहती है। किन्तु बाद में वृहद् स्तर पर हिम के प्रभाव, उसकी बहने की क्षमता व गति संबंधी अध्ययनों में इसकी गतिशीलता को स्वीकार कर लिया गया। बर्फ और उसके विभिन्न रूपों, प्रकृति, विवरण, क्रिया और उसके परिणामों का वैज्ञानिक अध्ययन हिमानिकी या हिमनद विज्ञान (Glaciology) के अंतर्गत आता है। अब यह मान लिया गया है कि विशेष अनुकूल दशा में बर्फ बहती है एवं यह धीमी, किन्तु निरन्तर गति से अपरदन करती रहती है।

हिमानी में बर्फ बहती या फिसलती जाती है। इस बारे में सर्वप्रथम स्विट्जरलैण्ड के विद्वानों ने कार्य किया। **प्रो० हूजी** एवं अन्य ने बताया कि बर्फ की गति यद्यपि बहाव के नियमों का ही पालन करती है, फिर भी हिम ठोस होने के कारण यह गति बहुत धीमी या रेंगने वाली रहती है। कुछ हिमानी एक सप्ताह में कुछ ही सेमी आगे बढ़ती हैं तो कुछ अन्य एक माह में 15-20 मीटर तक आगे बढ़ती हैं। इस बारे में महान हिम वैज्ञानिक **लुई अगासिस** ने विशेष परीक्षण करके निश्चित जानकारी भी एकत्रित की। उसने एक घाटी हिमानी के आर-पार निश्चित गहराई तक सीधी रेखा में कई गहरी खूटियाँ गाड़ दीं। लगभग दो सप्ताह बाद उनका निरीक्षण किया तो पाया कि खूँटियाँ जीभ के आकार में फैलने के साथ-साथ बीच के भाग की ओर झुक गयी थीं। किनारे की खूँटियाँ सबसे कम एवं मध्य की खूँटियाँ सबसे अधिक आगे की ओर झुक गयीं। इस आधार पर उसने निम्न निष्कर्ष निकाले—

1. बर्फ किनारों पर रगड खाने के कारण धीमी गति से बहती है तथा मध्यवर्ती भाग में उसकी गति स्पष्टत: अधिक रहती है।
2. इसी प्रकार पैंदे में रगड़ या घर्षण के प्रभाव से बर्फ धीमी गति से एवं सतह पर तेज गति से बहती है।

हिमानी के बहाव पर धरातल के ढाल, बर्फ की मोटाई, ऊपर से बर्फ की निरन्तर प्राप्ति, घाटी की तली में मोरेन (अवसाद) की मात्रा, तापमान, धरातल की प्रकृति आदि कारणों का विशेष प्रभाव पड़ता है।

प्र.12. हिमानी के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

हिमानी के कार्य
(Functions of Glacier)

अनाच्छादन करने वाली अन्य शक्तियों या कारकों की भाँति हिमानियाँ भी अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण कार्यों द्वारा धरातल के स्वरूप को परिवर्तित करती रहती है। किसी हिमानी द्वारा किसी क्षेत्र विशेष में की जाने वाली क्रियाओं (अपरदन, परिवहन, निक्षेपण) को हिमनदन (Glaciation) कहते हैं।

हिमानी का अपरदन कार्य—हिमानी के अपरदन कार्यों को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार हिम अधिकतर भूमि की रक्षा करता है, जबकि अन्य के अनुसार हिमानियाँ अपरदन करती हैं। वास्तव में हिमानियाँ दोनों ही कार्य करती हैं। जब तक हिम गति नहीं करता है भूमि की रक्षा करता है तथा जब प्रवाहित होने लगता है तो अपरदन करता है।

हिमानी मुख्यत: तीन प्रकार से अपरदन करती है—

1. **उत्पाटन** (Plucking)—हिमानी की तली में अपक्षय के कारण बने चट्टानों के टुकडे गतिशील हिम के साथ फँस कर आगे खिसकते रहते हैं। इसे उत्पाटन क्रिया कहते हैं।
2. **अपघर्षण** (Abrasion)—हिमानी का अधिकांश अपरदन कार्य अपघर्षण विधि से ही होता है। अकेले हिम में अपरदन की अधिक क्षमता नहीं होती है। जब इसमें उत्पाटन द्वारा शिलाखण्ड व कंकड़-पत्थर जुड़ जाते हैं तो घाटी की तली व पार्श्वों को रगड़ने व खरोंचने लगते हैं। अपरदन कार्य में हिमानी से पिघला हुआ जल भी सहायता करता है।
3. **सन्निघर्षण** (Attrition)—हिमानी के साथ प्रवाहित होते हुए कंकड़, पत्थर व शिलाखण्ड आपस में भी रगड़ होने से खण्डित होते हैं एवं घिसते हैं। इस प्रक्रिया को सन्निघर्षण कहते हैं।

प्र.13. उन्मग्न तट रेखा की विकासोन्मुखी अवस्थाओं को संक्षिप्त रूप से बताइए।

उत्तर

उन्मग्न तट रेखा की विकासोन्मुखी अवस्थाएँ
(Developmental Stages of Emergent Coast Line)

उन्मग्न तट रेखा की विकासोन्मुखी अवस्थाएँ निम्न हैं—

1. **प्रारम्भिक अवस्था** (Initial Stage)—प्रथम स्थिति में उन्मग्न तट रेखाएँ साधारण तथा सीधी होती हैं, क्योंकि इस समय तट समतल स्थिति में होता है। इस समतल मैदान को चौरस करने में अवसादी निक्षेपों का हाथ रहता है। इसके

विपरीत कुछ समुद्री तट काफी कटे-फटे तथा ऊबड़-खाबड़ होते हैं, जो भूगर्भिक हलचलों के प्रतीक होते हैं। यदि कभी ये तट समुद्री जल से बाहर निकल आते हैं तो इनकी तट रेखाएँ बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी नजर आती हैं। जब समुद्र में तूफान चलते हैं तो बड़ी-बड़ी उत्ताल तरंगों से समुद्र का आन्तरिक भाग भी ऊबड़-खाबड़ हो जाता है, इस प्रकार ऐसी तट रेखाओं के साथ समान्तर रूप में अन्त:समुद्री रोधिका (Submarine bar) उत्पन्न हो जाती है। ये रोधिकाएँ धीरे-धीरे बढ़कर सागर तल के ऊपर स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। कभी-कभी ये तट रेखाएँ तटों के सहारे छल्ले के आकार की आकृति बना लेती हैं जिसमें सागर का जल भर जाता है, इसे लूप (Loop) कहते हैं। ऐसी स्थिति में तट रेखाएँ युवावस्था की ओर अग्रसर होने लगती हैं।

2. **युवावस्था** (Young Stage)—इस अवस्था में अपतट रोधिका (Offshore bar) की उत्पत्ति सागरीय तट से दूर हो जाती है। सागरीय तट तथा रोधिका के बीच संकरी और लम्बी झील का निर्माण हो जाता है। इस झील की स्थिति लैगून (lagoon) जैसी होती है। इन रोधिकाओं का निर्माण स्थल तथा समुद्र तट भूमि से जो निक्षेपीय पदार्थ प्राप्त होते हैं, के द्वारा होता है। ये रोधिकाएँ एक ही क्रम में तट के पास स्थित होती है। समुद्री लहरों द्वारा बहुत-सा मलवा इन भित्तियों के पास एकत्रित होने लगता है। इस प्रकार तट रेखा में काफी परिवर्तन आते हैं और यह अवस्था प्रौढावस्था की ओर अग्रसर होने लगती है।
3. **प्रौढ़ावस्था** (Mature Stage)—इस अवस्था में तट पर बने भृगु, रोधिका, लैगून आदि सब समाप्त हो जाते हैं। पुन: साधारण ढाल वाला तट बन जाता है। अवरोध समाप्त होने से लहरों का प्रभाव बढ़ जाता है तथा किनारे के निक्षेपित पदार्थ भी बहा दिये जाते हैं। लहरों के प्रसार से तट पीछे की ओर हटता जाता है। कालान्तर में किनारे की ओर सीधी रेखा का निर्माण होता है।

प्र.14. लहर की संरचना को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर

लहर की संरचना
(Structure of a Wave)

लहर की रचना ऊपर-नीचे गति करते हुए जल से होती है। लहर की संरचना में उसकी आकृति व विभिन्न भाग सम्मिलित हैं। लहरों की आकृति अण्डाकार होती है, इसके ऊपरी सिरे को शृंग या शीर्ष (Crest) एवं निचले भाग को (दो लहरों के बीच का भाग) द्रोणी (Trough) कहते हैं। इसी भाँति दो लहरों के शीर्ष भाग या दो गर्तों की दूरी लहर की लम्बाई कहलाती है। लहरें अपने ही स्थान पर दोलन (Oscilate) करती रहती हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए एक कार्क या लकड़ी का टुकड़ा सागर में फेंककर निरीक्षण द्वारा जाँचा जा सकता है। यह लकड़ी का टुकड़ा लहरों के ऊँचे उठने व तेज पवन चलने पर भी अपने ही स्थान पर ऊपर-नीचे उठता रहेगा। यह तट पर नहीं आ पाता है। सिर्फ तूफानी पवनों, चक्रवात, धारा एवं ज्वारीय लहर से प्रभावित होकर ही सागर की ऊपरी सतह का पानी गतिशील बनकर आगे की ओर बढ़ता है। समुद्री भूकम्पों एवं ज्वालामुखी विस्फोट के प्रभाव से समुद्र में उत्पन्न लहरों को सुनामी (Tsunami) कहते हैं। इनका वेग 100 किमी प्रति घण्टा व ऊँचाई 41 मीटर तक होती है। यह तट पर प्रलय-सा मचा देती है।

लहरें तटीय भागों पर कटाव या अपरदन, काटे गए पदार्थों का परिवहन एवं जमाव क्रियाओं द्वारा अनेक प्रकार के स्थलरूपों की रचना करके तट की दृश्यभूमि में निरन्तर संशोधन लाती रहती हैं।

प्र.15. लहरों के परिवहन कार्य को संक्षिप्तता से समझाइए।

उत्तर

लहरों का परिवहन कार्य
(Transportation by Sea Waves)

लहरें विविध प्रकार से ऊपर वर्णित अपरदन कार्य करके कंकड़-पत्थर एकत्रित करती हैं। यह विविध आकार-प्रकार व गुणों वाला मलवा लहरों, धाराओं एवं ज्वारीय लहरों से निरन्तर अपतट व महाद्वीपीय चबूतरे पर अपने घनत्व, भार, संरचना व आकृति के अनुसार हिलता-डुलता है एवं छिछले सागर की तली में जमा हो जाता है। यहाँ लहरें सीमित मात्रा व सीमित क्षेत्रों में बालू व कंकड़-पत्थरों को अपने दोलन व तीव्र बहाव के साथ आगे-पीछे बहाकर ले जाती हैं, उन्हें क्रमवार जमा करती रहती हैं। लहरों द्वारा पदार्थ का परिवहन मुख्य: दो प्रकार से होता है—(i) तट पर लहरों के सीधे प्रहार से अपरदित पदार्थ समुद्र में दूर तक परिवहित किए जाते हैं। (ii) लम्बतटीय-तिरछी लहरों के कारण पदार्थ अधिक दूर तक नहीं पहुँचता है। शान्त सागर की स्थिति में जब लहरें भी शान्त रहती हैं तब महीन कण पहले से जमे पदार्थों के बीच के रिक्त भागों में जमा होते जाते हैं एवं जल स्वच्छ होता

जाता है। कई बार ज्वारीय लहरें उछालकर या बहाकर हल्के व छोटे पदार्थों को दूर तक भी ले जा सकती हैं। सागर जल में घुले हुए रासायनिक पदार्थ अधिक दूरी तक गहरे महासागरीय मैदानों में जमा होते रहते हैं। इस प्रकार लहरें (तरंगें) अपने में मौजूद मोटे व महीन कणों वाले भौतिक पदार्थों एवं घुले हुए रासायनिक पदार्थों को दूर तक बहा ले जाने की क्षमता रखती हैं।

प्र.16. सागरीय निगम्न तट रेखाओं की प्रारम्भिक व युवावस्था को परिभाषित कीजिए।

उत्तर

निमग्न तट रेखाओं की विकासोन्मुखी अवस्थाएँ
(Developmental Stages of Submergent Coast Lines)

जलमग्न तट रेखाओं की निम्न विकासोन्मुखी अवस्थाएँ देखी जाती हैं—

1. **प्रारम्भिक अवस्था** (Initial Stage)—इस अवस्था में सागरीय तट रेखाएँ अत्यधिक कटी-फटी तथा टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। तट रेखा के आस-पास बहुत-सी डूबी हुई घाटियाँ तथा द्वीपों के शृंग बने होते हैं। जैसे-जैसे इन तटीय भागों का अधिक क्षय होता जाता है उसमें और विविधताएँ आती जाती हैं। प्रारम्भ में लहरें तटीय भागों को काटने लगती हैं तथा उसे एक क्रम में कर देती हैं। इनके अतिरिक्त समुद्र के तल में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप तट रेखाओं में भी परिवर्तन आता जाता है और यह प्रारम्भिक अवस्था से हटकर युवावस्था की ओर अग्रसर होती जाती हैं।
2. **युवावस्था** (Young Stage)—इस अवस्था में प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा लहरों में तीव्रता आ जाती है। इस तीव्रता के कारण स्थल भाग में स्थित द्वीप शृंग तथा टेढ़ी-मेढ़ी सभी तट रेखाएँ अपने आस-पास के क्षेत्र की ओर अधिक बढ़ने लगती हैं। निमग्न तट रेखाओं पर स्थित चट्टानों पर सागरीय लहरों का प्रहार उसमें छोटी-छोटी दरारें तथा भ्रंश डाल देता है। इसके कारण वह टूट जाती है और समुद्र में गिर जाती है तथा जो भाग वहीं पर स्थित रह जाते हैं, वे भृगु बन जाते हैं। कहीं-कहीं पर तो सामुद्रिक लहरों ने स्थल भाग को अधिक नीचे की ओर काटकर बहुत-सी सामुद्रिक कन्दराएँ बना दी हैं। इन कन्दराओं के ऊपर कहीं-कहीं झुकी हुई चट्टानें रह जाती हैं, जो समुद्री महराब-सी नजर आती हैं।

समुद्री लहरें तथा धाराएँ अपने साथ बहुत-सा मलवा इन तट रेखाओं के सहारे जमा कर देती हैं। इस मलवे के द्वारा पुलिनों का निर्माण होता है। ये पुलिन अनेक नामों से पुकारे जाते हैं; जैसे—प्रक्षेपी पुलिन, खाड़ी पार्श्व पुलिन, खाड़ी शीर्ष पुलिन इत्यादि।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. नदी घाटी की अवस्थाओं को उदाहरण सहित सविस्तार समझाइए।

उत्तर

नदी घाटी की अवस्थाएँ
(Stages of a River Valley)

बहता हुआ जल एक विश्वव्यापी घटना है, अत: नदी घाटी की भू-आकृति का प्रभाव विश्वव्यापी है। अपरदन के अन्य अभिकर्ता-हवा, लहरें, हिमानी, भूमिगत जल आदि के कार्य क्षेत्र सीमित हैं, अत: इनसे बनने वाली भू-आकृतियाँ भी सीमित प्रदेशों में ही पाई जाती हैं। नदी अपने उद्गम स्थल से समुद्र में मिलने तक अनेक प्रकार की क्रियाओं—कटाव, वहाव व जमाव के द्वारा सम्पूर्ण बहाव प्रदेश की भू-आकृतियों को प्रभावित करती रहती है। नदी अपनी घाटी का विकास वहाँ पाई जाने वाली चट्टानों की संरचना व ढाल क्रम के अनुसार एवं विशेष प्रकार की प्रक्रिया (Process) के अनुसार ही कर पाती है। अत: जो कुछ नदी घाटी का रूप दिखाई देता है वही नदी घाटी की अवस्था (Stage of a River Valley) कहलाती है। नदी घाटी की अवस्थाओं का विकास एक चक्रीय व्यवस्था में होता रहा है, जो निम्न हैं—

1. **युवावस्था** (Young Stage)—नदी की वास्तविक भू-आकृतियों का लक्षणीय स्वरूप युवावस्था से ही माना जाता है। इस समय नदी अपनी घाटी के तेज ढाल एवं पर्याप्त एवं पथरीले अवसादों की सहायता से सीमित मात्रा में पानी होते हुए भी तेजी से अपनी घाटी को गहरी करती जाती है। अनेक धाराएँ नालियाँ बनाती हुई बीहड़ों (bad lands) का विकास कर आपस में मिलकर सरिताएँ बनाती हैं। सरिताएँ पुन: मिलकर नदियाँ बनती हैं। अत: युवावस्था में नदी की प्रवाह प्रणाली दुमाकृतिक होती है। इसमें गहरी घाटी, गार्ज, कैनियन, नालीदार कटाव, झरने, सीढ़ीदार कटाव, कुण्ड, परस्परव्यापी मोड़, संकरे जल विभाजक एवं अन्य भू-आकृतियाँ बनती एवं स्पष्ट होती जाती हैं। नदी अपरदन की दशा का विकास भी इसी समय होता है। इस अवस्था में नदी का लम्बवत् कटाव अपनी चरम सीमा पर होता है। नदी में अपनी जल क्षमता से कहीं अधिक एवं बड़े आकार की चट्टानें लुढ़कती एवं रगड़ खाती हुई आगे बढ़ती जाती हैं। ऐसा तेज ढाल होने से होता है।
2. **प्रौढ़ावस्था** (Mature Stage)—जब नदी युवावस्था को पार कर चुकी होती है, तब तक नदी बेसिन की स्थलाकृतियाँ कुछ अपवादों को छोड़ समतलप्राय होने लगती हैं। अत: पर्वतीय या तेज ढालू सतह घिस-घिसकर समाप्तप्राय हो जाती

है। नदी की धारा का बहाव निरन्तर घटता जाता है। इसी कारण अपरदन भी काफी सीमित हो जाता है। ढालू भाग से यहाँ वहाँ लाए गए अवसाद जमा होते जाते हैं। नदी अपनी 'V' आकार की घाटी को चौड़ा करके, बाढ़ निर्मित मैदान बनाकर तथा स्थानीय कटाव व स्थानीय जमाव द्वारा, समतलप्राय बनाती रहती है। इस समय नदी विसर्प बनाकर बहती है। उसमें गोखुराकार या छाड़न झीलें बनती जाती हैं। नदी के साथ बहते अवसाद बाढ़ के समय मैदानों में फैलने के साथ-साथ किनारों पर प्राकृतिक तटबन्ध का भी निर्माण करते जाते हैं। पहाड़ी सतह के निचले भाग में जलोढ़ पंख बनते हैं। नदी घाटी में कठोर संरचना वाले भाग उभरे हुए रहते हैं। इसके साथ ही उत्तर प्रौढ़ावस्था में सहायक नदियों में भी बहाव की कमी से विसर्प, छाड़न या गोखुराकार झील बनने लगती है। नदी में सिर्फ बाढ़ के समय ही अधिक मात्रा में भौतिक अवसाद या भार पाया जाता है। जब नदी पेनीप्लेन या समतलप्राय मैदान का निर्माण करने लगती है तो जीर्णावस्था या वृद्धावस्था की स्थिति आ जाती है।

3. **वृद्धावस्था या जीर्णावस्था** (Old Stage)—विश्व की अपवादस्वरूप ही कोई-कोई नदी इस अवस्था में पहुँच पाती है, क्योंकि किसी भी नदी घाटी या प्रदेश की स्थलाकृति का उत्तर प्रौढ़ावस्था तक विकास का काल ही करोड़ों वर्ष लम्बा हो जाता है। इतने लम्बे समय में भू-सतह के अपरिवर्तित रहने की कल्पना करना ही बेमानी है। फिर भी पेनीप्लेन धरातल का विकास कहीं-कहीं विकसित हो पाता है। इसी आधार पर विद्वानों ने वृद्धावस्था या जीर्णावस्था की विशेषताओं का वर्णन किया है। इस अवस्था में नदी घाटी लगभग आधार तल पर एवं बहाव के लिए आवश्यक न्यूनतम ढाल के अनुसार बहती है। अत: बहते जल की गति बहुत ही धीमी होती है। इसी कारण नदी में कटाव की क्षमता नष्टप्राय रहती है। नदी में सिर्फ रासायनिक भार बहता है। अत: नदी नये सिरे से विसर्पों (meanders) को आगे विकसित नहीं कर पाती। इसी कारण नदी में विशाल मोड़ बनते हैं, बड़े डेल्टा का विकास होता है तथा सहायक नदी समकोण पर मिलती है। कभी-कभी नदियों के मुहाने के निकट कठोर चट्टानों वाली संरचना एवं ढाल अधिक होने से डेल्टा भी नहीं बन पाता। नदी डेल्टा के मुँह के निकट बालू के टीले एवं बालू के जमाव पाए जाते हैं। सम्पूर्ण नदी घाटी आधार तल तक पहुँच जाती है। इसमें नदी के कुछ भागों में कहीं-कहीं अपवादस्वरूप ही कठोर शिला के अवशिष्ट टीले या मोनेडनोक मिल सकते हैं। इन्हें भौतिक या रासायनिक अपरदन से लम्बे समय में भी नष्ट नहीं किया जा सका है। वर्तमान में कुछ नदियों की सबसे निचली घाटी में ही जीर्णावस्था के स्थानीय लक्षण पाए जाते हैं; जैसे—गंगा, मिसीसिपी, नील एवं यांगत्सी का डेल्टा क्षेत्र। इनमें भी बाढ़ के समय नदी के कटाव एवं बहाव की क्षमता बढ़ती जाती है। ब्रह्मपुत्र के कारण गंगा के डेल्टा का एवं श्वेत नील के कारण नील के डेल्टा का निर्माण आगे बढ़ता जा रहा है।

प्र.2. अपवहन प्रतिरूप से क्या अभिप्राय है? इसे प्रभावित करने वाले कारक तथा प्रमुख अपवाह प्रतिरूपों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

अपवाह प्रतिरूप
(Drainage Patterns)

अपवाह प्रतिरूप से अभिप्राय प्रवाहित जल की विभिन्न योजनाओं से है, जो कि प्रमुख नदी तथा उसकी सहायकों की संख्या, प्रवाह कार्य एवं प्रवाह दिशा से विकसित होती है। **थॉर्नबरी** के अनुसार, "अपवाह प्रतिरूप का आशय उस विशेष योजना या डिजाइन से है जो विभिन्न नदी मार्गों द्वारा सामूहिक रूप से बनाया जाता है।" यह वास्तव में नदियों की अपवाह प्रणाली का ज्यामितीय आकार या व्यवस्था है। अपवाह प्रतिरूप को अनेक कारक प्रभावित करते हैं, जिनमें भूमि का ढाल, चट्टानों की संरचना व स्वभाव, तात्कालिक पटल विरूपण, जलधाराओं के लिए पर्याप्त जल की प्राप्ति, अपवाह क्षेत्र का भूगर्भिक इतिहास आदि प्रमुख हैं। धरातल पर पाए जाने वाले प्रमुख अपवाह प्रतिरूप निम्न है—

1. **जालीनुमा प्रतिरूप** (Trellis Pattern)—यह प्रतिरूप कोमल व कठोर चट्टानों की भिन्न संरचना वाले क्षेत्रों में विकसित होता है। इसमें सभी जलधाराएँ धरातलीय ढाल के अनुसार बहती हैं तथा एक जाल के रूप में फैली होती हैं। अप्लेशियन जैसे वलित प्रदेशों में यह प्रतिरूप अधिक विकसित होता है।

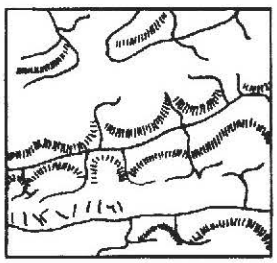

चित्र : जालीनुमा प्रतिरूप

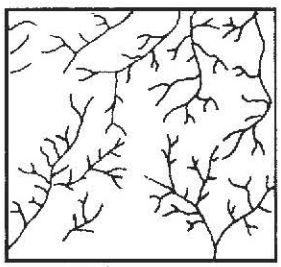

चित्र : द्रुमाकृतिक प्रतिरूप

2. **द्रुमाकृतिक प्रतिरूप** (Dendritic Pattern)—यह प्रतिरूप ऐसे क्षेत्रों में विकसित होता है जहाँ धरातल पर एक जैसे स्वभाव व संरचना वाली चट्टानें फैली रहती हैं। यह प्रतिरूप किसी वृक्ष के तने की अनेक शाखाओं व प्रशाखाओं के सदृश्य होता है। इसमें सभी धाराएँ मुख्य नदी से न्यून कोण पर मिलती हैं। भारत में दामोदर, गोदावरी, महानदी आदि बेसिन इसके उदाहरण हैं।
3. **अरीय प्रतिरूप** (Radial Pattern)—इसमें धरातल का मध्यवर्ती भाग ऊँचा तथा चारों ओर का भाग नीचा होता है। अत: मध्यवर्ती उच्च भाग से निकली नदियाँ चारों ओर तेजी से बहती हैं। यह प्रतिरूप ज्वालामुखी क्षेत्रों में अधिक विकसित होता है।

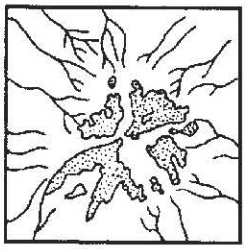

चित्र : अरीय प्रतिरूप

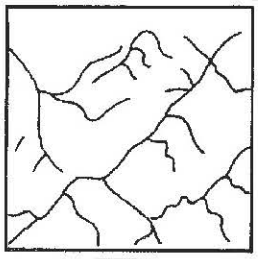

चित्र : आयताकार प्रतिरूप

4. **आयताकार प्रतिरूप** (Rectangular Pattern)—यह प्रतिरूप ऐसे प्रदेशों में विकसित होता है जहाँ चट्टानों में आयताकार सन्धियाँ या भ्रंश पाए जाते हैं। इन्हीं में मुख्य नदी से शाखाएँ समकोण पर मिलती हैं। कोलोरेडो का ग्राण्ड कैनियन इसका उदाहरण है। आयताकार प्रतिरूप व जालीनुमा प्रतिरूप मिलते-जुलते हैं, किन्तु इनमें विभेद सरिताओं के बीच की दूरी के आधार पर किया जाता है। यदि सरिताएँ पास-पास हैं, तो जालीनुमा प्रतिरूप होता है, जबकि दूर-दूर होने पर आयताकार प्रतिरूप होता है।
5. **वलयाकार प्रतिरूप** (Annular Pattern)—यह प्रतिरूप गुम्बदाकार पर्वतीय क्षेत्र में विभिन्न कोमल व कठोर चट्टानों की संरचना के कारण विकसित होता है। इसमें नदियाँ गुम्बदाकार पर्वत से निकलकर एक वलय के रूप में इसकी परिक्रमा करते हुए बहती हैं।

चित्र : वलयाकार प्रतिरूप

6. **केन्द्रोन्मुखी प्रतिरूप** (Centripetal Pattern)—यह अन्त:स्थलीय अपवाह क्षेत्र में विकसित होने वाला प्रतिरूप है। इसमें आसपास की उच्च भूमि से बहकर आने वाली नदियाँ मध्य में कोई झील या सागर में गिरती है। उच्च पठारी भागों में यह प्रतिरूप विकसित है।

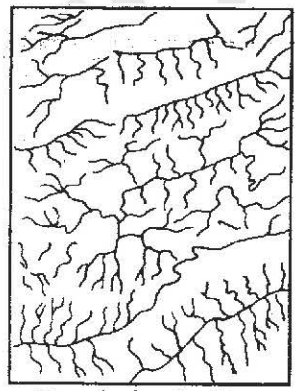

चित्र : केन्द्रोन्मुखी प्रतिरूप

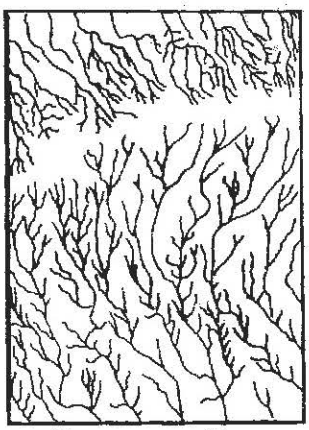

चित्र : समान्तर प्रतिरूप

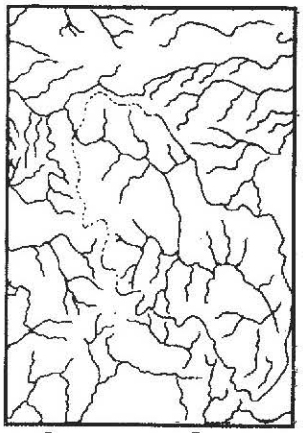

चित्र : हुकनुमा प्रतिरूप

7. **समान्तर प्रतिरूप** (Parallel Pattern)—यह प्रतिरूप वृहत् एवं लम्बी पर्वत श्रेणियों में विकसित होता है। पर्वत श्रेणी के दोनों ओर समान्तर क्रम से दो या अधिक नदियाँ प्रवाहित होती हैं। लघु हिमालय से निकलने वाली नदियाँ यह प्रतिरूप बनाती हैं।
8. **हुकनुमा प्रतिरूप** (Barbed Pattern)—जब किसी प्रदेश में मुख्य नदी में विपरीत दिशा से आकर सहायक नदियाँ मिलती हैं तो हुकनुमा प्रतिरूप विकसित होता है। सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों में यह प्रतिरूप मिलता है।

नदी अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting the River Erosion)

नदी का अपरदन कार्य निम्न कारकों से प्रभावित होता रहता है—

1. **नदी घाटी के ढाल की प्रकृति** (Nature of Slope of River Valley)—अपरदन का आधार नदी में बहने वाली पानी की धारा की गति है। इस गति में ही वह शक्ति होती है कि वह निकट के भागों एवं घाटी के छोटे-बड़े पत्थरों या अवसादों को बहाकर या धकेलकर आगे ले जाती है। साथ ही जितना ढाल तेज होगा न सिर्फ पानी ही तेज गति से बहेगा, बल्कि ऐसे पानी के कटाव की एवं काटे गए पदार्थों के बहाव में भी तेजी से बढ़ोत्तरी होगी। इसीलिए पहाड़ी भागों में कटाव बहुत अधिक होता है, जबकि मैदानी भागों में पानी बढ़ जाने पर भी ढाल घट जाने से कटाव की क्षमता कम होती है।
2. **नदी बेसिन की चट्टानों की प्रकृति एवं संरचना व स्वरूप** (Nature and Structure of Rock in a River Basin)—अपरदन का सीधा सम्बन्ध चट्टानों की प्रकृति एवं संरचना से है। जो चट्टानें अधिक कठोर हैं अथवा जिनकी संरचना में कम घिसने वाले खनिज हैं तो ऐसी चट्टानें कम घिसेंगी। क्वार्ट्ज, ग्रेनाइट, डोलोमाइट, अधिकांश कायान्तरित चट्टानें आदि कठिनाई से घिसती हैं। यदि चट्टानों की बनावट की सन्धियाँ या धारियाँ (परतें) खड़ी हैं अथवा मुलायम चट्टानों के बीच-बीच में कठोर परतें हैं या अघुलनशील परतें हैं, तब भी चट्टानों का अपरदन धीमी गति से होगा। ऐसी सभी दशाओं में अपरदन की क्रियाशीलता प्रभावित होगी। अधिकांश अवसादी या ढीले कणों वाली चट्टानें मुलायम होती हैं, अत: उनका अपरदन शीघ्र होता जाता है। इससे नदी की घाटी एवं नदी बेसिन की भू-आकृति बराबर संशोधित होकर बदलती जाती है।
3. **चट्टानों का भू-वैज्ञानिक इतिहास** (Geological History of Rocks)—प्राय: भू-वैज्ञानिक दृष्टि से जिन चट्टानों पर प्राचीन काल में महासागरों का आक्रमण नहीं हुआ है, वहाँ की चट्टानें कठोर होंगी। इसी भाँति जहाँ मेसोजोइक कल्प (मध्यजीव कल्प) के लम्बे काल में महासागरीय आक्रमण से ऊपर अवसादों के जमाव पाए जाते हैं, वहाँ की चट्टानें प्राय: शीघ्र अपरदन से प्रभावित हो जाती हैं। दक्षिणी एवं मध्यवर्ती भारत के प्राचीन पठारी भाग कठोर चट्टानों के बने हैं, जबकि हिमालय एवं पूर्वी तटीय प्रदेश मुलायम चट्टानों के बने हैं।
4. **भू-संचलन के प्रभाव से ढाल व संरचना में आए परिवर्तन** (Changes in Slope and Structure of Rocks due to Earth Movements)—आकस्मिक अथवा महाद्वीपीय शक्तियों के प्रभाव से किसी प्रदेश की चट्टानों का स्वरूप ही दबाव व भिंचाव से अथवा ज्वालामुखी क्रिया से लावा की परतें बीच में बिछ जाने से बदल सकता है। इसी भाँति भ्रंश एवं मोड़ के प्रभाव से वहाँ का ढाल स्वरूप ही बदल जाता है। ऐसी चट्टानों से नदी घाटी के कटाव की क्षमता बीच-बीच में बढ़ जाती है। इसे नदी घाटी का पुनर्नवीकरण (Rejuvination) कहते हैं।
5. **जलवायु या नदी में जल की मात्रा एवं नियमित आपूर्ति** (Climatic Influence of Quantity and Regular Supply of Water in a River)—आर्द्र एवं तर जलवायु प्रदेशों की नदियाँ वर्ष भर बहती हैं। घने वनस्पति प्रदेशों, बड़ी झीलों एवं वर्षभर वर्षा वाले प्रदेशों से प्रारम्भ होने वाली नदियों में वर्ष पर्यन्त पानी मिलता है। अमेजन, कांगो, नील, गंगा, ब्रह्मपुत्र जैसी नदियों में इसी कारण वर्ष भर पर्याप्त पानी बना रहता है। जिस नदी में जितना अधिक पानी रहेगा, उसकी अपरदन (कटाव) की क्षमता अन्य बातें समान रहने पर अधिक बनी रहेगी। ढालू प्रदेश में जल की मात्रा बढ़ने पर नदी के अवसाद ले जाने की क्षमता कई गुना बढ़ जाती है। हिमालय, आल्पस एवं रॉकीज प्रदेश की नदियाँ ऐसी ही हैं।
6. **नदी में अवसादों की किस्म एवं मात्रा** (Quality and Quantity of Sediments in a River)—जिस नदी में बहने वाले नुकीले अवसाद अधिक होंगे, वह नदी अपनी घाटी का अपरदन तेजी से करेगी। नदी के अवसाद उसके कटाव के औजार भी कहलाते हैं। भारी मात्रा में अवसाद होने पर या अधिक मात्रा में रासायनिक पदार्थ घुले होने पर नदी अपरदन

की क्रिया सीमित होती जाती है। जैसे कि मिसीसिपी की निचली घाटी। भारी मात्रा में अवसाद होने से नदी का बहाव धीमा पड़ने लगता है। इससे नदी अपने अवसादों को ही जमा करने लगती है। अत: सबसे कम एवं सबसे अधिक अवसाद दोनों ही नदी घाटी की अपरदन क्रिया पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

प्र.3. नदी के निक्षेपण कार्यों से बनी स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

नदी का निक्षेपण (जमाव) कार्य
(Depository Work of River)

बहता हुआ जल या नदी की धारा में जो भी पदार्थ कटाव होते रहने से नदी द्वारा बहाए जाते हैं, वे नदी घाटी के कम ढालू या समतलप्राय भागों में जमा होते रहते हैं। नदी बेसिन की भू-आकृति एवं ढाल की बदलती प्रकृति ऐसे अवसादों को छाँट-छाँट कर जमा करने में सहायक रहती है। कंकड़, पत्थर, बड़े रोड़े, गोलाश्म, बजरी, बालू विविध प्रकार की महीन मिट्टी, रासायनिक पदार्थ आदि को नदी के उद्गम स्थान से मुहाने तक के भाग में अनुकूल दशाएँ मिलने के अनुसार जमा होना होता है। नदी के अवसादों का जमा होना ही उसका निक्षेपण (जमाव) कार्य है। जब भारी मात्रा में अवसादों का निरन्तर जमाव होता जाता है तो नदी घाटी में अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती जाती हैं। नदी के मैदानी भागों में कटाव-बहाव एवं जमाव में विशेष समन्वय बना रहता है। जमाव व बहाव से प्रभावित स्थलाकृतियाँ मुख्यत: पर्वतपदीय भाग से डेल्टा भाग के मध्य तक पाई जाती है। ऐसी स्थलाकृतियाँ (भू-आकृतियाँ) नदी की प्रौढ़ावस्था एवं उत्तर प्रौढ़ावस्था की दशा को भी बताती हैं। ये निम्न हैं—

1. **जलोढ़ शंकु एवं जलोढ़ पंख** (Talus Cone and Alluvial Fan)—पर्वतीय भागों में नदी का अपरदन कार्य अपनी चरम सीमा पर रहता है। अत: वहाँ अपरदन एवं काटे गए पदार्थों का परिवहन दोनों ही महत्वपूर्ण बने रहते हैं। यही नदी की युवावस्था भी होती है। पहाड़ी भागों से उतरते ही पर्वतपदीय (piedment) क्षेत्रों में नदी घाटी के ढाल में एकदम कमी आने लगती है। इसके साथ ही नदी की कटाव एवं बहाव की क्षमता में भी तेजी से कमी आने लगती है। इसी प्रकार पर्वतपदीय भाग में नदी त्रिकोणाकार या पंखाकार जमाव बिछाती है। छोटी सरिताएँ एवं नाले शंकु की आकृति के तेज ढाल वाले त्रिकोणाकार जमाव करते हैं। इन्हें ही जलोढ़ शंकु (Talus cone) कहते हैं। इनका क्षेत्र कम होता है एवं इनके सभी किनारों पर ढाल भी अधिक रहता है। यह प्राय: छोटी श्रेणियों के निचले भागों में घाटियों के मैदानी भाग में प्रवेश से पहले बनते हैं। विन्ध्याचल एवं मध्य भारत की पहाड़ियों की तलहटी व निचले ढालों में ऐसे जलोढ़ शंकु देखे जा सकते हैं। ऐसी सरिताएं प्राय: अनित्यवाही (मौसमी) होती हैं।

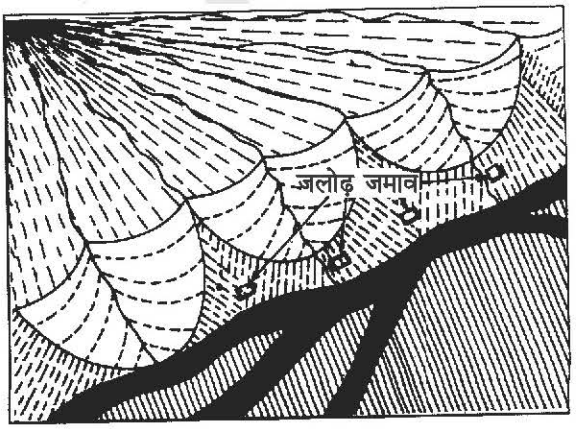

चित्र : जलोढ़ पंख

इसके दूसरी ओर जब सदावाहिनी एवं बड़ी नदियाँ पहाड़ी भागों से नीचे उतरती हैं, तब पर्वतपदीय भाग में नदी के अधिकांश कंकड़, पत्थर व मोटे कण पंखाकार में एकत्रित होते जाते हैं। इसमें घाटी के भीतरी भाग की ओर मोटे टुकड़ों के जमाव होते हैं, जबकि बजरी, बालू एवं मिट्टी के जमाव बाहर की ओर पंखे की तरह बड़े त्रिकोण के आकार में फैल जाते हैं। इसे ही जलोढ़ पंख (Alluvial fan) कहते हैं। इसका विस्तार सैकड़ों वर्ग किमी में हो सकता है। इसका ढाल धीमा होता है एवं इसके बाहरी भाग समतलप्राय एवं उपजाऊ होते हैं। जलोढ़ पंख की बाहरी सीमा पर दलदल या तराई के क्षेत्र भी मिल सकते हैं। हिमालय के पर्वतपदीय क्षेत्र में इन्हें भावर के नाम से पुकारते हैं। कभी-कभी जलोढ़ पंख कई मील लम्बा हो जाता है तथा अन्य पड़ोसी नदियों द्वारा बनाए गए पंखों के साथ मिलकर एक बड़े मैदान का निर्माण करता है, जिसे पीडमांट या गिरिपदीय मैदान कहते हैं।

2. **तराई या दलदली क्षेत्र एवं पर्वतपदीय मैदानी पट्टी** (Tarai and Piedmont Narrow Plains)—जलोढ़ पंख अथवा विस्तृत भावर प्रदेश के पश्चात् नदियाँ अनेक धाराओं में पानी फैला देती हैं। यहाँ पर महीन अवसादों का जमाव, फैला हुआ पानी एवं ऊँचा जलस्तर सभी मिलकर दलदली दशाओं का विकास करते हैं। यही भाग धीरे-धीरे संकरी,

किन्तु उपजाऊ पर्वतपदीय मैदानी पट्टियों में बदलते जाते हैं। कभी-कभी कटाव द्वारा पर्वतीय ढाल पीछे हटते जाते हैं। इससे भी वहाँ अपरदन एवं अपक्षय की सम्मिलित क्रिया से ऐसी मैदानी पट्टियाँ बन सकती हैं। ऐसी पट्टियों पर उपजाऊ मिट्टी की परत निरन्तर बिछती जाती है। हिमालय के पर्वतपदीय भागों में भावर के पश्चात् तराई की पट्टी फैली हुई है।

3. **झीलों के भरने से बने मैदान** (Laucastrine Plains)—पर्वतीय प्रदेशों में धरातल की विषमता के कारण नदी मार्ग के गड्ढों में जल भरने से झीलें बन जाती हैं। इसमें एक ओर नदी अपने अवसाद लाकर गिराती रहती है, दूसरी ओर का जल निकास मार्ग धीरे-धीरे कट-कटकर नीचा होता जाता है। इससे झीलें शीघ्र मरने या सूखने लगती हैं तथा निक्षेपण से छोटे मैदान में बदल जाती हैं। पहाड़ी भागों के ऐसे मैदान छोटे व संकरे हो सकते हैं, किन्तु उपजाऊ अवसादों के कारण इनका विशेष आर्थिक महत्व है।

4. **बाढ़ निर्मित मैदान** (Flood Plains)—यह नदी घाटी की सबसे महत्वपूर्ण जमाव की क्रिया है। नदी मैदानों में बाढ़ के समय प्रतिवर्ष भारी मात्रा में महीन अवसादों का जमाव धारा के आस-पास होता रहता है। इस प्रकार निर्मित नदी के समतल मैदानी भाग को बाढ़ निर्मित मैदान कहते हैं। कई बार नदियाँ बहुत अधिक मात्रा में अवसाद लाती हैं एवं अपनी मुख्य धारा के किनारों पर तटबन्ध के रूप में जमा करती रहती हैं। कालान्तर में नदी की मुख्य धारा अधिक अवसादों के निरन्तर जमाव से अपने निकट के मैदानों से कुछ ऊपर बहने लगती है, जैसा कि ह्वांगहो (चीन), कोसी (भारत) आदि नदियाँ करती रहती हैं। ऐसी नदियों का पानी बाढ़ के समय किनारे तोड़कर मैदान में फैल जाता है, किन्तु मुख्य नदी का पैंदा ऊँचा होने से मैदान से पानी पुनः नदी घाटी में बहकर नहीं आ सकता। यही नहीं भयंकर बाढ़ आने पर नदी अपना मार्ग भी बदल सकती है। इसी कारण चीन की ह्वांगहो तथा भारत की कोसी व दामोदर नदियाँ 'शोक की नदियाँ' (River of sorrow) कहलाती हैं।

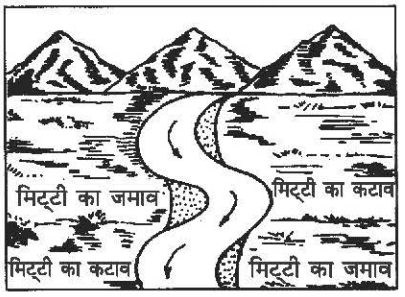

चित्र : बाढ़ से बना मैदान

5. **नदी के मोड़ या विसर्प** (River Meanders)—मैदानी भाग में नदी का ढाल धीमा रहता है। अतः नदी टेढ़े-मेढ़े सर्पाकार मार्ग से बहने लगती है। इसीलिए मैदानी भागों के ऐसे मोड़ों को विसर्प (मिएण्डर) कहते हैं। नदी विसर्प अपरदन एवं निक्षेपण कार्यों का मिला-जुला परिणाम होते हैं। इन मोड़ों के बाहरी घुमावों पर निरन्तर कटाव होता रहता है, क्योंकि वहाँ पर पानी के बहाव की सीधी शक्ति या धक्का लगता रहता है। इसके ठीक विपरीत भाग में जमाव होता रहता है।

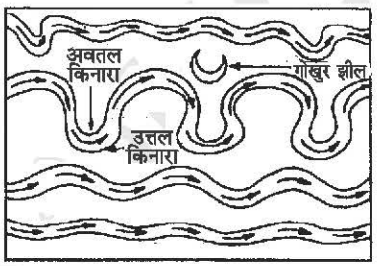

चित्र : विसर्प

चित्र : नदी के मोड़ एवं गोखुराकार झील

6. **गोखुराकार या धनुषाकार झील** (Oxbow Lake)—जब विसर्प का मोड़ निरन्तर बढ़ता जाता है तो अनवरत आमने-सामने के भागों में कटाव होता रहता है। इससे कुछ समय पश्चात् विसर्प के कोने वाले किनारे आपस में मिल जाते हैं। यहाँ अब नदी विसर्पाकार मार्ग से नहीं बहकर सीधी बहने लगती है। विसर्प का विशाल मोड़ वाला भाग गोखुर (Oxbow) या धनुष की भाँति झील के रूप में वहाँ बचा रहता है। यह मुख्य नदी से अलग हुआ भाग होता है। ऐसे विशाल विसर्प (मोड़) एवं गोखुराकार झीलों की आदर्श दशाएँ मिसीसिपी नदी की निचली घाटी में पाई जाती हैं।

7. **प्राकृतिक तटबन्ध** (Natural Levee)—मैदानी भाग में बाढ़ के समय नदी का पानी किनारों से काफी दूर तक दोनों ओर फैलता जाता है। नदी की धारा के बाहर जहाँ यह पानी स्थिर होता जाता है तेजी से गाद या चिकनी मिट्टी एवं महीन दुमट का जमाव करने लगता है। ऐसे जमाव का सबसे अधिक भाग नदी के किनारे से कुछ हटकर होता है। अतः ऐसी

सभी नदियों में दोनों किनारे ऊँचे उठने लगते हैं, जहाँ पर प्रति वर्ष बाढ़ आती है। नदी में यदि अवसाद बहुत अधिक आते हैं तो नदी की मुख्य धारा बाढ़ निर्मित मैदान से कुछ ऊपर बहने लगती है। साथ ही उसके प्राकृतिक तटबन्धों का महत्व भी बढ़ जाता है। ऐसी नदियों की सबसे डरावनी बात यह है कि भयंकर बाढ़ आने पर नदी अपने तटबन्धों से भी ऊपर बहने लगती है या तटबन्ध टूट जाते अथवा नदी अपना मार्ग ही बदल सकती है। अत: अब ऐसी नदियों के प्राकृतिक तटबन्ध को कृत्रिम तटबन्धों द्वारा ऊँचा किया जाने लगा है।

प्र.4. भूमिगत जल के प्रमुख स्त्रोत बताते हुए इसके संचयन के क्षेत्रों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

भूमिगत जल का संचयन
(Storage of Underground Water)

भूमिगत जल की मात्रा विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न गहराइयों पर भिन्न-भिन्न होती है। भूमि का ढाल, वर्षा की तीव्रता, चट्टानों की सरन्ध्रता, वनस्पति आवरण, वायु की शुष्कता, भूमिगत जल की गति आदि कारक इसे प्रभावित करते हैं। भूमिगत जल की स्थिति के अनुसार भू-गर्भ में तीन कटिबन्ध या क्षेत्र पाए जाते हैं—असंतृप्त क्षेत्र, अस्थायी संतृप्त क्षेत्र तथा स्थायी संतृप्त क्षेत्र।

1. **असंतृप्त क्षेत्र** (Non-Saturated Zone)—भूतल के नीचे का वह क्षेत्र जहाँ पानी वर्ष भर नहीं पाया जाता, अर्थात् जहाँ से पानी रिस-रिसकर अधिक गहराई तक पहुँच जाता है, असंतृप्त क्षेत्र कहलाता है। वर्षा काल में भी इस पट्टी में चट्टानें भीगती तो हैं, किन्तु जल के भण्डार ऐसी पट्टी से नीचे पाए जाते हैं। अत: इस गहराई तक का क्षेत्र पूर्णतया असंतृप्त चट्टानों का क्षेत्र होगा। वर्षा काल में चट्टानें पानी ग्रहण तो करती हैं, परन्तु वाष्पीकरण द्वारा वहाँ से पानी भाप बनकर उड़ता जाता है तथा नीचे की परतों में रिस-रिसकर भी चला जाता है। वर्ष के शेष भाग में यह क्षेत्र पूर्णत: शुष्क रहता है।
2. **अस्थायी संतृप्त क्षेत्र** (Zone of Intermittent Saturation)—असंतृप्त क्षेत्र से ठीक नीचे के भाग में वर्षा ऋतु में चट्टानों में जल पाया जाता है, अर्थात् यहाँ की चट्टानें थोड़े समय के लिए (लगभग चार से सात माह तक) पानी से संतृप्त रहती हैं। ग्रीष्म काल में यहाँ से भी पानी सूख जाता है। अत: इसे 'अस्थायी संतृप्तता का क्षेत्र' कहते हैं। इसकी ऊपरी सीमा को अस्थायी जल तल (Temporary Water Table) कहते हैं। यहाँ पर अधिक वर्षा होने पर भूतल के अधिक निकट तक थोड़े समय के लिए पानी मिल सकता है। जिन कुओं में ग्रीष्म काल में पानी सूख जाता है, वे अस्थायी संतृप्त क्षेत्र तक ही खोदे गए होते हैं। पहाड़ी भाग में अस्थायी संतप्त क्षेत्र की मोटाई अधिक रहती है, क्योंकि वहाँ पर ग्रीष्मकाल में पानी अधिक गहराई तक पहुँच जाता है।
3. **स्थायी संतृप्त क्षेत्र** (Zone of Permanent Saturation)—अस्थायी संतृप्त क्षेत्र के ठीक नीचे स्थायी संतृप्त क्षेत्र पाया जाता है। वहाँ वर्ष भर पानी मिलता है। इसी कारण स्थायी संतृप्त क्षेत्र की ऊपरी सीमा स्थायी जल तल (Permanent water table) कहलाती है। **सेलिसबरी** के अनुसार, किसी प्रदेश की अधोभूमि का वह तल जिससे नीचे चट्टानें जल से ओतप्रोत (संतृप्त) रहती हैं, उस प्रदेश का भूमिगत जल तल (Underground water table) कहलाता है। सामान्यत: जल तल रेखा धरातलीय बनावट का अनुसरण करती है। अत: भूमिगत जल भी धरातल के अनुसार ही बहता है। विश्व के सभी भागों में इसकी गहराई निश्चित नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि स्थायी जल तल क्षेत्र अरन्ध्रमय चट्टानों से ऊपर स्थित संतृप्त क्षेत्र के ऊपर पाया जाता है। सामान्यत: जिन कुओं में वर्ष भर पानी मिलता है अथवा ग्रीष्मकाल में खोदे गए ट्यूबवैल या हैण्ड पम्प में जिस गहराई पर पर्याप्त पानी मिलता है, वहीं उस क्षेत्र की स्थायी संतृप्त क्षेत्र की सीमा होती है। अत: वहाँ स्थायी जल तल का क्षेत्र आ जाता है। मरुस्थलीय प्रदेशों में स्थायी संतृप्त क्षेत्र 100 से 150 मीटर की गहराई तक एवं पश्चिमी गंगा के मैदान में 8 से 10 मीटर की गहराई पर पाया जा सकता है।

भूमिगत जल के विभिन्न स्त्रोत (Various Sources of Underground Water)

प्राकृतिक अथवा कृत्रिम छिद्रों द्वारा भूमिगत जल धरातल पर कूप, स्त्रोत, उत्स्रुत कूप, गीजर आदि रूपों में प्रकट होता है—

1. **उत्स्रुत कूप या पातालतोड़ कुआँ** (Artesian well)—सामान्यत: ऐसे कुओं को जिनकी गहराई बहुत अधिक होती है, उन्हें पातालतोड़ कुएँ कहते हैं। किन्तु मात्र गहराई बहुत अधिक होने से ही कोई कुआँ पातालतोड़ नहीं हो जाता है। इसके लिए भू-गर्भ की विशेष संरचना भी आवश्यक है। इन कुँओं में जल स्वत: ऊपर की ओर सतत रूप से बढ़ता है। **होम्स** के शब्दों में "पातालतोड़ कुएँ से आशय ऐसे कुओं से है, जिनमें गहराई पर प्राप्त जल पर्याप्त जलीय दाब के कारण स्वत:

भूमि के ऊपर आप्लावित होता है।'' ये विशेष परिस्थितियों में बनते हैं। इनमें भूमि में रिसता हुआ जल दो अभेद्य चट्टान स्तरों के मध्य में स्थित पारगम्य या मुलायम चट्टानों के स्तर से निर्मित तश्तरीनुमा बेसिन में एकत्रित हो जाता है। ऊपरी कठोर चट्टानों को काटकर जब भी गहरा कुआँ खोदा जाता है तो तश्तरीनुमा बेसिन से जलीय दाब के कारण एकत्रित जल धरातल पर स्वत: निकलने लगता है। आस्ट्रेलिया के आर्टीजियन बेसिन में लगभग 10,000 पातालतोड़ कुए पाए जाते हैं।

2. **सोता या स्रोत** (Spring)—प्राकृतिक रूप से भूमिगत जल के स्वत: धरातल पर निकलने को स्रोत या सोता कहते हैं। किसी स्थान पर स्रोत का फूटना वहाँ की आन्तरिक संरचना पर निर्भर करता है। ये स्थायी एवं अस्थायी दो प्रकार के होते हैं। पर्वतीय या ढालू क्षेत्रों में धरातल पर उभरी हुई जल सम्पृक्त पारगम्य चट्टानों से एकत्रित जल सोते के रूप में बाहर निकल जाता है। किसी क्षेत्र में जल स्तर के ऊँचा-नीचा होने पर भी ऐसे सोते बन जाते हैं। ये ठण्डे जल के भी होते हैं तथा गर्म जल के भी होते हैं।
3. **गीजर** (Gyser)—गीजर ऐसे गर्म पानी के सोते हैं जिनमें पानी एक विशेष छिद्र से फव्वारे की भाँति बाहर निकलता है। विश्व के ज्वालामुखी क्षेत्रों अथवा विशेष भ्रंश या दरारों से प्रभावित क्षेत्रों में गीजर अधिक पाए जाते हैं। ऐसे फव्वारों से गर्म पानी एवं वाष्प थोड़ी-थोड़ी देर से या निश्चित समय के अन्तर से ऊँचे दबाव पर बाहर उठता हुआ निकलता है।

प्र.5. कार्स्ट प्रदेश में रासायनिक घोल (अपरदन) से बनी आकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

कार्स्ट प्रदेश में रासायनिक घोल (अपरदन) से बनी आकृतियाँ
(Forms Made due to Chemical Solution or Erosion in Karst Region)

सभी कार्स्ट प्रदेशों में कैल्सियम एवं कार्बोनेट पदार्थ सबसे अधिक पाए जाते हैं। वर्षा के पानी में हल्की मात्रा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस मिली रहती है। ऐसा पानी जब चूने की चट्टानों पर बहता है तो वह अपने साथ चूने के कार्बोनेट को घोलने लगता है। इससे चूने का पानी अम्लीय होने लगता है। ऐसे अम्लीय या तेजाबी पानी के प्रभाव से चूने के प्रदेश में तेजी से रासायनिक क्रिया होती है और चूने की चट्टानें शीघ्रता से घुलने लगती हैं। चूने के प्रदेश में बनी अधिकतर स्थलाकृतियाँ ऐसी ही रासायनिक घोल क्रिया से बनती हैं। इससे ऊपर का भू-भाग तो ऊबड़-खाबड़ होता ही जाता है, साथ-ही-साथ भूमिगत क्षेत्रों में भी अनेक आकृतियाँ बनती जाती हैं।

1. **लेपीज** (Lapies)—ब्रिटेन एवं फ्रांस के चाक मिश्रित प्रदेशों में ऐसी आकृतियाँ अधिक बनती हैं। इसमें घोल क्रिया से चाक क्षेत्र की खड़ी सन्धियों या जोड़ों में गहरी दरारें पड़ती जाती हैं। बीच-बीच में अघुलनशील एवं कठोर भाग खड़े रह जाते हैं। यह संरचना नुकीली, काँटेदार एवं बहुत ही विषम धरातल वाली होती है। ऐसे क्षेत्रों को पार करना प्राय: असम्भव होता है।

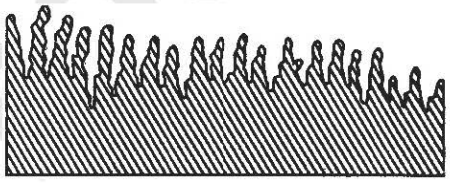

चित्र : लेपीज

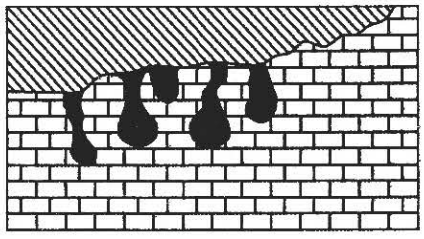

चित्र : घोल छिद्र

2. **घोल रन्ध्र या घोल छिद्र** (Sink Holes)—चूने की चट्टानों में स्पष्टत: सन्धियाँ पाई जाती हैं। अत: कार्बन डाई-ऑक्साइड मिश्रित जल अपने हल्के तेजाबी प्रभाव से ऐसी सन्धियों के सहारे निरन्तर घोल क्रिया करता रहता है। इससे संकरे मुँह के छोटे-छोटे गड्ढे या छिद्र धरातल पर पड़ते जाते हैं। इनकी गहराई एवं चौड़ाई 2 मीटर से 30 मीटर तक हो सकती है। घोल छिद्र संयुक्त राज्य के केण्टकी राज्य में अधिक पाए जाते हैं। ऐसे छिद्र बहुत अधिक बन जाने पर सारा धरातल छलनी की तरह हो जाता है। वहाँ का पानी भी तुरन्त सोख लिया जाता है। इनमें कुछ कीपाकार और कुछ बेलनाकार होते हैं। विश्व में सर्वाधिक घोल रन्ध्र स्लोवेनिया में पाए जाते हैं।

3. **विलय रन्ध्र** (Swallow Holes)—ज्यों-ज्यों घोल छिद्र बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों उनमें निचली दरारों के सहारे पानी आगे की ओर मार्ग ढूँढ़ता रहता है। अनेक बार पानी ऐसे छिद्रों को कीपनुमा एवं कुछ छिद्रों को धरातल से नीचे एक साथ मिला देता है। आसपास का पानी ऐसे छिद्रों में आकर दरारों व भूमिगत मार्गों के सहारे भूमिगत हो जाता है। विलय रन्ध्र को निगलते छिद्र भी कहते हैं। यदि ऐसा धरातल पठारी या पहाड़ी है, तो ऊपरी सतह का पानी चट्टानों के भीतर काफी गहराई की भूमि के नीचे बनी गुफाओं तक भी पहुँच सकता है।

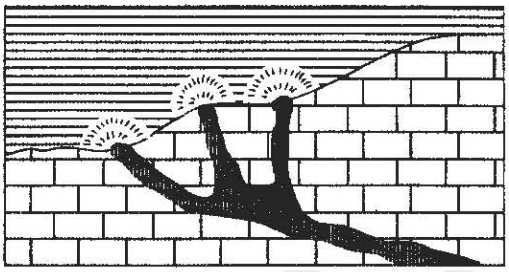

चित्र : विलय रन्ध्र

4. **पोनोर** (Ponor)—पोनोर चूने के प्रदेश में बने कीपनुमा छिद्रों की निचली नली जैसी आकृति होती है। यह एक ऐसा गुफानुमा मार्ग है, जो कि ऊपरी निगलते छिद्रों को नीचे की गुफाओं से जोड़ता है। इसी कारण कई बार इस गुफा जैसे मार्ग के द्वारा ही नदी-नाले या झीलों के पैंदे का पानी शीघ्र ही भूमिगत होकर अदृश्य हो जाता है। ऐसे मार्गों या पोनोर के विकसित होने से कार्स्ट प्रदेश की सतह का पानी सोख लिया जाता है। वहाँ की सतह की नमी घटने से अर्द्ध-शुष्क दशाएँ पाई जाने लगती हैं।

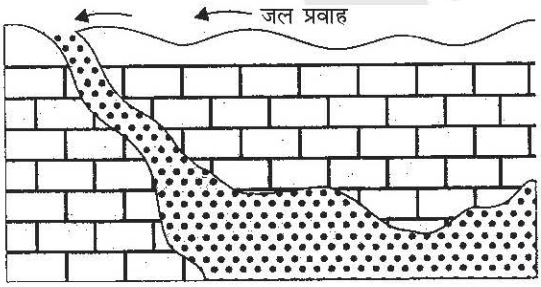

चित्र : पोनोर

5. **छिछले घोल पात्र** (Shallow Solution Pan)—यह आकृति छिछले व छोटे-छोटे गड्ढों जैसी होती है। जहाँ कहीं कार्स्ट प्रदेशों में वर्षा का पानी ठहर जाता है, वहाँ सतह पर घोल क्रिया से ऐसे छिछले गड्डे पड़ते जाते हैं। इसका विशाल एवं अधिक गहरा रूप बाद में डोलाइन जैसी आकृति बनाता है।
6. **डोलाइन** (Doline)—यह अपेक्षतया गहरे और बेलनाकार गड्ढे होते हैं। विलय रन्ध्रों के बड़े होने पर ही डोलाइन बनते हैं। इसका बड़े पैमाने पर विकास फ्रांस और पूर्व यूगोस्लाविया में हुआ है। फ्रांस का प्यूट्ज बर्जर डोलाइन लगभग 900 मीटर गहरा है और यह विश्व के सबसे गहरे एवं विशेष आकर्षक डोलाइन में से है। ऐसे डोलाइन्स पिरेनीज पर्वतीय प्रदेश एवं केण्टकी राज्य में पाए जाते हैं। अधिक वनस्पति होने पर इनकी आकृति कम गहरी एवं बेसिन जैसी हो जाती है, जबकि अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों में या कम वनस्पति वाले प्रदेशों में ऐसे गड्ढे तेज या खड़े ढाल वाले और बेलनाकार रूप में विकसित होंगे।
7. **संकुण्ड या युवाला** (Uvalas)—यह बड़े आकार का कुण्ड होता है। जब कई डोलाइन एवं निगलते छिद्र आपस में मिल जाते हैं तो बहुत बड़े आकार के गड्ढे बनते जाते हैं। ऐसे छिद्रों में नदियाँ भी समा जाती हैं। कई बार इससे भूमिगत गुफाओं की छत भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार से कई आकृतियाँ एक साथ मिलकर विशेष घोल क्रिया से नई आकृति बना देती हैं। फ्रांस में ऐसे युवाला को अवेन्स भी कहते हैं। इनका विस्तार सतह पर एक से दो किमी तक भी हो सकता है। युवाला का छोटा रूप नीचे धँसने वाला छिद्र (Collapse sinks) कहलाता है। ऐसी आकृति फ्रांस में अधिक पाई जाती है।
8. **कार्स्ट झीलें** (Karst Lakes)—जब कई निगलते छिद्र मिलते जाते हैं, तो वहाँ पर एक विशाल गड्ढा बन जाता है। ऐसे गड्ढों में यदि पोनोर मार्ग नहीं बने तो वहाँ पानी भरने से कार्स्ट झील बन जाती है। ऐसी कार्स्ट झील प्राय: अस्थायी होती है, क्योंकि कुछ ही वर्षों में वहाँ पर नीचे की सन्धियों में पोनोर या डोलाइन मार्ग या गुफा का विकास हो जाने से झील के पैंदे से पानी गायब हो जाता है। तब ऐसी झील शुष्क गड्ढे के रूप में बदल जाती है। संयुक्त राज्य के फ्लोरिडा राज्य में ऐसे ही एक गड्ढे का नीचे का मार्ग बन्द हो जाने से वहाँ 1871 में एक 65 वर्ग किमी की झील बन गई थी, किन्तु 1895 तक यह झील नीचे का पोनोर या गुफानुमा मार्ग खुल जाने से पुन: सूख गई। कार्स्ट प्रदेशों में ऐसी छोटे आकार की झीलें बनती-बिगड़ती रहती हैं।
9. **तेज ढाल वाली घाटियाँ** (Steep Head Valleys)—चूने के प्रदेश में अधिक घुलनशीलता के प्रभाव से जो निगलने वाले एवं अन्य प्रकार के छिद्र व गड्ढे बनते जाते हैं, उनके ढाल अधिक तेज होते हैं। जब ऐसे कई गड्ढे एक मार्ग या टेड़ी-मेढ़ी रेखा के सहारे या सन्धियों के सहारे आपस में मिल जाते हैं तो ऐसे में एक खड़े ढाल वाली लम्बी घाटी बन जाती है। इसे ही तेज ढाल वाली घाटी कहते हैं।

10. **शुष्क घाटी या अन्धी घाटी** (Dry or Blind Valley)—चूने के प्रदेश में बहने वाली नदियाँ भी वहाँ की सतह की झीलों की भाँति स्थायी नहीं होतीं। ऐसे प्रदेशों की प्रारम्भिक अवस्था में बहने वाली नदियों के मार्ग में घोल क्रिया बढ़ने से जब पोनोर या डोलाइन जैसे गहरे या गुफा मार्ग बन जाते हैं, तब नदियाँ ऐसे मार्ग में प्रवेश कर जाती हैं। इससे नदी का सारा पानी भूमिगत हो जाता है। इस स्थान से आगे की नदी घाटी को शुष्क या अन्धी घाटी कहते हैं।
11. **कार्स्ट घाटी** (Karst Valley)—चूने के प्रदेश में वर्षा ऋतु में सतह पर सरिताएँ एवं नाले बहने लगते हैं। ऐसा पानी प्राय: छिछली व चौड़ी घाटी में बहता है। यह बहता हुआ पानी कुछ दूरी के पश्चात् किसी भी छिद्र में प्रवेश कर अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार की अधूरी नदी या नाले की घाटी को कार्स्ट घाटी कहते हैं।
12. **प्राकृतिक पुल** (Natural Bridge)—जब नदियाँ भूमिगत होकर निचले ढालों पर फिर से दिखाई देने लगती हैं तो बीच के मार्ग में अनेक स्थानों पर निगलते छिद्र बने होते हैं, किन्तु बीच-बीच में घाटी से आर-पार जाने के लिए मार्ग बचा रहता है। कभी-कभी भूमिगत नदियाँ गुफाओं में से होकर बाहर निकलती हैं और उनके ऊपर छत से नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे ही स्थानों को प्राकृतिक पुल कहते हैं। संयुक्त राज्य के बर्जीनिया एवं यूटाह राज्य में ऐसे अनेक प्राकृतिक पुल पाए जाते हैं।

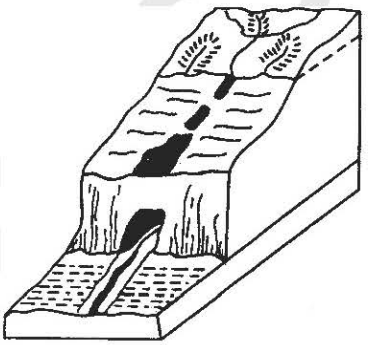

चित्र : प्राकृतिक पुल

13. **कार्स्ट खिड़की** (Karst Window)—जब चूने के प्रदेश की घोल क्रिया प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करती है, तो निगलते छिद्र गहरे होते हैं। कई बार निगलते छिद्र व डोलाइन गहरे होकर भूमिगत गुफा की छत में छेद या गड्ढा बना देते हैं। दूसरे अर्थों में गुफा की छत धँसक जाती है। इससे सतह से गहराई पर गुफाओं में बहने वाला पानी और गुफाओं का दृश्य ऐसी ही खिड़की (छिद्र) से दिखाई देने लगता है। इसी कारण ऐसे गड्ढे को कार्स्ट खिड़की कहते हैं।
14. **गुफाएँ** (Caverens)—कार्स्ट प्रदेशों में जब सन्धियों व दरारों के सहारे विकसित पोनोर व डोलाइन से पानी नीचे जाता है, तो अधिक मोटी परतों में भीतर ही भीतर घोल की क्रिया तेजाबी पानी के प्रभाव से बढ़ती जाती है। इसी कारण भूमि की गहराई में कार्स्ट गुफाएँ विकसित होती जाती हैं। ऐसी गुफाएँ पानी की घुलनशील शक्ति और चूने की चट्टानों की मोटाई के अनुसार छोटी-बड़ी बन सकती हैं। यह किसी भी आकार की बन सकती हैं। संयुक्त राज्य की केण्टकी गुफाएँ और एड्रियाटिक सागर तट की विशाल गुफाएँ विश्वप्रसिद्ध हैं।
15. **राजकुण्ड** (Polji)—कार्स्ट प्रदेश में प्रौढ़ावस्था के विकास के साथ-साथ विशाल गड्ढों या महान कुण्ड की आकृति बनती जाती है। इसमें पूर्व के बने निगलते छिद्र, डोलाइन, युवाला आदि सभी आकृतियाँ घुलकर नष्ट हो जाती हैं। यहाँ तक कि गुफाएँ भी नष्ट हो जाती हैं या उनकी छतें धँस जाती हैं। ऐसे वृहद् कुण्ड जिनका विस्तार 100 वर्ग किमी से भी अधिक पाया जाता है और जिनके पैंदे में चूने की मोटी परत से नीचे की चट्टानें दिखाई देने लगती हैं, उसे राजकुण्ड या पोल्जी कहते हैं। इनके पैंदे में पानी बहता रहता है एवं वहाँ की मिट्टी यदि उपजाऊ है तो पुन: आर्थिक क्रियाकलाप होने लगते हैं। आस्ट्रिया और पूर्व यूगोस्लाविया में ऐसे राजकुण्ड पाए जाते हैं। इनकी तली या पैंदे में बस्तियाँ बस गयी हैं एवं पशुपालन या कृषि भी की जाती है।
16. **चूर्णकूट या हम्स** (Hums)—जब गुफाओं की तली या पोल्जी के पैंदें अथवा चूने के प्रदेश से नीचे की परत पर पानी बहता है, तो उसके साथ चूने की चट्टानों के अघुलनशील भाग एवं अन्य कठोर चट्टानों के रोड़े टीलों की तरह एकत्रित हो जाते हैं। ऐसे टीले प्राय: शंकु के आकार के या नुकीली पहाड़ी जैसे होते हैं। इन्हें इटली व पूर्व यूगोस्लाविया में हम्स के नाम से पुकारा जाता है। इन्हें चूर्णकूट भी कहते हैं।

प्र.6. मरुस्थलीय प्रदेश में वायु के निक्षेपण से निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

वायु के निक्षेप (जमाव) कार्य से बनी स्थलाकृतियाँ
(Landforms Due to Depositional Work of Wind)

वायु अनेक प्रकार से एवं अलग-अलग परिस्थिति में निक्षेप कार्य करती है। बालू सहित बहती हुई वायु में जहाँ भी मार्ग में बाधा आ जाती है, बालू का जमाव प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि ऐसी बाधा से वायु एवं बालू दोनों की गति टूट जाती है। अत: वृक्षों की

पंक्ति, खम्भे, दीवार, पहाड़ी, जल तल एवं अन्य कोई भी ऐसे ही कारक वायु के निक्षेप कार्य में सहायक हो सकते हैं। वायु के निक्षेप कार्य से निम्नलिखित स्थलाकृतियाँ बनती हैं—

1. **उर्मिकायें** (Ripples)—रेतीले मरुस्थलों में सतह पर सागरीय लहरों की भाँति निशान पाए जाते हैं। इनका निर्माण पवन की दिशा के समकोण पर महीन रेत के निक्षेपण से होता है। पवन की दिशा में परिवर्तन के साथ ही ये बिगड़ जाती हैं।

चित्र : बरखान

2. **बालुका स्तूप** (Sand Dunes)—शुष्क एवं अर्द्धशुष्क प्रदेशों में वायु के जमाव से बनी सबसे महत्वपूर्ण आकृति बालुका स्तूप कहलाती है। ये कई प्रकार के होते हैं। यह समुद्र तट के निकट एवं मरुस्थल दोनों ही क्षेत्रों में पाए जाते हैं। बालुका स्तूप का निर्माण रेत की अधिकता, हवा की दिशा, वेग, बालू के जमाव का समुचित स्थान, मार्ग की बाधा आदि के कारण होता है। इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैं—

(i) **अर्द्धचंद्राकार बालुका स्तूप**—इनका आगे का ढाल तेज होता है और बहाव की ओर का भाग धीमे ढाल वाला होता है। इन्हीं का विकसित रूप बरखान कहलाता है। ऐसे अर्द्धचन्द्राकार स्तूप थार मरुस्थल में कहीं-कहीं पाए जाते हैं, वहीं बरखान सहारा के उत्तरी भाग में अधिक पाए जाते हैं। बरखान में मिट्टी के मोटे कण होते हैं। उनके ऊपर महीन कण बिछते रहते हैं। इसी से धीरे-धीरे विशेष आकृति के बरखान बन जाते हैं।

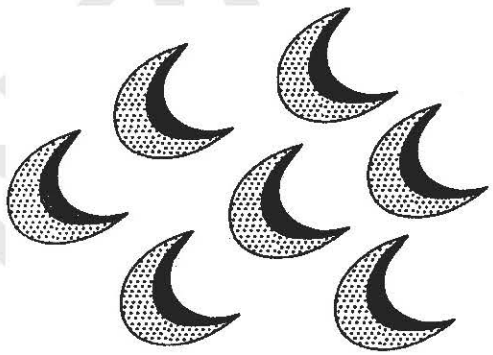

चित्र : अर्द्धचन्द्राकार बालुका स्तूप

(ii) **समान्तर या अनुदैर्घ्य बालुका स्तूप**—ऐसे बालुका स्तूप छोटी पहाड़ी श्रेणी की भाँति लम्बाई में 2 से 5 किमी तक एवं 20 से 50 मीटर तक ऊँचे होते हैं। इनका विस्तार पवन की प्रवाह दिशा के समान्तर होता जाता है। सहारा में इन्हें सीफ एवं थार में इन्हें धोरे कहते हैं। इनमें बालू के बारीक कण पाए जाते हैं।

(iii) **लम्बवत् या अनुप्रस्थ बालुका स्तूप**—ऐसे स्तूप (टीले) निरन्तर एक दिशा में चलने वाली पवन के क्षेत्रों में पाए जाते हैं। बहती हुई पवन के सामने बाधा आने से इसका निर्माण एवं विस्तार होने लगता है। कुछ स्तूपों के मध्य के निम्न क्षेत्र में भँवर पड़ जाने से भी पवन के साथ बालू का जमाव स्थान बदलकर होता रहता है। कभी-कभी नदी तट एवं समुद्र व झीलों के तट पर भी विभिन्न आकृति में स्तूपों का जमाव होता रहता है।

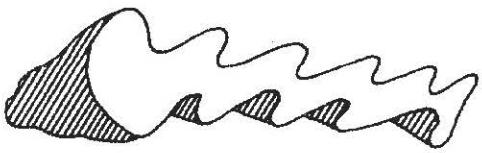

चित्र : समान्तर बालुका स्तूप

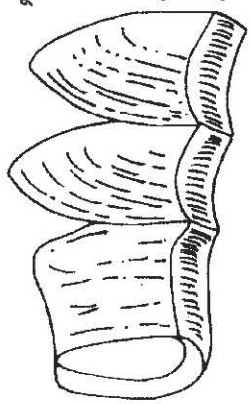

चित्र : अनुप्रस्थ बालुका स्तूप

बड़े-बड़े मरुस्थलों में तूफानी आँधियाँ चलने से भारी मात्रा में रेत एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जाती है। इससे पुराने बालुका स्तूप अपना स्थान छोड़कर पवन के साथ ही बहते रहते हैं एवं नये स्थान पर उनका जमाव होने लगता है। वनस्पति आवरण होने पर बालुका स्तूप स्थायी भी हो जाते हैं।

3. **बालुका चादर** (Sand Sheet)—ये बालू के विस्तृत, समतल तथा आकार विहीन क्षेत्र होते हैं। इनमें स्तूप न होकर मात्र उर्मियाँ होती हैं। इन्हें बालुका आवरण भी कहते हैं। लीबिया में विस्तृत सेलिमा चादर इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।
4. **लोयस के जमाव** (Loess)—मरुस्थलीय प्रदेशों की सीमा के बाहर बालू एवं मिट्टी के बारीक कण हवा के साथ बहकर फैलते जाते हैं। **होम्स** के अनुसार "लोयस पवन द्वारा उड़ाकर लाए गए सूक्ष्मकणीय धूल के निक्षेप होते हैं, जो कि मरुस्थलों के बाहरी क्षेत्रों में जमा होते हैं, जहाँ विभिन्न प्रकार की घासें इन्हें इकट्ठा जमाए रखती हैं।" लोयस का नामकरण फ्रांस के लोयस नामक गाँव में जमा ऐसी ही मिट्टी के आधार पर किया गया। यह पीले अथवा हल्के भूरे रंग की होती है, जल में घुल जाती है तथा बहुत उपजाऊ होती है। ढीली होने के कारण इसे नदियाँ आसानी से काट देती हैं। लोयस के निक्षेप उत्तरी चीन, न्यूजीलैण्ड, मध्यपूर्वी आस्ट्रेलिया व उत्तरी अमेरिका में पाए जाते हैं।

अर्द्धशुष्क प्रदेशों में हवा के साथ-साथ कभी-कभी होने वाली वर्षा एवं बहते हुए जल का कार्य भी महत्वपूर्ण होता जाता है। वहाँ पर कटाव एवं जमाव की सम्मिलित क्रिया से कई प्रकार की भू-आकृतियाँ बनती जाती हैं। इनमें पेडीमेण्ट, बजाड़ा, प्लाया आदि महत्वपूर्ण हैं।

पेडीमेण्ट (Pediment)—शुष्क एवं अर्द्धशुष्क प्रदेशों में प्राय: किसी पर्वत, पठार या इंसलबर्ग के पदीय भाग में एक सामान्य ढाल वाला मैदान विस्तृत होता है, ऐसे चिकने चट्टानी समतल भू-भाग को पेडीमेण्ट कहते हैं। यह मुख्यत: पानी के कटाव व अपक्षय से बनता है। इसके पीछे का पर्वतीय भाग काफी तेज ढाल वाला होता है। कभी-कभी इसकी पृष्ठभूमि का ढाल भृगु या कगार जैसा हो सकता है। कई बार हवा भी ऐसे पेडीमेण्ट के निर्माण में सहायक रहती है। ऐसे पेडीमेण्ट के आगे के भाग में बारीक मिट्टी का जमाव पाया जाता है।

बजाडा (Bajada)—बजाडा पेडीमेण्ट के नीचे का भाग है। यहाँ पर पेडीमेण्ट के निर्माण के समय बहकर आए पदार्थ व रेत जमा होती जाती है। ऊँचे या उभरे भागों का कटाव एवं निचले भागों में जमाव यहाँ दोनों ही कार्य हवा एवं पानी की सम्मिलित क्रियाओं से होते रहते हैं। इसी कारण यद्यपि इसका ढाल धीमा रहता है, फिर भी यह लहरदार होता है। यहाँ पर मोटे व महीन कणों के मिश्रित जमाव की अलग-अलग मोटाई की परत जमा होती जाती है। यह भाग कृषि व पशुपालन के लिए भी उपयोगी रहता है।

प्लाया या छिछले दलदल (Playa)—मरुस्थलीय एवं अर्द्ध-मरुस्थलीय प्रदेशों में जो नदी-नाले बहते हैं, उनका पानी मरुस्थल या बालू के जमाव में ही फैलकर सोख लिया जाता है, अर्थात् यहाँ पर 'अन्तर्देशीय प्रवाह' (Inland drainage) पाया जाता है। जिन भागों में नदी-नालों का पानी इकट्ठा होता रहता है, वहाँ उनके साथ नमक या क्षार भी जमा होते जाते हैं। मिट्टी के जमाव में नमक सम्मिलित होने से वहाँ कठोर परत के जमाव या डूराक्रस्ट (duracrust) बनते जाते हैं। वर्षा के दिनों में पानी भरने पर यहाँ खारे दलदल बन जाते हैं। ऐसे दलदल मेक्सिको व संयुक्त राज्य में अधिक पाए जाते हैं। राजस्थान में सांभर, कुचामन, पचभदरा, डीडवाना, लूणकरणसर, फलौदी आदि में ऐसे ही खारे पानी के जमाव पाये जाते हैं। इन प्लाया झीलों का क्षेत्रफल कुछ वर्ग किमी से लेकर सैकड़ों किमी तक होता है।

***प्र.7.* वायु अपरदन से निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।**

उत्तर

वायु के अपरदन कार्य से बनी स्थलाकृतियाँ
(Land Forms Due to Erosional Work of Wind)

वायु का अपरदन कार्य शुष्क या मरुस्थलीय प्रदेशों में विशेष प्रभावी रहता है। ऐसा कार्य हवा की गति, हवा में बालू की मात्रा, बालू के कणों का आकार, चट्टानों की कठोरता एवं जलवायु की प्रकृति पर निर्भर करता है। वायु निम्न प्रकार से अपरदन कार्य करती है—

1. **अपघर्षण** (Abrasion)—पवन के साथ बालू या रेत के कण भी बहते हैं। यह कण सतह से रगड़ खाकर बहते हैं। इससे प्रभावित धरातल बराबर घिस-घिसकर कटते रहते हैं। इस प्रक्रिया में मुलायम चट्टानें शीघ्रता से घिसती हैं। बची हुई कठोर चट्टानें एवं उनकी छाया में सुरक्षित मुलायम चट्टानें मिलकर अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनाती हैं।
2. **सन्निघर्षण** (Attrition)—पवन के साथ अनेक आकार व प्रकार के बालू या रेत के कण बहते हैं। ये कण आपस में रगड़ खाकर गोल व छोटे होते जाते हैं। इस यांत्रिक क्रिया को सन्निघर्षण कहते हैं। मरुस्थलीय प्रदेश में बालू या रेत का जो विस्तार पाया जाता है, इसका मुख्य कारण ऐसी ही कटाव की क्रिया है।

3. **अपवाहन** (Deflation)—बहती हवा के मार्ग में जो भी रेत या बालू के कण आते हैं, हवा उन्हें उड़ाकर ले जाती है। हवा द्वारा बालू के कणों को उड़ाकर ले जाने की क्षमता उसकी गति व पहले से हवा में मौजूद बालू के कणों की मात्रा पर निर्भर करती है। वायु द्वारा ढीले कणों को अपने साथ उड़ाकर ले जाना ही अपवाहन है। पवन के अपरदन कार्य से मुख्यत: निम्न प्रकार की स्थलाकृतियाँ बनती हैं—

(i) **तिपहल शिलाखण्ड** (Dreikanter)—पत्थर के ये टुकड़े ढलानों पर विविध आकारों में एकत्रित होते हैं। इनके किनारे व कोने नुकीले होते हैं। यह तीन सतह वाले या चार नुकीले पहलू वाले होते हैं। पथरीले मरुस्थलों में प्रस्तर खण्डों पर अनेक दिशाओं से पवन के साथ प्रवाहित धूल कणों के निरन्तर प्रहार से वे घिसकर चिकने होने लगते हैं। ये सहारा मरुस्थल में अधिक पाए जाते हैं।

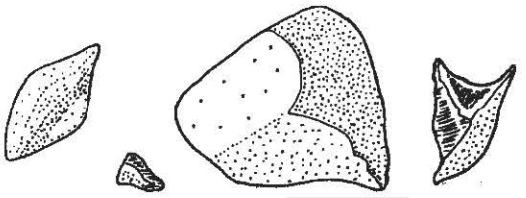

चित्र : तिपहल शिलाखण्ड (ड्राइकान्टर्स)

(ii) **गारा या छत्रक शिला** (Gara or Mushroom Rock)—मरुस्थल में विशेष संरचना वाली शैलों के अपरदन से छत्रक शिला की आकृति बनती है। जब लंबवत् रूप से कठोर शैलों के नीचे कोमल शैलें बिछी होती हैं, तब वायु के अपघर्षण से यह विशिष्ट आकृति उत्पन्न होती है। इसकी ऊपरी आकृति छत्रक जैसी होती है और निचला सिरा गर्दन जैसा संकरा होता है। सहारा में इन्हें गारा कहते हैं। भूमि से एक से दो मीटर की ऊँचाई तक सबसे अधिक बालू कण पवन में बहते रहते हैं। अत: यहाँ सबसे अधिक कटाव होता है। इससे अधिक ऊँचाई पर बालू के कण कम व महीन मिलते हैं। इसी भाँति धरातल के निकट बड़े कण रगड़ खा-खाकर बहते रहते हैं। इस कारण इनमें काटने की शक्ति कम रहती है। पवन द्वारा चट्टान के निचले भाग में अत्यधिक अपघर्षण द्वारा उसका आधार कटने लगता है, जबकि ऊपरी भाग अप्रभावित रहता है। कई दिशाओं से पवन चलने पर निचला भाग संकीर्ण हो जाता है एवं शिला की आकृति छत्रक जैसी हो जाती है। लम्बे समय बाद ऐसे छत्रक का निचला भाग या ग्रीवा खण्ड नष्ट भी हो सकता है। पश्चिमी मिश्र के श्वेत मरुस्थल (white desert) तथा इस्रायल के नेगेव में छत्रक शिला की श्रेष्ठ आकृति देखने को मिलती है।

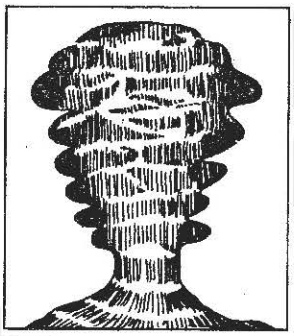

चित्र : छत्रक या गारा

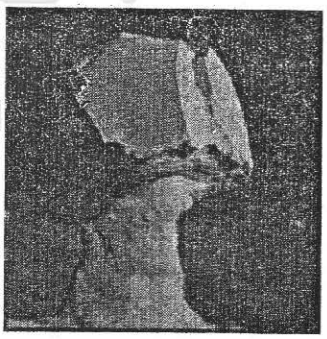

चित्र : मिश्र के श्वेत मरुस्थल की छत्रक शिला

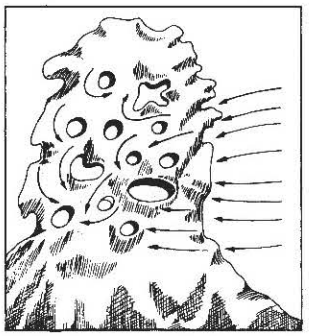

चित्र : जालीदार शिला

(iii) **जालीदार शिला** (Stone Lattice)—जिन उभरी हुई चट्टानों की संरचना में अन्तर पाया जाता है, उनमें मुलायम चट्टानी भाग शीघ्र घिसते जाते हैं और वहाँ गड्ढे पड़ने के पश्चात् जालीदार छिद्र बनते जाते हैं। कभी-कभी वर्षा होने पर यहाँ रासायनिक अपरदन होने से छेद बड़े होते जाते हैं। इसे अश्मिक जालक भी कहते हैं।

(iv) **भू-स्तम्भ** (Demoiselles)—शुष्क व अर्द्धशुष्क प्रदेश में कभी-कभी कोमल चट्टान पर कठोर परत फैली होती है। कालान्तर में भौतिक अपक्षय के प्रभाव से इसमें दरारें पड़ने से उसके नीचे की मुलायम मिट्टी हटती जाती है। इसमें कठोर परत से ढके भाग सुरक्षित रहते हैं, इस कारण वहाँ खम्भे या स्तम्भ जैसी आकृति बनती जाती है। जब भी ऊपरी चट्टान हट जाती या खण्डित हो जाती है, भू-स्तम्भ नष्ट होने लगते हैं।

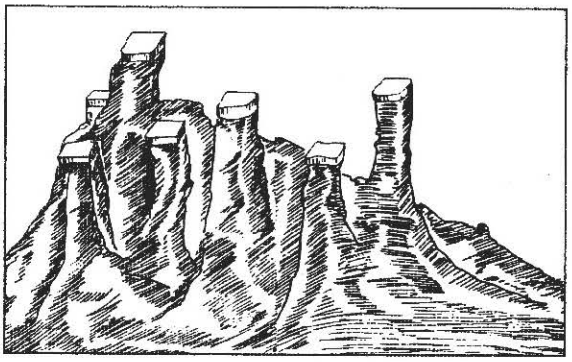

चित्र : भू-स्तम्भ

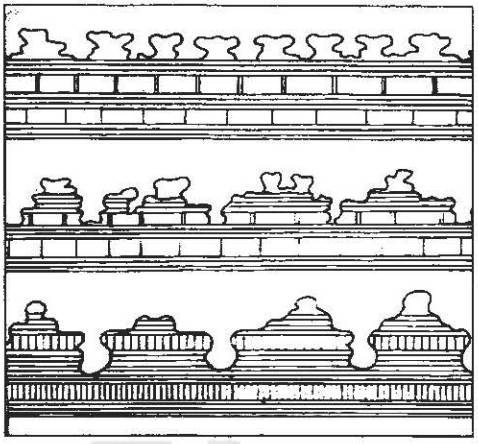

चित्र : ज्यूजेन का विकास

(v) **ज्यूगेन या ज्यूजेन** (Zeu-gen)—प्राय: परतदार चट्टानों में जब कठोर व मुलायम क्षैतिज संरचना एकान्तर क्रम पर होती है, तो कठोर चट्टानों में धीरे-धीरे सन्धि या जोड़ विकसित होने पर वे हवा की अपघर्षण क्रिया से धीरे-धीरे चौड़े होते जाते हैं। थोड़े समय पश्चात् नीचे की मुलायम चट्टान में तेजी से कटाव होने लगता है और वहाँ संकरी घाटी बनती जाती है। कोमल चट्टानों के स्तरों पर पड़ी कठोर चट्टानें दवात के ढक्कन जैसी आकृति में रह जाती हैं। सहारा मरुस्थल में यह आकृति विशेषत: पाए जाती है।

(vi) **यारडंग** (Yardang)—जहाँ ज्यूगेन में क्षैतिज संरचना होती है वहीं यारडंग में कठोर व मुलायम शैलों की लम्बवत् रचना होती है। इसमें मुलायम चट्टानें शीघ्र कटती जाती हैं, जबकि कठोर चट्टानों के मात्र ऊपरी भाग ही नुकीले बन पाते हैं। ऐसी आकृतियों को यारडंग कहते हैं। इनका विकास पवन की दिशा के समान्तर होता है। इनकी ऊँचाई 5-6 मीटर तथा चौडाई कई सौ मीटर तक होती है।

चित्र : यारडंग

(vii) **इन्सेलबर्ग** (Inselberg)—मरु प्रदेश में अपरदन की अन्तिम दशा में भी कुछ कठोर चट्टानी गुम्बद बचे रहते हैं। रेत के समुद्र में इन्हें द्वीप की भाँति देखा जा सकता है। इनमें चट्टानी संरचना सामान्यत: लम्बवत् होती है। ये प्राय: ग्रेनाइट व नीस चट्टानों से बने होते हैं। ऐसे इन्सेलबर्ग दक्षिणी अफ्रीका एवं सहारा में अधिक पाए जाते हैं। दक्षिणी अफ्रीका की श्री सिस्टर्स इन्सेलबर्ग का श्रेष्ठ उदाहरण है।

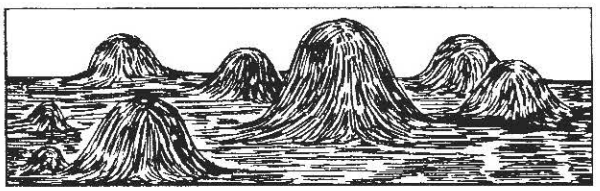

चित्र : इन्सेलबर्ग

(viii) **वात गर्त** (Blow Out)—रेतीले भागों में वायु के तेज प्रवाह एवं बवण्डर चलने पर रेत की विशाल राशि उड़कर चली जाने से वहाँ बड़े-बड़े गड्ढे या गर्त बन जाते हैं। मिस्र में अलकात्तारा (Al-Qattara) ऐसा ही विशाल गर्त हैं। कुछ गर्त तो समुद्र तल से नीचे तक गहरे हो जाते हैं।

हवा के कटाव की आखिरी सीमा या आधार तल (Base level) भूमिगत जल तल है। इसके पश्चात् वायु कटाव पर नियन्त्रण होने लगता है।

प्र.8. हिमानी अपरदन से बनी स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

हिमानी अपरदन से बनी स्थलाकृतियाँ
(Land Forms due to Glacial Erosion)

हिमानी की अपरदन क्रिया के द्वारा मुख्यत: निम्नांकित स्थलाकृतियाँ बनती हैं—

1. **'U' आकार की घाटी** ('U' Shaped Valley)—पहाड़ी भागों में नदियों द्वारा पूर्व में निर्मित घाटियों में जब हिम बहने लगती है तो वह घाटी में खरोंचकर एवं काट-छाँट कर उसे 'U' के आकार में बना देती है। इस घाटी के किनारों का ढाल विशेष खड़ा और पैंदे का ढाल समतलप्राय होता है। इसका तल सपाट तथा चौरस होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की मोसोमाइट घाटी 'U' आकार की घाटी का श्रेष्ठ उदाहरण है।

चित्र : 'U' आकार की घाटी

2. **लटकती घाटी** (Hanging Valley)—हिमानी क्षेत्रों में लटकती घाटी की बनावट का विशेष महत्व है। प्राय: सहायक या छोटी हिमानी की घाटी ऊँची रहती है। दूसरी ओर मुख्य हिमानी की घाटी भारी मात्रा में बढ़ते दबाव एवं अधिक मोरेन के सम्मिलित प्रभाव से निरन्तर अधिक अपरदित होती रहती है। वैसे हिम क्षेत्रों में सभी छोटी-बड़ी हिमानियाँ ऊपरी सतह पर बर्फ से ढकी रहती हैं, लेकिन जब वहाँ से बर्फ पिघलती है तब ही पता चल पाता है कि अधिक कटाव से मुख्य हिमानी की घाटी सहायक हिमानी से अधिक गहरी हो गई है और वहाँ मुख्य तथा सहायक हिमानियों में अन्तर रहने से ही लटकती घाटी बन जाती है। ऐसी लटकती घाटियाँ आल्पस एवं रॉकी पर्वत प्रदेशों में देखी जा सकती हैं। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि मुख्य हिमानी घाटी पूर्व नदी निर्मित होती है जबकि सहायक हिमानी घाटी का निर्माण अधिक ऊँचाई पर बहने वाली हिमानी से होता है।
3. **हिमजगह्वर या सर्क** (Cirque of Corrie)—घाटी हिमानी का जिस स्थान से उद्‌गम या उत्पत्ति होती है वहाँ पर विशेष प्रकार का गड्ढा पाया जाता है। इसे पश्चिमी देशों के ओपेरा कक्ष के एम्पीथियेटर जैसी आकृति भी कह सकते हैं। इसकी तुलना विशाल या दैत्याकार कुर्सी से की जाती है। ये गड्डे निरन्तर बर्फ व बर्फ पिघलने से मिले पानी की सम्मिलित क्रिया से गहरे होते जाते हैं। ऐसे विशाल कुर्सीनुमा गड्ढों या सर्क से बर्फ आगे की ओर घाटी हिमानी के रूप में बहती है। साथ ही अपनी पीछे की दीवारों को अपरदन व भौतिक अपक्षय द्वारा दबाव व कटाव से बड़ा करती रहती है। इनका वास्तविक स्वरूप हिम के पिघलने पर ही देखा जा सकता है। **जॉनसन** के अनुसार सर्क की उत्पत्ति मुख्यत: बर्गश्रुण्ड के क्रमश: विस्तार के कारण होती है।
4. **कंघीनुमा पहाड़ी** (Combridge)—जब किसी पर्वत श्रेणी के विपरीत ढालों पर बने सर्क पीछे की ओर बढ़ते जाते हैं तो उनकी दीवारें आपस में मिलती जाती हैं। इससे तेज धार वाली संकरी त्रिकोण जैसी आकृति बन जाती है। प्राय: गिरि श्रृंग या हॉर्न के पश्चात् भी आगे अपरदन जारी रहने पर ऐसी आकृति बन जाती है। इसमें चोटी या पहाड़ी का सिरा कंघी के दाँते की भाँति नुकीला होता है। अत: इसे कंघीनुमा पहाड़ी या अरेटे (Arete) कहते हैं।
5. **हॉर्न या गिरि श्रृंग** (Horn)—जब पर्वतीय भागों में चारों ओर समान ऊँचाई पर अनेक सर्क बन जाते हैं तो वे अपने शीर्ष की दीवार का तेजी से कटाव करते जाते हैं। ऐसे में वहाँ लम्बे समय बाद मध्य में पहाड़ी के स्थान पर एक सींग जैसी ऊँची नुकीली आकृति बची रहती है, जिसे हॉर्न या गिरि श्रृंग कहते हैं। इसे पिरामिड शिखर (Pyramid Peak) भी कहते हैं। ऐसी ही एक प्रसिद्ध आकृति स्विट्जरलैण्ड में आल्पस का मेटरहॉर्न पर्वत शिखर है।
6. **गोल सिरे वाली पहाड़ी** (Round-toped Hills)—घाटी हिमानी का प्रदेश पहाड़ी होता है। वहाँ पर निरन्तर बहते बर्फ की धीमी क्रियाओं से पहाड़ियों के ऊँचे भाग धीरे-धीरे गोल आकार के बनते जाते हैं। उनके नुकीले सिरे बर्फ के फिसलने से समाप्त होते जाते हैं। प्राय: कई सर्क व हिम घाटियों के बीच के पहाड़ी व ऊँचे भाग गोलाकार पहाड़ी जैसे बनते जाते हैं।

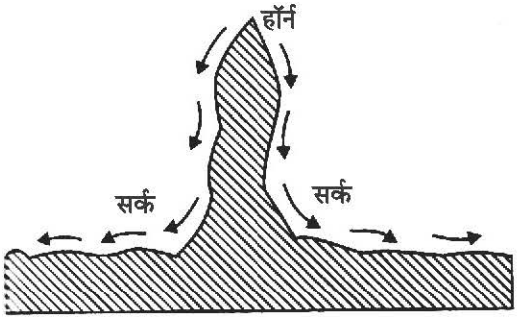

चित्र : सर्क एवं गिरि शृंग

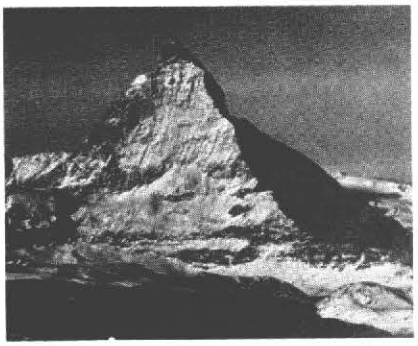

चित्र : मेटरहॉर्न

7. **टार्न झील** (Tarn Lake)—सर्क का नीचे का भाग फिसलते बर्फ के प्रभाव से गड्ढे जैसा बन जाता है। इसी भाँति हिमानी के पैंदे में जब बहते बर्फ के साथ मोरेन जकड़े रहते हैं तब वह पैंदे में मुलायम चट्टानों को काट-छाँट कर वहाँ गड्ढे बना देते हैं। ऐसे गड्ढों में बर्फ के हट जाने के बाद पानी भर जाता है। इन्हें ही टार्न झील कहते हैं। जब यह गड्ढे कठोर चट्टानी भाग पर पड़ते हैं, तो इन्हें शैल बेसिन (Rock basin) कहते हैं, तथा दैत्य सोपानों के पास पड़ते हैं, तो इन्हें 'पेटरनास्टर झील' कहते हैं।

8. **हिम सोपान या दैत्याकार सोपान** (Glacial or Giant Stairs)—हिमानी की लम्बाकार घाटी प्राय: सीधी होती है, उसमें बहते हुए पानी की तरह विसर्प या गहरे घुमावदार मोड़ नहीं पाए जाते हैं। अत: ऐसी घाटी में काफी दूर-दूर तक तेज ढाल वाला या सीढ़ीनुमा भाग दिखायी देता है। ये सीढ़ीनुमा भाग काफी ऊँचे होते हैं। इन्हें ही दैत्याकार सोपान या सीढ़ी कहते हैं। अपरदन के कारण जब हिम घाटी की मुलायम चट्टानें कटती जाती हैं, तब कठोर आग्नेय चट्टानें आसानी से घिसती नहीं हैं। इसी कारण बीच-बीच में ऊँची सीढ़ीनुमा हिम सोपान या दैत्याकार सोपान बन जाते हैं। इनके निर्माण में भ्रंशन क्रिया से बने कगारों का भी योग होता है।

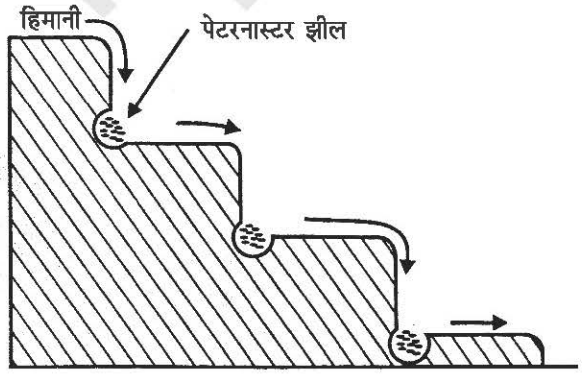

चित्र : हिम सोपान एवं पेटरनास्टर झील

9. **मेष शिला** (Sheep Rock)—- बहती बर्फ अपनी घाटी की उभरी हुई कठोर शिला की ओर रगड़ खाती हुई ऊँचे भाग की ओर बढ़ती जाती है। प्राय: महाद्वीपीय हिमानी के मार्ग में ऐसी आकृति अधिक बनती है। बहते बर्फ की दिशा में बराबर रगड़ खाते रहने से वह हिस्सा उन्नतोदर बनता जाता है। किन्तु बर्फ आगे की ओर उतरते समय अपने घिसाव या घर्षण का प्रभाव नहीं दिखा पाती। अत: विमुख ढाल ऊबड़-खाबड़ बना रहता है। इसी कारण ऐसे कठोर चट्टानी टीले दूर से बैठी हुई भेड़ (मेष) जैसे दिखायी देते हैं। ऐसी चट्टान को 'रोश मूटोने' (Roches moutonne) भी कहा गया है। फ्रांसीसी भाषा में इसका अर्थ होता है 'भेड़ के आकार की चट्टान।'

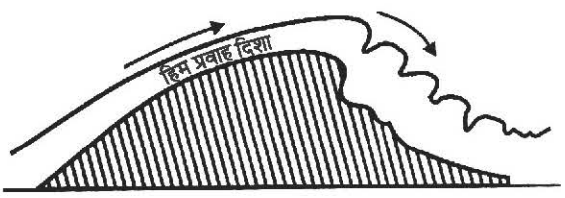

चित्र : मेष शिला

10. **कॉल या छोटा दर्रा** (Col)—जब सर्क निरन्तर पीछे हटते रहते हैं, तो वहाँ की दीवारें आपस में मिल जाती हैं। अत: वहाँ कंघीनुमा नुकीली पहाड़ी बनने के पश्चात् बर्फीले कटाव से अरेटे (तीक्ष्ण कटक) जैसी आकृति बनती जाती है। यहाँ धीरे-धीरे बराबर बर्फ के फिसलने से मध्य की दीवार समाप्त होती जाती है। ऐसे भाग के बीच गड्ढा या मार्ग बन जाता है

जो कि दो पहाड़ों के बीच छोटे दर्रे जैसा लगता है। इसे ही 'कॉल या छोटा दर्रा' कहते हैं। आल्पस एवं कुनलुन पहाड़ों में ऐसे कॉल अधिक पाए जाते हैं।

11. **शृंग व पुच्छ** (Crag and Tail)—जब हिमानी के प्रवाह मार्ग में कोई बहुत कठोर चट्टान आ जाती है, तो वह उसे अपरदित नहीं कर सकती है। किन्तु इसके आगे अभिमुख ढाल के निकट स्थित कोमल चट्टानों को वह बहुत शीघ्रता से काट देती है तथा शिलाचूर्ण को आगे जमा कर देती है।

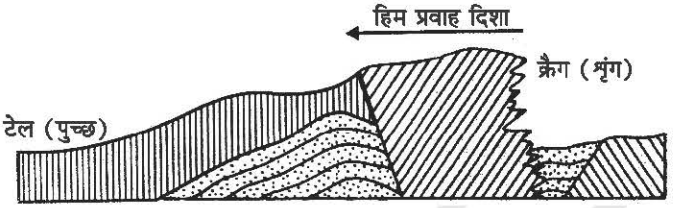

चित्र : शृंग-पुच्छ आकृति

इस प्रकार हिमानी के सामने वाला ढाल तो तीव्र और ऊबड़-खाबड़ होता है एवं विमुख ढाल मन्द होता है। इसकी लम्बी पूँछ के रूप में जमाव हो जाता है। अत: इस आकृति को शृंग व पुच्छ कहते हैं।

12. **नूनाटक** (Nunatak)—प्राय: बर्फीले प्रदेशों में कुछ पहाड़ी शिखर या कठोर चट्टानी टीले बर्फ से अधिक ऊँचाई पर खड़े रहते हैं। इन पर बर्फ ढकी नहीं रहती। ऐसी पहाड़ियाँ ग्रीनलैण्ड एवं उत्तरी ध्रुव के निकट के द्वीपों पर पायी जाती हैं। इसके किनारे बर्फ के घर्षण, तुषारपात (Snowfall) तथा अपक्षय या मौसमी क्रिया से कटते रहते हैं और ऐसी पहाड़ियाँ टूट-टूट कर नष्ट होती जाती हैं।

चित्र : दक्षिणी नार्वे तट पर फियोर्ड

13. **फियोर्ड तट** (Fiord Coast)—फियोर्ड वास्तव में पूर्वकालीन घाटी हिमानियों द्वारा बनाई गई 'U' आकार की जलमग्न घाटियाँ हैं। प्लिस्टोसीन हिमयुग में सागर तल नीचे था, तब यहाँ की घाटी हिमानी बर्फ के अधिक विस्तार के कारण सागर तट तक उतर आई थी। बाद में तापमान बढ़ने, बर्फ पिघलने एवं सागर तट के ऊपर उठने से ऐसी घाटियाँ पानी में डूबकर तट का भाग बन गईं। इन्हें ही 'फियोर्ड तट' कहते हैं। ऐसे तट लम्बे, संकरे एवं खाई जैसे होते हैं। इनके किनारे खड़े ढाल लिए होते हैं। मुख्यत: नॉर्वे, चिली, न्यूजीलैण्ड, कनाडा, ग्रीनलैण्ड व अलास्का में फियोर्ड पाए जाते हैं।

14. **टिल प्लेन या अपोढ़** (Till Plains)—यह हिमानी की अन्तिम अवस्था के कटाव हैं, अर्थात् महाद्वीपीय हिमानी जब पीछे खिसकती है तो नीचे उभरा भाग एवं असमतल धरातल सतह पर कटता-छँटता जाता है। यह भाग अपक्षय के प्रभाव से ढीला भी हो जाता है। जब दुबारा महाद्वीपीय हिमानी आगे बढ़ती है तो सारे प्रदेश के मोरेन हिमानी द्वारा बहाए जाते हैं। ऐसा सम्पूर्ण भाग महाद्वीपीय हिमानी की स्थलाकृति को समतलप्राय बना देता है। लेब्रोडोर का पठार व यूरोपीय रूस में ऐसे ही टिल मैदान पाए जाते हैं।

प्र.9. हिमानी के निक्षेपण कार्य से बनी स्थलाकृतियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर

हिमानी के निक्षेपण कार्य से बनी स्थलाकृतियाँ
(Land Forms due to Depositional Work of Glaciers)

जब तापमान बढ़ने से हिमानी की बर्फ पिघलने लग जाती है, तो हिमानी का वहीं पर अन्तिम भाग प्रारम्भ हो जाता है। हिमानी का जमाव कार्य नदी से पूरी तरह अलग होता है। हिमानी का निक्षेपण कार्य वास्तव में बर्फ एवं पानी की सम्मिलित क्रिया एवं हिमानी के नीचे कहीं-कहीं नसों की भाँति बहने वाले बर्फीले पानी के प्रभाव से पूरा हो पाता है। हिमानी के जमावों से मुख्यत: निम्न स्थलाकृतियाँ बनती हैं—

1. **विभिन्न प्रकार के मोरेन या हिमोढ़**—हिमानी के जमाव से बनने वाली आकृतियों में हिमोढ़ सबसे महत्वपूर्ण है। हिमानी के पीछे हटने पर ही हिमोढ दिखाई देते हैं। हिमोढ़ों को उनकी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं—

पार्श्ववर्ती हिमोढ़ (Lateral Morains)— हिमानी घाटी के दोनों किनारों के निकट पार्श्ववर्ती हिमोढ़ मिलते हैं। इनमें बिना किसी छाँट के विशाल चट्टानें, चट्टानी टुकड़े, कंकड़, बालू आदि सभी एक साथ पाए जा सकते हैं। प्राय: ये हिमोढ़ एक सीधी रेखा के रूप में फैले होते हैं। इनके ढाल खड़े होते हैं, जो कि सामान्यत: 100 मीटर तक ऊँचे होते हैं।

मध्यवर्ती हिमोढ़ (Medial Morains)—जब दो हिमानियाँ आपस में मिलती हैं तो दोनों के भीतर की ओर के पार्श्विक हिमोढ़ आपस में मिलकर हिमानी के बीच में मध्यस्थ हिमोढ़ की रचना करते हैं। ऐसे जमाव बड़े हिमानी क्षेत्र में पाए जाते हैं।

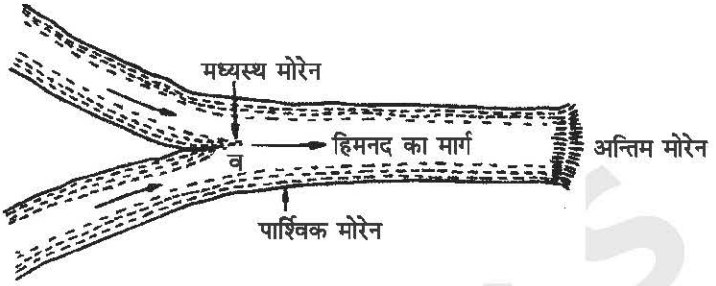

चित्र : हिमोढ़ (मोरेन) के प्रकार

अन्तिम हिमोढ़ (Terminal Morains)—जब घाटी हिमानी नीचे उतरती है तो वहाँ तापमान अधिक होने से बर्फ पिघलने लगती है। ऐसी स्थिति में वहाँ पर अर्द्धचन्द्राकार या जीभ के आकार में हिमोढ़ जमा होते जाते हैं। यहाँ पर बर्फ एवं पानी दोनों की क्रियाएँ होती रहती हैं। यह हिमोढ प्राय: प्राकृतिक बाँध जैसा दिखाई देता है। इन हिमोढ़ों को प्रतिसारी हिमोढ़ भी कहते हैं।

तलस्थ हिमोढ़ (Ground Morains)—जो हिमोढ़ बर्फ में फँसकर हिमानी की तली में बहते रहते हैं वह हिमानी के पिघलने के पश्चात् घाटी के पैंदे में चारों ओर ढेर की भाँति जमा हो जाते हैं। ऐसे हिमोढ पूर्व के पार्श्विक एवं मध्यस्थ हिमोढ़ के साथ मिल जाते हैं। बाद में नदी की बहाव की क्रिया से इनका स्वरूप बदलता जाता है और यह कहीं-कहीं ही बिखरे रूप में पाए जाते हैं।

2. **ड्रमलिन या हिम नदोढ़** (Drumlines)—अन्तिम हिमोढ़ से पूर्व बर्फ के साथ लाए गए कंकड़, पत्थर बर्फीले पानी की हिलोरों एवं स्थानीय बहाव से रोड़ों के ढेर के रूप में एकत्रित होते जाते हैं। यह दूर से अण्डे या उल्टी नाव जैसे दिखाई देते हैं। इनका एक ओर का आगे का ढाल तेज और पीछे का ढाल धीमा होता है, इनका आकार व विस्तार एक-सा नहीं होता है। यह एक साथ प्राय: सैकड़ों की संख्या में सैकड़ों वर्ग किमी क्षेत्र में फैले रहते हैं। इन प्रदेशों का सामान्य धरातल दलदली होता है। इसी कारण ऐसे क्षेत्र को 'अण्डों की टोकरी का धरातल' भी कहते हैं। इनका निर्माण अन्तिम हिमोढ़ के आगे-पीछे बनने व मिटते रहते से, अर्थात् हिमानी के आखिरी भाग के हिम प्राप्ति व तापमान के घटने-बढ़ने से होता है। चूँकि इसके निर्माण में पिघली बर्फ से प्राप्त पानी का भी विशेष योगदान रहता है, अत: इसे हिम + नदी धारा के जमाव (हिम नदोढ़) कहते हैं। ड्रमलिन मेष शिला से कुछ मिलते हैं, किन्तु इनमें मूलत: अपरदन व निक्षेप की भिन्नता होती है। ड्रमलिन हिमानी के निक्षेपण से बनते हैं तो मेष शिला अपरदन से बनती है। ड्रमलिन असंगठित पदार्थों से बनते हैं, तो मेष शिला कठोर शैल से निर्मित होती है। ढाल की दिशा भी दोनों में विपरीत होती है।

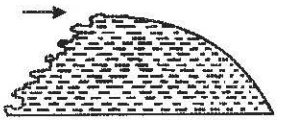

चित्र : ड्रमलिन

3. **सुदूर फैले या विस्थापित शिलाखण्ड** (Erratic Blocks)—कभी-कभी महाद्वीपीय हिमानी या बड़ी घाटी हिमानी अपने साथ विशाल शिलाखण्ड मैदानी भाग तक बर्फ के साथ खींचकर ले आती है। ऐसे विशाल खण्ड (ब्लॉक) मध्य व उत्तरी यूरोप एवं महान झीलों (उत्तरी अमेरिका) के उत्तरी भागों में फैले पाए जाते हैं। चूँकि यह अपने जन्म स्थान से सैकड़ों किलोमीटर दूर तक बहाए जाते हैं, अत: इन्हें 'विस्थापित शिलाखण्ड' भी कहते हैं। ये शिलाखण्ड आस-पास की चट्टानों से भिन्न होते हैं।
4. **विषम स्थिति के हिमोढ़** (Pearched Block Morains)—कभी-कभी हिमानी की घाटी में हिम समाप्त होने के पश्चात् घाटी के किनारों एवं ढालों पर विचित्र अवस्था में एवं अलग-अलग आकृतियों में हिमोढ़ व शिलाखण्ड जमा होते रहते हैं। कभी यह बड़े ढेर की तरह, कभी घोंसले की भाँति, तो कभी बड़े उभार या छोटी-छोटी ढेरियों में फुन्सी पत्थर (Pocking Stones) की भाँति, जमा होते जाते हैं। लेप्लेण्ड प्रदेश (उत्तरी यूरोप) एवं कनाडा के लेब्रोडोर प्रदेश में ऐसे जमाव पाए जाते हैं।

हिम व बहते जल के जमाव (Fluvio-Glacial Deposits)—अन्तिम हिमोढ़ के निकट निरन्तर बर्फ पिघलते रहने से हिम जल बहने लगता है। इसी भाँति घाटी हिमानी एवं महाद्वीपीय हिमानी के निचले तल के निकट दबाव व गर्मी से जल

की छोटी-छोटी धाराएँ या नालियाँ बहती रहती हैं। इसी कारण वहाँ विशेष प्रकार की स्थलाकृतियाँ बनती हैं। इनमें से महत्वपूर्ण निम्न हैं—

(i) **एस्कर या मिट्टी के मार्ग** (Esker)—हिमानी की तली में बर्फीले जल के साथ बारीक अवसाद भी धीरे-धीरे बहते व जमते जाते हैं। हिमानी के समाप्त होने के साथ-साथ वहाँ पर उठे हुए मिट्टी के मार्ग (मृदा कटक) की भाँति अवसाद जमा होते जाते हैं। इनका मार्ग प्राय: लहरदार होता है। इनकी ऊँचाई धरातल से 30 से 100 मीटर तक एवं लम्बाई 15 से 25 किमी के आसपास रहती है। अत: यह दलदली प्रदेश में व्यवस्थित या सुचारु मार्गों के लिए विशेष उपयोगी रहे हैं। नार्वे, फिनलैण्ड, कनाडा आदि देशों में ऐसे एस्कर अधिक पाए जाते हैं।

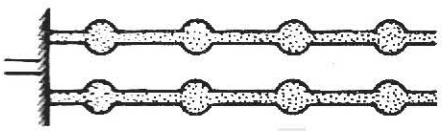

चित्र : एस्कर या मिट्टी के मार्ग

(ii) **केम** (Kame)—यह एस्कर के मुँह पर बना एक प्रकार का विशेष टीले जैसा जमाव होता है। इसकी स्थिति अन्तिम हिमोढ़ के क्षेत्र में होती है, किन्तु ये अन्तिम हिमोढ़ से भिन्न होते हैं। जहाँ मोरेन में सूक्ष्म व बड़े पदार्थ मिले रहते हैं, वहीं केम का निर्माण मुख्यत: सूक्ष्म रेत से होता है। ऐसे केम जब स्वतन्त्र या अलग पाए जाएँ तो उन्हें एकाकी केम (lone came) कहते हैं। बड़ी हिमानी के नीचे कई एस्कर होते हैं, अत: उनके मुँह पर बने अनेक केम आपस में मिलते जाते हैं। ऐसे एक साथ मिले केम के समूह को 'गुथे हुए केम' (Beaded Kame) कहते हैं। यह कंकड़, पत्थर एवं मिट्टी समूह के प्रभाव से बने होने से अधिक संगठित होते हैं।

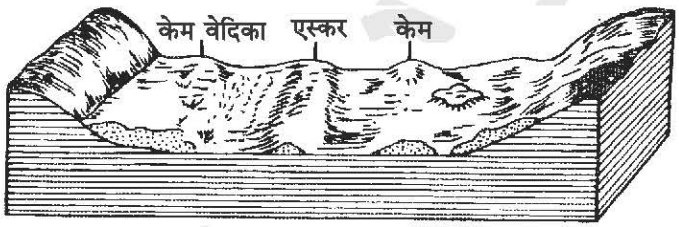

चित्र : एस्कर केम, आदि के जमाव

(iii) **केतलीनुमा जमाव** (Glacial Kettle)—अन्तिम हिमोढ़ क्षेत्र में जमे हिमोढ व अन्य विशेष जमावों के बीच प्राकृतिक रूप से छोटे-छोटे गड्ढे प्राय: शंकु की तरह के होते हैं। इनमें बड़े-बड़े बर्फ के टुकड़े होते हैं जो कि दिन में गर्मी पाकर या हिमानी के पीछे हटने पर पानी के गड्ढों के रूप में बन जाते हैं। इन्हें ही केतलीनुमा जमाव या गड्ढे कहते हैं। कई बार जब ऐसे गड्ढे बड़े होते हैं तो उनमें अवसाद व मोरेन जमा होते जाते हैं। ऐसे विशेष जमाव को हमोक (Hummock) कहते हैं।

(vi) **हिमानी धौत मैदान** (Outwash Plain)—जहाँ अन्तिम हिमोढ़ के पश्चात् पानी की धाराएँ बहना प्रारम्भ करती हैं, वहीं से धीरे-धीरे सभी प्रकार के हिमोढ़ बहते जल में आकार के अनुसार व्यवस्थित रूप में जमा होने लगते हैं। अत: वहाँ समतलप्राय छोटे-छोटे मैदानी क्षेत्र बनते हैं। इसी कारण इन्हें हिमानी के अवक्षेप (outwash) मैदान कहते हैं। इसका ढाल धीमा होता है एवं ढालू चबूतरे जैसी आकृति हिमानी की अन्तिम सीमा से बाहर की ओर बनती है। यहाँ मृत्तिका, बालू और बजरी हिमानी से बहने वाली धाराओं द्वारा निरंतर निक्षेपित की जाती है।

प्र.10. सागरीय लहरों में अपरदन से निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सागर जल के अपरदन से बनी तटीय स्थलाकृतियाँ
(Land Forms made from Erosion of Oceanic Water)

1. **तटीय भृगु, लटकते भृगु** (Coastal Cliff, Overhanging Cliff)—लहरों द्वारा तटीय भागों में चट्टानी भागों पर निरन्तर प्रहार एवं कटाव होता रहता है। कठोर चट्टानों की अपेक्षा कोमल व लम्बवत् स्तरों वाली चट्टानें इससे अधिक प्रभावित होती हैं। लहरों द्वारा लगातार आघात के कारण चट्टानों का आधार धीरे-धीरे कटने लगता है तथा वहाँ बड़े खाँचे या खड्ढेनुमा रचना बन जाती है। खाँचे का अधिक विस्तार होने पर लटकता भृगु बन जाता है। कालान्तर में यह आगे बढ़ा हुआ लटकता भाग अपने ही भार से टूटकर गिर जाता है। इससे खड़े ढाल वाले भृगु की रचना होती है।
समुद्र तट पर भृगु का सही आकार चट्टानों की संरचना, उनकी प्रकृति, शैल स्तर, सन्धि, भ्रंश, ऋतु अपक्षय की तीव्रता आदि बातों पर निर्भर करता है। पश्चिमी तट पर केरल, गोवा व दीव के अनेक तटीय भृग देखे जा सकते हैं।

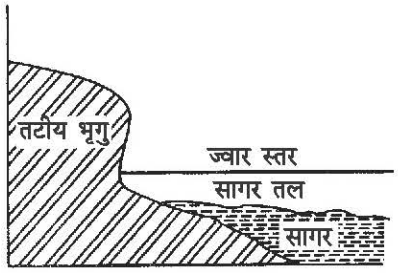

चित्र : तटीय भृगु

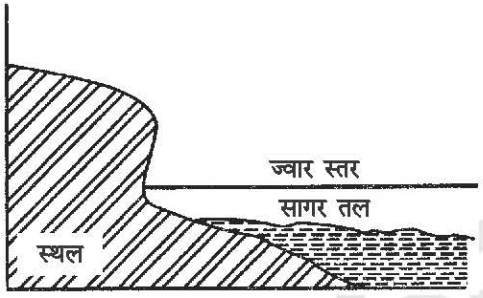

चित्र : लटकते भृगु

2. **समुद्रतटीय गुफाएँ** (Sea Caves)—जब किसी कठोर तटीय कगार के निचले भाग में कोई कोमल चट्टान या सन्धि निर्मित कमजोर स्थल होता है तो वायु एवं सागरीय लहरों के निरन्तर प्रहार से वह स्थान खोखला हो जाता है। लहरों के थपेड़ों से वायु के बार-बार फैलने व सिकुड़ने से खोखला गड्ढा लगातार गहरा होता जाता है और कालान्तर में गुफा का आकार ग्रहण कर लेता है।

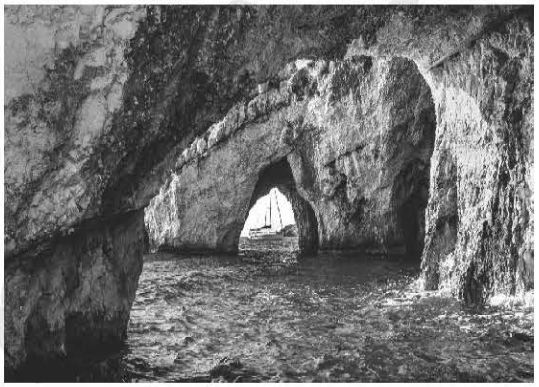

चित्र : होपवेल रॉक, कनाडा (प्राकृतिक मेहराब एवं स्तम्भ)

3. **वातछिद्र** (Blow Hole)—समुद्री गुफाओं में लहरों के थपेड़ों से पानी भरने पर उनके भीतर की वायु बहुत संकुचित होकर बाहर निकलने का प्रयास करती है। दबाव अधिक होने पर वायु कभी-कभी गुफा की छत के कमजोर भाग को तोड़कर बाहर निकल जाती है। इससे छत पर छिद्र बन जाता है, इसे वातछिद्र कहते हैं। ज्वार के समय तीव्र प्रवाह से आती लहरों द्वारा गुफा में धकेली गई वायु सीटी की आवाज के साथ पानी के फव्वारे के रूप में बाहर निकलती है। ऐसे दृश्य इंग्लैण्ड के व्हाइट द्वीप के निकट देखे जाते हैं।

4. **समुद्री मेहराब** (Sea Arch)—जब किसी तटवर्ती भाग में कोई चट्टान समुद्र के भीतर तक फैली हुई हो तथा उसके मध्य में कोई कोमल या कमजोर अंश हो तो लहरों के लगातार प्रहार से वह निर्बल अंश कट जाने से वहाँ आर-पार छिद्र बन जाता है। कालान्तर में इस छिद्र के चौड़ा होने से एक विशाल द्वार की रचना होती है, जिसे समुद्री या प्राकृतिक मेहराब कहते हैं। इंग्लैण्ड के डंकन्सबी के बलुआ पत्थरों में ऐसे मेहराब देखे जा सकते हैं। कनाडा में फण्डी की खाड़ी में होपवेल रॉक, समुद्री मेहराब व स्तम्भ का श्रेष्ठ उदाहरण है।

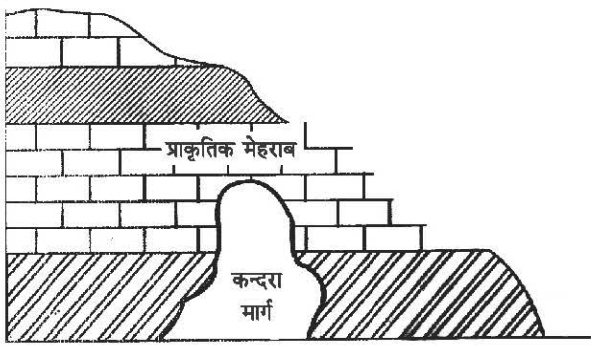

चित्र : कन्दरा और प्राकृतिक मेहराब

5. **खाड़ी तथा कगार** (Bays and Promontaries)— जब किसी तटीय भाग में कोमल तथा कठोर चट्टानों के स्तर लम्बवत् रूप में साथ-साथ पाए जाते हैं तो लहरों द्वारा कोमल चट्टानों के शीघ्र अपरदन से कठोर चट्टानों के स्तर कगारों के रूप में समुद्र के आगे निकले हुए शेष रह जाते हैं। इस प्रकार कोमल चट्टानों के स्थान पर खाड़ियाँ तथा कठोर चट्टानों के कगार बन जाते हैं।

6. **ज्यो या छोटी खाड़ियाँ** (Creek or Geo)—जब सागर तट की विशाल गुफा की छत नष्ट हो जाती है एवं वहाँ का सागरीय क्षेत्र स्थानीय सुरक्षित खाड़ी की भाँति विकसित होने लगता है, तो इसे ज्यो या छोटी खाड़ी कहते हैं। यह मछुआरों के लिए विशेष सुरक्षित स्थल होता है। स्कॉटलैण्ड व नार्वे तट पर ऐसी खाड़ियाँ पाई जाती हैं।

7. **तटीय स्तम्भ** (Coastal Stackes)—जब कन्दराओं की छत निरन्तर वायु एवं लहरों के जल के दबाव से विस्तृत होती जाती है तो कालान्तर में टूट जाती है। इसी प्रकार तटीय मेहराबों की ऊपरी छत भी टूटती जाती है। इनके अवशेष के रूप में तटीय भागों में स्तम्भ या स्टैक खड़े रह जाते हैं। ऐसे स्तम्भों की मोटाई, ऊँचाई व स्थायित्व चट्टानों की कठोरता या परतों के जमाव क्रम पर निर्भर करती है।
8. **अण्डाकार कटाव या लघु निवेशिका** (Cove)—जब कोमल व कठोर चट्टानों की स्थिति किसी समुद्र तट के समान्तर होती है तो लहरें कठोर चट्टानों की सन्धियों के मार्ग से भीतर प्रविष्ट होकर पीछे की कोमल चट्टानों में शीघ्र अपरदन से खोखले स्थान बना देती हैं। इनका आकार अण्डों के समान होता है।
9. **अपतटीय सोपान या सीढ़ियाँ** (Off-Shore Benches)—कई बार अपतटीय छिछले सागर में एकान्तर क्रम पर कठोर व मुलायम शैल रचना वाला भू-भाग मिलता है। कालान्तर में यहाँ ढाल स्वरूप एवं चट्टानी संरचना के अनुसार लहरों द्वारा सीढीनमा कटाव की रचना होती जाती है। कनाडा के पूर्वी लेब्रोडोर एवं उत्तर-पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका के तट के निकट ऐसी सीढ़ियाँ मिलती हैं।
10. **लहरों के कटाव से बना चबूतरा या सागर बीच** (Wave cut Platform or Hard Surface Beach)—तट के निकट जहाँ पर दीर्घ ज्वार एवं तूफानी लहरों का निरन्तर प्रभाव रहता है, वहाँ की संरचना यदि कठोर है तो धीरे-धीरे उभरे भाग घिसते जाएँगे एवं वहाँ पर लहरदार या खुरदरा व ढालू चबूतरा बनता जाएगा। यहाँ पर निचले भागों में बालू भी जमा होती जाती है। ऐसे चबूतरे का विस्तार भृगु व गुफा के नष्ट होने व अवशिष्ट स्तम्भ के ध्वस्त होने के पश्चात् भी विकसित हो जाता है। यह भाग लघु ज्वार के समय थोड़े काल के लिए खुला रहने से सीप, घोंघा, शंख आदि इकट्ठा करने वालों के लिए भी आदर्श क्षेत्र माना जाता है।

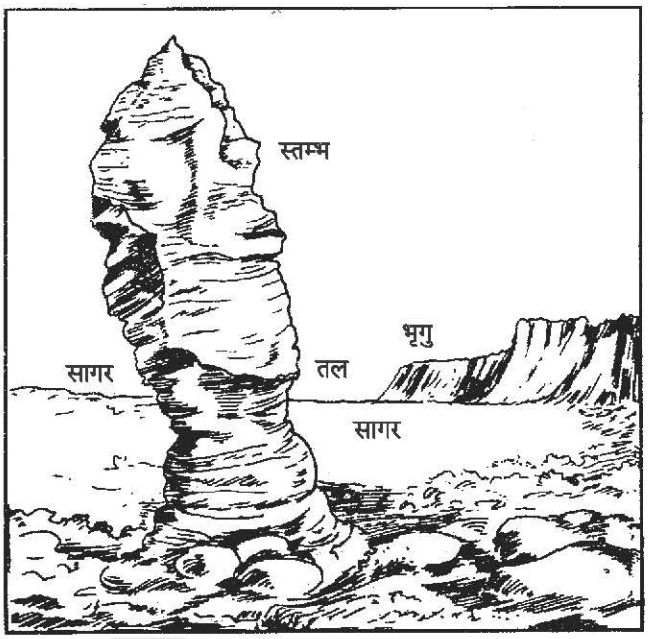

चित्र : सागर तटीय स्तम्भ या स्टैक

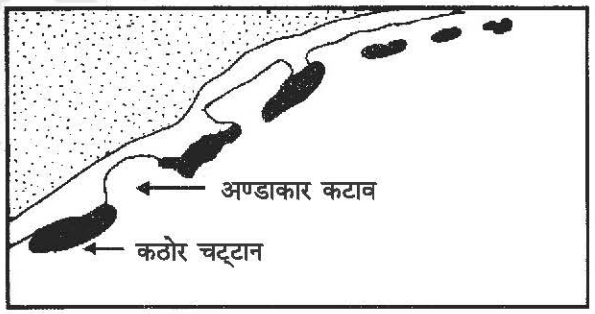

चित्र : अण्डाकार कटान (लघु निवेशिका)

प्र.11. सागरीय लहरों के निक्षेपण कार्य से निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

लहरों का निक्षेपण कार्य
(Depositional Work of Sea Waves)

लहरें अपनी अपरदन क्रिया से अनेक आकार, प्रकार व रूपों के भौतिक व रासायनिक पदार्थ एकत्रित करती रहती हैं। तटीय भागों में लहरों द्वारा अपरदित पदार्थों का जमाव एक क्रम से होता है। धाराएँ व ज्वार भी इसमें सहयोग करते हैं। नदियों, भूमिगत जल एवं पवनों से तथा ठण्डे भागों में हिमानी से प्राप्त विविध प्रकार के अवसाद भी सागर जल में मिलते रहते हैं। महासागर में क्रियाशील लहरें इन सभी पदार्थों का निक्षेप कर अग्र स्थलाकृतियों का निर्माण करती हैं—

1. **बीच या पुलिन** (Beaches)—तट के सहारे निरन्तर बालू एवं महीन पदार्थों के जमा होने से तट के समीप का क्षेत्र उथला हो जाता है। समुद्र की सीमा से लगी वह पट्टी जो स्थल से सागर की ओर ढालू होती है तथा उच्च एवं निम्न ज्वार सीमाओं के बीच स्थित होती है, उसे पुलिन कहते हैं। इसकी रचना लहरों द्वारा निक्षेपित बालू, कंकड़ व पत्थर से होती है। ऐसी बीच पर कुछ सेमी से कुछ मीटर तक की मोटाई में बालू जमा हो जाती है जो कि किसी भी आकृति की हो सकती है। पुलिन समुद्र तट का एक अस्थायी रूप है। पर्यटन व भ्रमण के लिए इसका बहुत महत्व है। गोवा, केरल, अण्डमान निकोबार, लक्षदीव, कर्नाटक, महाराष्ट्र, तमिलनाडु व उड़ीसा में अनेक सुन्दर बीच हैं।
2. **तटीय बालुका श्रेणी** (Beach Ridge)—जब लहरों में बालू की मात्रा अधिक होती है, तो तट के आगे के भाग या किनारे पर बीच के आगे श्रेणी या उभार की भाँति जमाव होते रहते हैं। ऐसे उभार या ऊँचे टीले लम्बाकार पहाड़ी की भाँति एक से तीन किमी के विस्तार में बनते जाते हैं, किन्तु उत्पाती तूफानों की तेज व ऊँची लहरों के साथ ये पुन: बहकर नष्ट भी हो सकते हैं? ऐसी ऊँची पुलिनों या श्रेणियों पर प्राकृतिक या मानवीय प्रयासों से वनस्पति का विस्तार हो जाता है, वहाँ ऐसी श्रेणी स्थायी बन सकती है।
3. **रोधिका** (Bars)—तट के निकट या छिछले सागर के अपतटीय भाग में मध्यम गति की लहरें चलने एवं वहाँ पहले से ही कोई प्राकृतिक अवरोध रहने पर तट से प्राय: समानान्तर बालू का जमाव होने लगता है। यह भी लगभग 3-4 किमी की लम्बाई में हो सकता है। कई बार तट का आगे बड़ा भाग यदि मिल जाए तो वहाँ झील या लैगून भी बन सकती है। ऐसे जमाव जब किनारे या तट पर ही हों तो उन्हें तटीय रोधिका (Coastal bar) एवं यदि तट से कुछ किमी तक दूर छिछले सागर में हों तो उन्हें अपतट रोधिका (Offshore bar) कहते हैं।
4. **स्पिट** (Split)—जब बीच या रेतीले तट का विस्तार छिछले सागर की ओर लम्बाकार व तट से दूरी तक होता है, तो ऐसी विशेष व स्वतन्त्र बनावट (रचना) को स्पिट कहते हैं। भारत के पूर्वी तट पर ऐसे अनेक जमाव देखे जा सकते हैं। यह लम्बी व खींची हुई जीभ या केले जैसी होती है।
5. **पुलिन कस्प या उभयान** (Beach Cusps)—जब पुलिन तट के सहारे लगभग समान दूरी पर लहरों द्वारा अवसादों का त्रिकोणाकार में जमाव होता है, तो उसे पुलिन कस्प कहते हैं। शंकु आकार के बालू एवं बजरी के इन निक्षेपों के शीर्ष समुद्र की ओर होते हैं। तूफानी लहरें इन्हें कभी भी नष्ट कर सकती है।

चित्र : स्पिट एवं सागर तटीय रोधिका

6. **संयोजक रोधिका या टोम्बोलो** (Tombolo)—जब कभी लहरों द्वारा निरन्तर निक्षेप के कारण रोधिका विस्तृत होकर किसी द्वीप को मुख्य स्थल से या छोटे-छोटे द्वीपों को परस्पर जोड़ देती है, तो उसे संयोजक रोधिका या टोम्बोलो कहते हैं। इंग्लिश चैनल में चेसिल बीच टोम्बोलो का श्रेष्ठ उदाहरण है, जो पोर्टलैण्ड द्वीप को जोड़ता है।

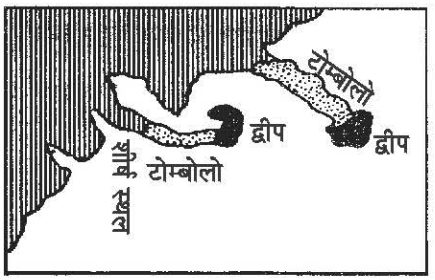

चित्र : टोम्बोलो

7. **लवण कच्छ** (Salt Marsh)—यह साधारणतया तटवर्ती निम्न भू-भाग होता है जो कभी-कभी आंशिक रूप से या पूर्णतया समुद्री जल से ढक जाता है। मिट्टी की अपारगम्यता, अल्पवाह तथा लवणता के कारण प्राय: दलदली भाग होता है। कच्छ का रन इसी प्रकार का क्षेत्र है।
8. **लूप या छल्ला** (Loop)—कई बार आगे की ओर अधिक लम्बाई तक बढ़ने के पश्चात् स्पिट पुन: घुमावदार मोड़ लेकर तट से मिल जाता है, तो छल्ले जैसी आकृति बन जाती है। यह आकृति जटिल होती है क्योंकि इसमें पानी लेगून की भाँति स्थिर रहने से बालू के हक व मिश्रित हुक भी पाए जा सकते हैं। छल्लेनुमा बने इस जमाव को लूप या छल्ला कहते हैं।
9. **लैगून** (Lagoon)—उथले व सपाट तट की ओर अपतटीय ढाल धीमा होने से वहाँ बालू का जमाव बढ़ता जाता है। ऐसे में अपतट से दूरी बनाने वाली रोधिका, टोम्बोलो या रेत की श्रेणी विस्तार करके पुन: तट को घेर लेती है। इससे तट एवं सागर के बीच बालू का बाँध बनने से बीच में झील बन जाती है, यही झील लैगून कहलाती है। मुख्य सागर एवं इस झील के मध्य योजक मार्ग बना रहता है। भारत के पूर्वी तट पर चिल्का व पुलीकट ऐसी ही झीलें हैं।

10. **हुक** (Hook)—कभी-कभी सागर में आगे की ओर बढ़ती स्पिट मोड़ खाकर हुक की भाँति मुड़ जाती है। ऐसा भिन्न-भिन्न दिशाओं में लहरें चलने से व रेत के घुमावदार जमाव एक से अधिक बार बन जाने से होता है। ऐसे जमावों को जिनमें कि एक से अधिक छल्ले होते हैं उन्हें मिश्रित हुक कहते हैं। मेसाचुसेट्स का कोड अन्तरीप इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।
11. **पंक मैदान** (Mud Flats)—समुद्री तटों पर महीन सिल्ट या गाद का ऐसा क्षेत्र, जो प्राय: निम्न ज्वार के समय दिखाई पड़ता है, किन्तु उच्च ज्वार के समय जलमग्न हो जाता है। इसका कुछ भाग दलदली रहता है। नीदरलैण्ड में सागर से मुक्त किए गए पोल्डर भू-भाग इसके उदाहरण हैं।

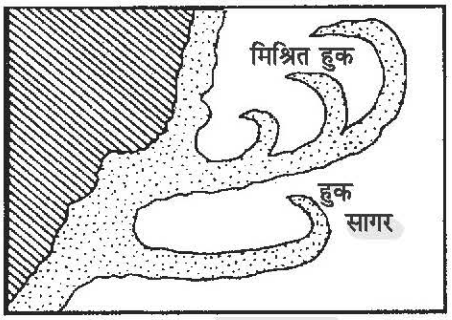

चित्र : हुक तथा मिश्रित हुक

प्र.12. महासागरीय तट किसे कहते हैं? महासागरीय तटों के प्रमुख प्रकार समझाइए।

उत्तर

महासागरीय तट एवं तट रेखाएँ
(Oceanic Coast and Coast Lines)

सागर तट (Coast) के जिस भाग को औसत समुद्र तल छूता हुआ गुजरता है, वही तट सागर तट रेखा कहलाती है। अत: सागर तट एक सापेक्ष शब्द है। **वारसेस्टर** के अनुसार, "सागरतट भूमि एवं जल को अलग करता है। ज्वार के समय इसका विस्तार भूमि की ओर एवं भाटे के समय अपतट की ओर होता है।" दूसरी ओर समुद्री किनारा (Shore) उस क्षेत्रीय पट्टी को कहते हैं जहाँ कि भाटे के समय पानी निचले स्तर तक एवं दीर्घ ज्वार के समय तट की ओर फैल जाता है। अत: तट रेखा औसत सागर तल से होकर गुजरने वाली रेखा है। महान सामुद्रिक विज्ञानवेत्ता जॉनसन ने विश्वव्यापी अध्ययन करते हुए तट रेखाओं (Coast line) को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है—

1. **निमज्जन से बनी तट रेखाएँ**—प्लीस्टोसीन हिमयुग में सागर तल 60-70 मीटर नीचे चला गया था। अत: यहाँ जो भी तट बने वह सभी अभिनव काल में पुन: सागर तल के 60-70 मीटर उभरने से सागर की गहराइयों में डूब गए। इसी कारण सभी महाद्वीपीय तटों पर निमज्जन से बनी तट रेखाएँ पाई जाती हैं। ये निम्न प्रकार की हैं—
   (i) **फियर्ड तट रेखा** (Fiord Coast)—हिमयुग में हिमानी की घाटियाँ शीतल जलवायु के कारण सागर तल तक फैली थीं। बाद में हिमयुग की समाप्ति पर सागर तल पुन: ऊपर उठा एवं यह हिमानी घाटियाँ गहरी खाड़ियाँ बन गईं। ऐसी जलमग्न 'U' आकार की सागरतटीय घाटियों को ही फियर्ड कहते हैं। ऐसे हिमानी प्रभावित तट या फियर्ड तट नार्वे, स्वीडन, ग्रीनलैण्ड, दक्षिणी चिली एवं अलास्का तट पर अधिक पाए जाते हैं।

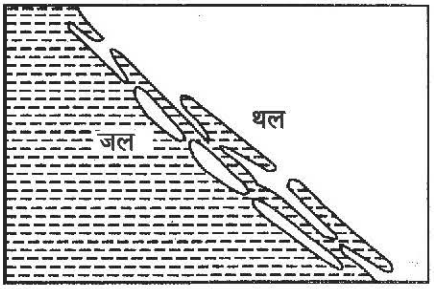

चित्र : फियर्ड तट

   (ii) **रिया तट रेखा** (Ria Coast)—निमज्जन से नदियों के मुहाने या निचली घाटी पानी में डूब जाने से जो विशेष प्रकार की तट रेखा बनती है, उसे रिया तट कहते हैं। इंग्लैण्ड व वेल्स के तट इसका उत्तम उदाहरण है। इन भागों में पानी गहरा होता है, अत: यहाँ प्राकृतिक पोताश्रय पाए जाते हैं। उत्तरी अटलाण्टिक के दोनों तटों पर रिया तट अधिक पाए जाते हैं।
   (iii) **डालमेशिया तट** (Dalmatian Coast)—जब तट के निकट तक एवं अपतटीय भाग में पहाड़ियों का विस्तार होता है तो इनके बीच पंजाकार लम्बी खाड़ियाँ फैली होती हैं। इस प्रकार कंघीनुमा पहाड़ी एवं खाड़ी का एकान्तर विस्तार किसी भी दिशा में पर्वत श्रेणी के विस्तार के अनुसार पाया जा सकता है। विश्व के जिन भागों में पहाड़ी भाग सागर तक पाए जाते हैं वहीं डालमेशिया तट पाए जाते हैं। एड्रियाटिक सागर तट पर बने ऐसे द्वीपों का नाम डालमेशिया द्वीपमाला है। यह पहाड़ियों के डूबने व शीर्ष भाग ऊपर रहने से बने हैं। अत: अन्यत्र भी इन्हें डालमेशिया तट कहते हैं।
   (iv) **हैफ तट रेखा** (Haff Coast)—जब बालू की श्रेणियों एवं बालू का विस्तार तट तक हो एवं ऐसा तट डूब जाए तो उसे हैफ तट कहते हैं। ऐसे तट जर्मनी के तटीय भाग में हैफ (Haff) कहलाते हैं, अत: इसी से यह नाम पड़ा है। हैफ तट रेखाएँ सपाट व बालू मिट्टी युक्त होती हैं।

चित्र : रिया तट

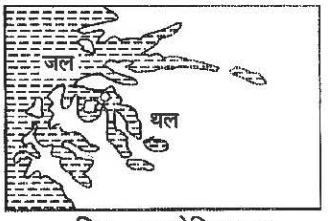

चित्र : डालमेशिया तट

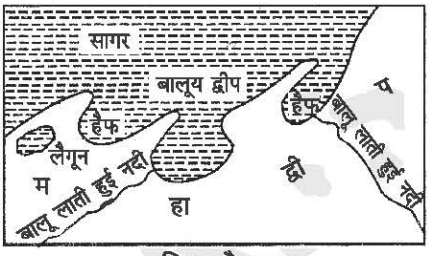

चित्र : हैफ तट

2. **उन्मज्जन व उभार से बनी तट रेखाएँ**—जहाँ स्थानीय रूप से भू-संचलन व अन्य कारणों से सागर तट ऊपर उठ जाते हैं वहाँ जलमग्न रही समतलप्राय भूमि ऊपर आ जाती है। यहाँ की विषमताएँ तो अवसादों के जमा होने से समाप्त हो चुकी होती हैं। अत: यहाँ समतलप्राय चबूतरे एवं सपाट तट पाए जाते हैं। भारत का पूर्वी तट अनेक स्थानों पर उभरा होने से सपाट है। इसी भाँति अफ्रीकी तट पर भी ऐसे उन्मज्जन के प्रमाण मिलते हैं।
3. **तटस्थ तट रेखाएँ**—तटस्थ तट रेखाएँ वे होती हैं जिनका निर्माण न तो भूमि उन्मज्जन से होता है, न ही निमज्जन से होता है। इनका निर्माण स्थानीय भौतिक क्रियाओं से होता है। अत: इनका विकास प्राय: द्वीपों पर अथवा कहीं-कहीं तट पर भी होता है। ऐसी रेखाएँ निम्न प्रकार की क्रियाओं से विकसित होती हैं—
   (i) **प्रवाहित जल से बनी तट रेखाएँ**—(अ) **जलोढ़ पंख के विस्तार की रेखाएँ**—द्वीपों की पहाड़ियों या तटीय श्रेणियों से तीव्रवाही नदियाँ जब मुहाने के निकट या मुहाने पर ही जलोढ़ पंख (कभी-कभी शंकू) की रचना करती हैं, तब ऐसी तट रेखाएँ चापाकार होती हैं। संयुक्त राज्य के पश्चिमी भाग की तटीय श्रेणी, कनाडा में वेंकूवर के निकट के पहाड़ी द्वीपों एवं दक्षिणी चिली के तट पर पहाड़ी द्वीपों पर ऐसी ही तट रेखाएँ विकसित हुई हैं।
   (ब) **डेल्टा व एस्चुरी की तट रेखाएँ**—जब नदियाँ बड़े और स्पष्टत: त्रिकोणाकार डेल्टा बनाती हैं, तो वहाँ पर नदी अनेक धाराओं में बहकर विशेष चापाकार एवं समतल तट रेखाएँ बनाती है। ऐसे में डेल्टा विस्तार के साथ-साथ तट के निकट द्वीप बनते जाते हैं। यहाँ तट पर दलदल पाए जाते हैं। जहाँ गंगा का डेल्टा विश्व का सबसे विशाल, सघनाकार व आदर्श डेल्टा है, वहीं मिसीसिपी का डेल्टा दूर तक पंजाकार रूप में फैला है। यहाँ का तट अधिक कटा-फटा, किन्तु दलदली होता है क्योंकि नदी में रासायनिक पदार्थ अधिक पाए जाते हैं। इनसे हटकर नील व सिन्धु का डेल्टा बालूप्रधान है, जहाँ बालू की अवरोधिकाएँ एवं अन्य रचनाएँ व लैगून (नील नदी डेल्टा पर) भी विकसित होती जाती हैं। अधिकांश डेल्टा की तट रेखाएँ कटी-फटी होती हैं।
   (ii) **प्रवाल द्वीप की तट रेखा**—अनुतट प्रवाली एवं अवरोधी प्रवाली विशेष प्रकार की तट रेखा बनाती है। प्रशान्त महासागर के द्वीपों पर अनेक प्रवाल द्वीप व एटोल पाए जाते हैं। यह रचना सारे तट को घेरे रहती है। ऐसी तट रेखाएँ तट को बाधित कर उसे छिछला बना देती हैं। उदाहरणार्थ, पूर्वी आस्ट्रेलिया का महान अवरोधी प्रवाली तट छिछला है, तट रेखा सपाट है एवं यहाँ कोई महत्वपूर्ण बन्दरगाह नहीं बन पाया है।
   (iii) **ज्वालामुखी द्वारा बनी तट रेखाएँ**—प्रशान्त के अधिकांश तट के निकट एवं अनेक द्वीपों पर ज्वालामुखी की क्रियाएँ निरन्तर होती रही हैं। अत: यहाँ पर जापान व हिन्देशिया के द्वीपों के तट पर तथा मध्यवर्ती प्रशान्त के द्वीपों के तट पर ऐसी तट रेखाएँ बीच-बीच में (लावा एवं लावा के साथ के पदार्थों के फैलाव से बनी) देखी जा सकती हैं।
   (iv) **भ्रंश द्वारा बनी तट रेखाएँ**—जब भ्रंश के साथ-साथ तट का उन्मज्जन नहीं होता तो ऐसे तट का विकास होता है। ऐसी तट रेखा भ्रंश के सहारे तट पर या अपतट के छिछले सागर की ओर फैल सकती है। कहीं-कहीं पहाड़ी तट के निकट भ्रंश सुविकसित होने पर लम्बी खाड़ियाँ या विशेष संकरी व लम्बी, किन्तु सुरक्षित व नाव्य लैगून बन सकती है। केरल तट पर ऐसी ही लेगून विकसित है।
4. **सम्मिश्रित तट रेखाएँ**—विश्वव्यापी स्तर पर हिम युग के पश्चात् बनी निमज्जन की तट रेखा पर स्थानीय रूप से पुन: भू-संचलन अथवा ज्वालामुखी उद्गार के प्रभावों से विशेष संरचनात्मक प्रभाव पड़ता है, तो वहाँ दोनों प्रकार के प्रमाण लक्षित होते हैं। ऐसे ही कारणों से जब एक साथ कई तट रेखाएँ निर्मित होती हैं तो सम्मिश्रित (Composit) तट रेखा कहते हैं। ❑

UNIT-V

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सममण्डल से आप क्या समझते हैं?

उत्तर सममण्डल की ऊँचाई 90 किमी तक गैसों की भौतिक व रासायनिक बनावट प्राय: समरूपी रहती है। यहाँ की मुख्य गैसें नाइट्रोजन, ऑक्सीजन एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड हैं। ये मिलकर 91 प्रतिशत से अधिक भाग बनाती हैं। शेष 9 प्रतिशत में नीऑन, हीलियम, जिनोन आदि गैसें आती हैं। जलवाष्प, धूल व अन्य विविध कण इसी भाग में पाए जाते हैं।

प्र.2. विषममण्डल में किस प्रकार की गैसें पाई जाती हैं?

उत्तर विषममण्डल की बनावट जटिल है। इसकी ऊँचाई 90 किमी के पश्चात् वायुमण्डल के शीर्ष भाग तक है। इसमें विशेष क्षेत्रीय परत में विशेष किस्म की सौर ऊर्जा से चार्ज गैसें पाई जाती हैं। यहाँ पर ऐसी गैसों की चार परतें मिलती हैं—(i) आण्विक नाइट्रोजन परत (200 किमी), (ii) आण्विक ऑक्सीजन परत (200 से 700 किमी), (iii) हीलियम परत (700 से 1,100 किमी) एवं (iv) आण्विक हाइड्रोजन परत (1,100 किमी से अधिक)। सौर ऊर्जा की विशेष किरणों के प्रभाव से विविध ऊँचाई पर चार्ज होने वाली ये गैसें चुम्बकीय प्रभाव को जाग्रत रखने वाली होती हैं। इसी से ओजोन व आयोन विकसित होते हैं। सौर ताप की उष्णता अधिक ऊँचाइयों पर अधिक मिलती है। इसी कारण यहाँ के तापमान भी अधिक ऊँचे रहते हैं। ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ विरल गैसें ही पाई जाती हैं।

प्र.3. वायुमण्डल को परिभाषित कीजिए।

उत्तर पृथ्वी को चारों ओर से घेरते हुए पृथ्वी ग्रह के अभिन्न अंग के रूप में विस्तृत गैसीय आवरण जो कि कई सौ मील ऊँचाई तक फैला हुआ है, वायुमण्डल कहलाता है। अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर फैले वायु के आवरण को ही वायुमण्डल कहते हैं।

प्र.4. मध्यस्तर या क्षोभ सीमा से आप क्या समझते हैं?

उत्तर परिवर्तनमण्डल की सीमा और समतापमण्डल के प्रारम्भ के मध्यवर्ती भाग को मध्यस्तर या क्षोभ सीमा कहते हैं। मध्यस्तर की मोटाई लगभग 1.5 से 2 किमी तक है। यहाँ किसी प्रकार की परिवर्तनकारी क्रिया नहीं होती है। अत: इसे अचलस्तर भी कहते है। ध्रुवों के निकट विभोक्षमण्डल कम ऊँचा एवं विषुवत् रेखा पर अधिक ऊँचा रहने से मध्यवर्ती अक्षांशों में दोहरा अचलस्तर या मध्यस्तर पाया जाता है। इसकी औसत ऊँचाई 11 किमी है। क्षोभ सीमा को मौसमी परिवर्तनों की छत भी कहा गया है।

प्र.5. बहिर्मण्डल क्या है?

उत्तर यहाँ पर वायुमण्डल बिखरने की स्थिति में होता है। यहाँ विशेष गरम एवं बहुत हल्की गैसों तथा प्राय: घटते गुरुत्वाकर्षण के कारण वायुमण्डल गुच्छों में बिखरा हुआ होता है। यहाँ पर हाइड्रोजन एवं हीलियम जैसी गैसें गुच्छों के रूप में बिखरी हुई मिल सकती हैं। यह वायुमण्डल का सीमान्त कहा जा सकता है। इस मण्डल के ऊपरी भाग की ऊँचाई अनिश्चित है, क्योंकि हल्की गैसों के गुच्छे आकाश (space) में 15-20 हजार किमी की ऊँचाई पर भी मिल सकते हैं।

प्र.6. उपसौर व अपसौर को समझाते हुए संक्षेप में लिखिए।

उत्तर सूर्य से पृथ्वी की दूरी सदैव एक समान नहीं होती है। सूर्य के सर्वाधिक निकट होने की स्थिति को उपसौर या सूर्य नीच (perihelion) कहते हैं, जो कि 3 जनवरी को आती है (14.73 करोड़ किमी)। पृथ्वी के सूर्य से सर्वाधिक दूर होने की स्थिति को अपसौर या सूर्योच्च (aphelion) कहते हैं, जो कि 4 जुलाई को आती है (15.2 करोड़ किमी)। इस प्रकार उपसौर के समय पृथ्वी को अधिक सूर्यातप की प्राप्ति होती है। यह कारक दिन की अवधि तथा सूर्य की किरणों के तिरछेपन के प्रभाव के आगे नगण्य है। फिर भी आकलन के अनुसार अपसौर एवं उपसौर की स्थिति में उत्तरी गोलार्द्ध में गर्मियों तथा सर्दियों की तीव्रता 7 प्रतिशत कम होती है।

प्र.7. सूर्यातप के विश्व वितरण का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर पृथ्वी पर सूर्यातप का वितरण अक्षांशों के अनुरूप पाया जाता है। विषुवत् रेखीय भागों में सर्वाधिक सूर्यातप की प्राप्ति होती है जो कि क्रमश: ध्रुवों की ओर घटता चला जाता है। किन्तु विषुवत् रेखा पर अधिक मेघाच्छादन के कारण उच्चतम सूर्यातप 20°C अक्षांशों पर प्राप्त होता है। उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में वर्ष पर्यन्त सूर्यातप की मात्रा अधिक रहती है। ऋतु परिवर्तन का भी सूर्यातप के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। सूर्यातप की मात्रा का मापन पायरहेलियोमीटर (pyreheliometer) उपकरण से किया जाता है।

प्र.8. वायुदाब कोशिकाओं से क्या अभिप्राय है?

उत्तर जब समभार रेखाएँ अण्डाकार या प्राय: गोलाकार अथवा वेज जैसी स्पष्ट आकृति बनाती हुई किसी क्षेत्र को घेरे रहती हैं तो उसे वायुदाब कोशिका (Pressure cell) कहते हैं। इन कोशिकाओं में जब वायुदाब निकटवर्ती भागों से काफी कम पहुँच जाता है, तो उसे चक्रवात कहते हैं, किन्तु जब निकटवर्ती भागों से भीतरी भाग में वायुदाब अधिक रहता है, तो उसे प्रतिचक्रवात कहते हैं। ऐसी आकृतियों का अगला हिस्सा कई बार एक दिशा में वेज (Wedge) या साइफन (उल्टे V जैसी) की भाँति फैल जाता है, तो भी मोटे तौर पर वृत्ताकार ही बना रहता है। इसी भाँति जब दो उच्च भार के क्षेत्र कुछ दूरी पर स्थित हों एवं बीच में निम्न भार हो, तो उस निम्न भार के संकरे क्षेत्र को कॉल (Col) कहते हैं।

प्र.9. फेरल के नियम को संक्षेप में बताइए।

उत्तर फेरल ने बताया कि जिस दिशा में पवन प्रवाहित हो रही है, यदि हम उस ओर मुँह करके खड़े हो जाएँ तो उत्तरी गोलार्द्ध में हवाएँ दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बाईं ओर मुड़ जाएँगी। हवाओं का यह झुकाव भूमध्य रेखा के समीप कम होता है तथा उच्च अक्षांशों की ओर बढ़ता जाता है।

प्र.10. पवनों के नियन्त्रण में अभिकेन्द्री बल को समझाइए।

उत्तर घूर्णन करती हुई पृथ्वी पर अभिकेन्द्री शक्ति भी सक्रिय रहती है। इसके कारण पवनें केन्द्र की ओर वक्राकार रूप में गतिशील होती हैं। अभिकेन्द्री बल की मात्रा सामान्यत: बहुत कम होती है।

प्र.11. भूतल पर पवनों का संक्षिप्त वर्गीकरण दीजिए।

उत्तर पृथ्वी की सतह पर पवनें निरन्तर गतिशील रहती हैं। जिन भागों में एक ही दिशा से एवं प्राय: समान रूप से वर्षभर पवनें चलती हैं, उन्हें स्थायी, सनातनी या ग्रहीय पवनें कहते हैं। जिन भागों में मौसम विशेष में स्थानीय वायुदाब व्यवस्था विकसित होने से पवनें चलती हैं, उन्हें मौसमी या मानसूनी पवनें कहते हैं। इसी भाँति समुद्री तट के निकट सामयिक पवनें दिन व रात एवं स्थलीय भाग पर स्थानीय रूप से वायुदाब बदलने से चलती हैं। इन्हें जल व स्थल समीर कहते हैं। इसके अतिरिक्त विश्व के सभी भागों में स्थानीय पवनें भी चलती हैं। पवनों का नामकरण प्राय: जिस दिशा से वह चलती है उसी के आधार पर होता है, जैसे पश्चिम से चलने वाली पछुआ, पूर्व से पुरवा।

प्र.12. बोरा क्या है?

उत्तर ये ग्रीनलैण्ड के हिमाच्छादित प्रदेश से चलने वाली ठण्डी पवनें हैं। दक्षिणी यूरोप में एड्रियाटिक सागर के पूर्वी किनारे पर तथा इटली के उत्तरी भाग में इन शुष्क एवं ठण्डी पवनों के चलने से मौसम साफ रहता है। इनकी गति तीव्र होती है। ये स्वास्थ्य के लिए कष्टप्रद होती हैं।

प्र.13. 'लू' को परिभाषित कीजिए।

उत्तर ग्रीष्मकाल में चलने वाली उष्ण तथा शुष्क पवनों को भारत में 'लू' कहते हैं। ये अधिकतर उत्तरी भारत में उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम से पूर्व की ओर चलती हैं। ये पवनें अत्यधिक गर्म होती हैं। इनका तापमान 45°C तक हो सकता है। जब ये उत्तरी भारत में आती हैं, तो इनके आगमन को 'ताप लहर' (Heat Waves) कहकर पुकारते हैं। जहाँ ये चलती हैं, उन स्थानों के वातावरण को विशेष कष्टदायक बना देती हैं।

प्र.14. खमसिन क्या है? इनका कार्य बताइए।

उत्तर मिस्र में दक्षिण की ओर से ग्रीष्मकाल में चलने वाली उष्ण एवं शुष्क पवन को खमसिन कहते हैं। ये प्राय: अपने साथ बहुत-सी धूल उड़ाकर लाती हैं एवं तापमान को बढ़ा देती हैं।

प्र.15. किन हवाओं को डॉक्टर के नाम से भी जाना जाता है?

उत्तर पश्चिमी अफ्रीका में सहारा मरुस्थल से आने वाली उष्ण, शुष्क और धूल भरी पवनों को हरमेटन कहा जाता है। ये अत्यधिक गर्म एवं शुष्क होती हैं। जब ये हवाएँ उष्ण एवं तर गिनी तट पर पहुँचती हैं, तो इनकी शुष्कता अच्छी लगती है। यहाँ ये स्वास्थ्यप्रद होती हैं, अत: इन्हें 'डॉक्टर' भी कहा जाता है। ऑस्ट्रेलिया में ऐसी पवनों को 'ब्रिकफील्डर' कहते हैं।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. वायुमण्डल की संरचना का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तर

वायुमण्डल की संरचना
(Structure of Atmosphere)

वायुमण्डल की संरचना सर्वत्र एक जैसी नहीं है। इसमें ऊँचाई, अक्षांश व ऋतु के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ऊँचाई के अनुसार देखा जाए तो सबसे भारी व सघन गैसें, वाष्प व धूल के कण सबसे निचली परत में पाए जाते हैं। हाइड्रोजन तथा हीलियम जैसी हल्की गैसें ऊपरी वायुमण्डल में अधिक मात्रा में मिलती हैं। वायुमण्डल की ऊपरी परतों में जलवाष्प की मात्रा शून्य होती है। ओजोन का सर्वाधिक संकेन्द्रण 30 से 60 किमी के मध्य मिलता है। ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायु विरल होती जाती है तथा उसका वितरण भी निचली परतों की भाँति संगठित नहीं रहता है। 600 किमी के पश्चात् वायु बादलों की भाँति छोटे-बड़े गुच्छों में बँटने लगती है। व्यावहारिक दृष्टि से 1,600 किमी पश्चात् वायु इतनी अधिक हल्की व आयनीकृत (ionised) हो जाती है कि भूतल पर प्रभाव की दृष्टि से नगण्य मानी जा सकती है।

वायुमण्डल में जलवाष्प तथा ओजोन के वितरण में अक्षांश व ऋतु के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। ग्रीष्म ऋतु में ओजोन उच्च अक्षांशों में अधिक तथा विषुवत् रेखा के निकट कम मात्रा में पाई जाती है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में निम्न अक्षांशों में जलवाष्प की मात्रा अधिक पाई जाती है। कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा उच्च अक्षांशों में ऋतु क्रम के अनुसार बदलती रहती है। दीर्घ अवधि में कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा ओजोन की मात्रा में अन्तर आते हैं। जैसा कि ज्ञात है वायुमण्डल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है तथा ओजोन की मात्रा घट रही है।

वायुमण्डल की भौतिक संरचना देखी जाए तो इसमें अनेक परतें पाई जाती हैं। ये परतें तापमान, वायुदाब एवं अन्य विशेषताओं पर आधारित हैं। वायुमण्डल के परतों में विभाजन को वायुमण्डल का स्तरीकरण (Stratification of Atmosphere) भी कहते हैं।

प्र.2. ओजोन मण्डल तथा आयनमण्डल के महत्त्व का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

ओजोनमण्डल
(Ozonosphere)

ओजोनमण्डल समतापमण्डल की ऊपरी परत पर ही स्थित है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है, सूर्य से मिलने वाली हानिकारक पराबैंगनी (अल्ट्रावॉयलेट) किरणों को यहाँ की ऑक्सीजन गैस सोखकर स्वयं गरम होकर ($O_2 + O \rightarrow O_3$) ओजोन में बदल जाती है। इससे पृथ्वी को पराबैंगनी किरणों से होने वाली गर्मी एवं विनाश से सुरक्षा मिल जाती है। ओजोन गैस की अधिकता के कारण ही इस परत को ओजोनमण्डल कहते हैं। इसकी ऊँचाई लगभग 32 किमी से 80 किमी के मध्य है। यहाँ पर तापमान इसी कारण तेजी से बढ़ता है। इस परत की निचली सीमा समतापमण्डल में मिल गई है।

तापमण्डल या आयनमण्डल
(Ionosphere)

वायुमण्डल की यह ऊपरी परत 80 किमी से लगभग 500 किमी की ऊँचाई तक विस्तृत है। यहाँ पर उपस्थित गैसें ब्रह्माण्ड किरणें (कॉस्मिक किरणें) ग्रहण कर विद्युत्मय (Ionised) हो जाती हैं। इस आयनीकरण या विद्युत्मय क्रिया के कारण ही इस भाग को आयनमण्डल कहते हैं। इस भाग में ध्रुव ज्योति, उल्काओं की चमक, रेडियो तरंगों का विभिन्न ऊँचाई पर पुन: पृथ्वी पर लौटना, नीले आकाश जैसे क्रियाएँ होती हैं। आयनमण्डल कई तहों में बँटा हुआ है। यहाँ के तापमान बढ़ते हुए 1,100°C से भी अधिक हो जाते हैं। इस मण्डल की ऊपरी परतें पराबैंगनी फोटोन (सूर्य की विशेष हानिकारक किरणों) को भी अवशोषित करती हैं। यहाँ का वायुमण्डल बहुत ही हल्का एवं विरल होता है। इसकी विस्तृत खोज भू-उपग्रहों, विद्युत-चुम्बकीय तरंगों, रेडियो एवं ध्वनि तरंगों की सहायता से की जा रही है।

प्र.3. क्षोभमण्डल किसे कहते हैं? संक्षेप में बताइए।

उत्तर

परिवर्तनमण्डल या क्षोभमण्डल
(Troposphere)

यह वायुमण्डल का सबसे निचला भाग है। इसकी औसत ऊँचाई भूमध्य रेखा पर 16 किमी तथा ध्रुवीय अक्षांशों पर 8-9 किमी रह जाती है, अर्थात् भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर इसकी ऊँचाई कम होती जाती है। इस मण्डल की वायु के गरम रहने का मुख्य कारण पृथ्वी से प्राप्त ताप है। यहाँ जल-कण, जलवाष्प, धूल-कण, प्रदूषक आदि पाए जाते हैं। यहाँ पार्थिव विकिरण (Terrestrial Radiation) की क्रिया होती है। क्षोभमण्डल विकिरण, संचालन और संवहन की क्रिया द्वारा गरम तथा ठण्डा होता रहता है। जेट स्ट्रीम पवनें निम्न अक्षांशों में इसी मण्डल की ऊपरी सीमा पर चलती हैं।

यहाँ सदैव परिवर्तन की क्रिया होती रहती है, इसी कारण इसे परिवर्तनमण्डल या विक्षोभमण्डल नाम दिया गया है। इस मण्डल में प्रत्येक 1,000 मीटर ऊँचाई पर तापमान 6.5°C कम होता जाता है। वायुमण्डल में तापमान के घटने की यह दर तापक्षय दर (lapse rate) कहलाती है। इसकी ऊपरी सीमा पर वायु का दबाव घटकर धरातल की अपेक्षा 1/4 ही रह जाता है। आँधी, तूफान, बादलों की गर्जना, वर्षा, विद्युत्-प्रकाश आदि इसी मण्डल में होते हैं। इस प्रकार प्राय: सभी संवेदनशील प्रभावों की उत्पत्ति यहाँ होती है। संवहनिक हवाओं एवं सभी प्रकार की मौसमी घटनाओं का भी यह मुख्य केन्द्र है। विषुवत् रेखा पर इसकी ऊपरी सीमा की अधिक ऊँचाई के कारण तापमान –60°C के आस-पास एवं ध्रुवीय प्रदेशों में –45°C रहते हैं।

प्र.4. सूर्यातप या सौर ऊर्जा क्या है? इसका संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर

सूर्यातप
(Insolation)

धरातल पर समस्त जैविक एवं अजैविक क्रियाकलापों का स्रोत सौर ऊर्जा है। सूर्य से प्रकाश एवं ऊष्मा के रूप में जो ऊर्जा पृथ्वी को प्राप्त होती है, उसे सूर्यातप (Insolation), सूर्याभिताप, सौर ऊर्जा, सौर शक्ति या सौर विकिरण कहते हैं। 'Insolation' शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है—In (incoming) + Sol (solar) + Ation (radiation), जिसका अभिप्राय है पृथ्वी पर आने वाला सौर विकिरण। **केण्डू** के अनुसार, "सूर्य द्वारा अन्तरिक्ष में निरन्तर विकिरित की जाने वाली संश्लिष्ट ऊर्जा को ही सूर्यातप कहते हैं।" **ट्रीवार्था** के शब्दों में "लघु तरंगों के रूप में संचलित और 1,86,000 मील प्रति सेकण्ड की गति से भ्रमण करती हुई प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा को सौर्य विकिरण या सूर्यातप कहते हैं।" भूगोल परिभाषा कोश के अनुसार, "सूर्य द्वारा लघुतरंगों के रूप में विसर्जित तथा प्रकाश की गति से पृथ्वी तक पहुँचने वाली ऊर्जा को आतपन या सूर्यातप कहते हैं।" सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि सूर्य द्वारा लघु तरंगों के रूप में विसर्जित होने वाली विकिरण ऊर्जा, जो प्रकाश की गति से पृथ्वी पर पहुँचती है, सूर्यातप कहलाती है।

प्र.5. सौर तरंगों के प्रकार की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर

सौर विकिरण एवं तरंगें
(Solar Radiation and Waves)

सूर्य की सतह से निरन्तर विद्युत् चुम्बकीय लहरें या तरंगें प्रसारित होती रहती हैं। प्रकृति में समान होने पर भी सौर विकिरण अलग-अलग तरंग-दैर्ध्यों (wave-lengths) के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। विकिरण की ऊर्जा उसकी तरंग दैर्ध्य पर निर्भर करती है। सामान्यत: कम लम्बाई वाली अर्थात् लघु तरंगों के विकिरण से अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। ऐसी तरंगों की लम्बाई का माप माइक्रोन या μ इकाई द्वारा व्यक्त किया जाता है। (एक माइक्रोन = 1/10,000 सेमी)। सूर्य से प्राप्त सौर विकिरण तीन प्रकार की तरंगों वाला होता है। इन्हें लम्बाई के अनुसार लघु, मध्यम एवं लम्बी तरंग वाली ऊर्जा कहते हैं—

1. **लघु तरंगों वाली ऊर्जा**—इसमें तरंगों की लम्बाई 0.44 μ या कम होती है। इनका अधिकांश भाग वायुमण्डल की ऊपरी परत, विशेषकर ओजोन परत द्वारा सोख लिया जाता है। इस वर्ग की अधिकांश ऊर्जा पराबैंगनी तरंग वाली होती है। कुल सौर ऊर्जा का बहुत थोड़ा भाग ही ऐसा होता है एवं उसका भी मात्र 2 प्रतिशत ही पृथ्वी तक पहुँच पाता है। अधिकांश भाग वायुमण्डल की ऊपरी परत में ऑक्सीजन व ओजोन द्वारा सोख लिया जाता है।
2. **मध्यम तरंग वाली ऊर्जा**—सौर ऊर्जा का अधिकांश भाग इसी वर्ग में आता है। इन तरंगों की लम्बाई 0.44 से 0.84 μ के मध्य होती है। इनका रंग सप्तवर्णी एवं उनसे बनने वाला प्रकाश सफेद होता है। इनका अधिकांश भाग भूतल तक आ जाता है।

3. **लम्बी तरंग वाली ऊर्जा**—इनकी लम्बाई सबसे अधिक (0.84 μ से भी अधिक) होती है। इनका रंग गहरा लाल से नारंगी के मध्य होता है। इनकी तीव्रता का बड़ा हिस्सा आयनमण्डल की गैसें सोख लेती हैं।

भूतल पर प्राप्त कुल सौर ऊर्जा की 6 प्रतिशत लघु तरंग वाली 52 प्रतिशत मध्यम तरंग वाली एवं 42 प्रतिशत लम्बी तरंग वाली ऊर्जा होती है। सौर शक्ति का अधिकांश भाग प्रकाश के रूप में दिखाई देता है, जिसमें सात रंग होते हैं। इनमें नीले रंग की किरण सबसे छोटी तथा लाल रंग की किरण सबसे लम्बी होती है।

प्र.6. वायुदाब के लम्बवत् तथा क्षैतिज वितरण का वर्णन संक्षेप में कीजिए।

उत्तर

वायुदाब का वितरण
(Distribution of Atmospheric Pressure)

वायुदाब वितरण का अध्ययन लम्बवत् एवं क्षैतिज दो रूपों में किया जाता है—

1. **वायुदाब का लम्बवत वितरण**—ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायुदाब निरन्तर घटता जाता है, क्योंकि गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से वायुमण्डल की निचली परतों में भारी गैसें अधिक पाई जाती हैं एवं ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायुमण्डल की मोटाई भी निरन्तर घटती जाती है। सामान्यत: कुल वायुदाब का आधा 5.5 किलोमीटर तक एवं शेष का आधा अगले 5.5 किमी की ऊँचाई तक, अर्थात् 11 किमी के बाद कुल वायुदाब का मात्र एक-चौथाई भाग ही शेष वायुमण्डल में रह पाता है एवं तीन-चौथाई भार प्रारम्भ की 11 किमी की परतों में आ जाता है। अधिक ऊँचाई पर गैसें तेजी से विरल एवं हल्की होती जाती हैं। इसी कारण अधिक ऊँचाई पर उड़ने वाले वायुयानों में कृत्रिम वायुदाब एवं विशेष ऑक्सीजन अनुपात बनाए रखा जाता है। पर्वतारोही भी इसी कारण ऊँची पर्वत चोटियों पर चढ़ते समय ऑक्सीजन के सिलिण्डर एवं विशेष सूट का उपयोग करता है।
2. **वायुदाब का क्षैतिज वितरण एवं वायुदाब पेटियाँ**—पृथ्वी पर वायुदाब के क्षैतिज वितरण का विशेष महत्व है। इसे मानचित्र पर समदाब रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। सभी स्थानों को समुद्र तल पर मानते हुए मानचित्र पर समान वायुदाब वाले स्थानों को जोड़ने वाली रेखा को समदाब रेखा (Isobar) कहते हैं। जिस प्रकार समताप रेखाएँ सामान्यत: अक्षांशों का अनुसरण करती हैं, वैसे ही समदाब रेखाएँ भी अक्षांशों का अनुसरण करने का प्रयास करती हैं, किन्तु जल-थल का जटिल वितरण, वायु में जलवाष्प की घटत-बढ़त एवं महाद्वीपीय स्थिति का समदाब रेखाओं के वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उष्ण व शीतोष्ण चक्रवात, सौर ऊर्जा व तापमान, पृथ्वी की गति एवं जल स्थल के वितरण का भी वायुदाब रेखाओं पर स्थानीय, क्षेत्रीय एवं विश्वव्यापी प्रभाव पड़ता है।

पृथ्वी पर वायुदाब के वितरण को सात पेटियों के रूप में प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु वायुदाब पेटियाँ आदर्श रूप में उसी दशा में सम्भव है जबकि पृथ्वी पर जल-स्थल की भिन्नता न हो। इन पेटियों के निर्धारण का मुख्य आधार तापमान तथा पृथ्वी की दैनिक गति है। उत्तरी गोलार्द्ध में जल-स्थल की अधिक भिन्नता के कारण वायुदाब पेटियों की अपेक्षा वायुदाब के अलग-अलग केन्द्र मिलते हैं।

प्र.7. पवन को नियन्त्रित करने वाले कारकों से आप क्या समझते हैं? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

पवनों को नियन्त्रित करने वाले कारक
(Factors Controlling Winds)

धरातल पर पवनों की गति व दिशा को नियन्त्रित करने वाले कारक निम्न है—

1. **वायुदाब का ढाल या दाब प्रवणता**—किन्हीं दो स्थानों के मध्य वायुदाब के अन्तर को दाब प्रवणता या वायुदाब का ढाल (Pressure gradient) या बैरोमीटर का ढाल कहते हैं। पवनों की प्रवाह दिशा और गति वायुदाब प्रवणता से ही ज्ञात होती है। जब मानचित्र पर समदाब रेखाएँ बहुत पास-पास होती हैं तो प्रवणता अधिक होती है तथा दूर-दूर खिंची होने पर प्रवणता कम होती है। पवन अधिक दाब से कम दाब की ओर चलती है तथा पवन की गति वायुदाब प्रवणता पर निर्भर करती है।
2. **पृथ्वी का घूर्णन**—पृथ्वी अपने अक्ष पर निरन्तर पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है। इस घूर्णन गति से विक्षेप बल उत्पन्न होता है, जो सदैव पवन के लम्बवत् कार्य करता है। पृथ्वी के घूमने के साथ उसका वायुमण्डल भी घूमता है। यह अपवाहन शक्ति विषुवत् रेखा पर सबसे कम तथा ध्रुवों पर सर्वाधिक होती है।

फ्रांसीसी गणितज्ञ **कोरियालिस** ने ही सर्वप्रथम पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण उत्पन्न होने वाले अपकेन्द्री या विक्षेप बल की खोज की थी, जिसके कारण पवनों की दिशा में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। इस विक्षेप बल को कोरियालिस बल भी कहते हैं। पवन में उत्पन्न होने वाले विक्षेप के सम्बन्ध में विद्वानों ने कुछ नियम बताए हैं—

(i) **अभिकेन्द्री बल**—घूर्णन करती हुई पृथ्वी पर अभिकेन्द्री शक्ति भी सक्रिय रहती है। इसके कारण पवनें केन्द्र की ओर वक्राकार रूप में गतिशील होती हैं। अभिकेन्द्री बल की मात्रा सामान्यत: बहुत कम होती है।

(ii) **घर्षण शक्ति**—यह बल धरातल से लगभग 500 मीटर की ऊँचाई तक अधिक सक्रिय होता है। इससे अधिक ऊँचाई पर हवाओं पर पृथ्वी तल के घर्षण का प्रभाव समाप्त हो जाता है। धरातल के निकट स्थल पर इस बल से पवनों में तिरछापन उत्पन्न होता है। अधिक ऊँचाई पर पवनें धरातल के समान्तर हो जाती हैं।

(iii) **भूविक्षेपी पवनें**—धरातल से 500 मीटर से अधिक ऊँचाई पर पवनों पर धरातलीय घर्षण का प्रभाव समाप्त हो जाता है, अत: हवाओं का सन्तुलन दबाव शक्ति तथा घूर्णन शक्ति के मध्य होता है। इससे पवनें समदाब रेखाओं के समान्तर चलने लगती हैं, जिसे भूविक्षेपी पवन (Geostrophic wind) कहते हैं।

प्र.8. जेट स्ट्रीम को किन वर्गों में विभाजित किया गया है? जेट स्ट्रीम का महत्त्व बताइए।

उत्तर

जेट स्ट्रीम का वर्गीकरण
(Classification of Jet Stream)

अक्षांशीय स्थिति पर ही जेट स्ट्रीम की क्रियाशीलता निर्भर करती है। इस आधार पर जेट स्ट्रीम को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है—

1. **ध्रुवीय जेट स्ट्रीम**—यह जेट धाराएँ ध्रुवीय सीमान्त प्रदेशों में 45°C से 65°C के मध्य क्रियाशील रहती हैं। इनकी क्रियाशीलता पर उष्ण सीमान्त या वाताग्र का विशेष प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर अन्ध महासागर एवं निकटवर्ती स्थलखण्ड की उष्ण आर्द्र पछुआ पवनों एवं ध्रुवों की ओर से बहकर आने वाली शीतल पवनों में लगभग 10-12 किमी ऊँचाई पर ताप व नमी में अधिक अन्तर रहने से यह जेट स्ट्रीम महाद्वीपों के मध्य व पूर्वी भाग में विशेष क्रियाशील बनी रहती हैं। इनकी भँवरों में पवनों की गति 250 से 400 किमी तक रहती है। कभी-कभी इनके भीतरी भाग में नमी व गत्यात्मक प्रभाव से गति 600 किमी तक पहुँच सकती है।
2. **उपोष्ण कटिबन्धीय जेट स्ट्रीम**—यह जेट स्ट्रीम शान्त खण्ड से ऊपर 30°C से 40°C के मध्य विकसित होती है। लगभग 12 किमी की ऊँचाई पर 200 मिलीबार वायुदाब के क्षेत्र में पवन की गति जेट स्ट्रीम की बाहरी सीमा पर 120 किमी एवं भीतरी भाग में भँवर में 200 से 360 किमी के मध्य रहती है। गर्मियों में ये जेट धाराएँ 40°C अक्षांश तक एवं सर्दियों में 35°C अक्षांश तक चलती हैं। भारत में यह STWJ (Sub Tropical Westerly Jet) के नाम से पुकारी जाती हैं।
3. **उष्ण कटिबन्धीय जेट स्ट्रीम**—अफ्रीका व दक्षिणी एशियाई उष्ण मानसून प्रदेशों में इन उष्ण कटिबन्धीय पूर्वी जेट (TEJ) का विकास 15°C से 22°C के मध्य होता है। लगभग 12 से 15 किमी की ऊँचाई के मध्य पूर्वी जेट धाराएँ अधिक विकसित दिखाई देती हैं। इनकी स्थिति एवं विस्तार के घटने-बढ़ने का मानसून के प्रारम्भ एवं लौटने से सीधा सम्बन्ध रहता है।

   भारत में पूर्वी जेट के विकास के लिए 18°C उत्तरी अक्षांश के आसपास अनुकूल दशाएँ पाई जाती हैं। इनका सुविकसित प्रभाव जून के प्रारम्भ में रहता है। इस समय ये तेजी से पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती हुई मध्य व अधिकांश उत्तरी भारत को घेर लेती हैं। तभी STWJ जेट स्ट्रीम उत्तरी भारत में हिमालय से दूसरी ओर खिसक जाती है। यही दक्षिण-पश्चिमी मानसून के फूट पड़ने की आदर्श दशा भी कहलाती है।

   उष्ण कटिबन्धीय जेट की गति शुष्क मौसम विकसित होने से अपेक्षतया कम गत्यात्मक रहती है। सिर्फ उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के समय ही कभी-कभी इनमें आर्द्र पवनें अधिक मात्रा में मिलकर इनकी क्रियाशीलता बढ़ा देती हैं। इनके बाहरी भागों में गति 100 किमी एवं भीतरी भागों में 200 से 240 किमी तक रहती है।

जेट स्ट्रीम का महत्त्व (Importance of Jet Stream)

जेट स्ट्रीम मौसम सम्बन्धी दशाओं को अप्रत्यक्ष रूप से एवं वाताग्रों को भी कई प्रकार से प्रभावित करती हैं। पृथ्वी की सतह से ठीक ऊपर विक्षोभमण्डल में उष्ण कटिबन्धीय ऊर्जा को दूर-दूर तक शीत-शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों तक जेट धाराएँ वितरित करती हैं। इसी भाँति ध्रुवीय पवनों की ठण्डक को भी ये 30°C-35°C अक्षांशों तक वितरित कर देती हैं। इससे ऊष्मा के सन्तुलित वितरण में अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

इसी भाँति वायु परिवहन में भी इनका विशेष महत्व है। जो वायुयान उष्ण व अर्द्धोष्ण प्रदेशों में 12 से 14 किमी की ऊँचाई पर एवं शीतोष्ण प्रदेश में 9 से 12 किमी ऊँचाई तक उड़ते हैं, उन्हें इस धारा प्रवाह से विशेष लाभ है। पायलट यदि यान को जेट स्ट्रीम के प्रवाह में मोड़ दे एवं उसकी केन्द्रीय अक्ष के सहारे उड़े तो ईंधन एवं समय की बचत कर वह शीघ्र अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता है। किन्तु इसमें वायुयान के जेट पवनों के भँवर में फँसने का जोखिम भी रहता है।

प्र.9. मौसमी या मानसूनी पवनों को परिभाषित कीजिए।

उत्तर

मौसमी या मानसूनी पवनें
(Seasonal or Monsoon Winds)

'मानसून' शब्द अरबी भाषा के 'मौसिम' से बना है, जिसका तात्पर्य मौसम या ऋतु से है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरब सागर पर बहने वाली हवाओं के लिए किया गया था, जिनकी दिशा वर्ष में दो बार (ग्रीष्मकाल व शीतकाल) पूर्णत: बदल जाती है। उपोष्ण कटिबन्ध के कुछ महाद्वीपीय भाग ऐसे हैं जहाँ वायुदाब व्यवस्था मौसम के अनुसार पूरी तरह बदल जाती है। अत: वायु दिशा भी उसी आधार पर बदल जाती है। मानसून हवाओं की दिशा परिवर्तन ही एकमात्र विशेषता नहीं है। सामान्य रूप में मानसूनी हवाएँ धरातल की संवहनीय क्रम है, जिसकी उत्पत्ति स्थल तथा जल के विपरीत स्वभाव तथा तापीय भिन्नता के कारण होती है। ऐसी दशा दक्षिणी एवं पूर्वी एशिया में विशेषत: पाई जाती है। दक्षिणी एशिया में विकसित इस व्यवस्था को उष्ण कटिबन्धीय मानसून एवं चीन व निकटवर्ती भागों के ऊँचे अक्षांशों में विकसित व्यवस्था को शीतोष्ण कटिबन्धीय मानसून कहते हैं। भारत में मानसूनी हवाएँ ग्रीष्म में प्राय: दक्षिण-पश्चिम दिशा से एवं सर्दियों में उत्तर-पूर्व से चलती हैं, जबकि चीन में ग्रीष्म काल में पूर्व से एवं शीतकाल में पश्चिम से चलती हैं। अत: जब भी पवनें समुद्र की ओर से चलती हैं, तब सारे प्रभावित प्रदेश में धरातल के अनुसार वर्षा हो जाती है। इसीलिए मानसूनी वर्षा को 'पार्वत्य या धरातलीय वर्षा' भी कहते हैं।

प्र.10. सामयिक स्थानीय पवनों के बारे में आप क्या जानते हैं? संक्षिप्त उत्तर दीजिए।

उत्तर

सामयिक स्थानीय पवनें
(Periodical Local Winds)

समुद्रतटीय प्रदेशों में क्रमश: दिन में स्थल गर्म होने एवं रात्रि को जल के शीघ्र ठण्डा नहीं होकर गर्म बने रहने से वहाँ पवनें नियमित रूप से चलती हैं। इन्हें 'सामयिक पवनें' भी कह सकते हैं। ये सिर्फ तटीय भागों (8-10 किमी) तक ही प्रभावी रहती हैं, अत: इनका प्रभाव स्थानीय ही बना रहता है। इसी कारण ये सामयिक स्थानीय पवनें कही जाती हैं।

1. **स्थलीय समीर**—स्थलीय भाग को दिन में सूर्य की किरणें जल्द गर्म कर देती हैं तथा रात्रि में यही भाग शीघ्र ठण्डा हो जाता है। इसी कारण स्थल की पवनें रात्रि में जल्दी ही ठण्डी भी हो जाती हैं। रात्रि के समय समुद्री जल अपेक्षाकृत गर्म रहता है। इसी तापीय भिन्नता के कारण रात्रि को स्थल से जल की ओर पवनें चलती हैं। इन पवनों को ही स्थलीय समीर कहते हैं। वायुमण्डल में इनकी अधिक-से-अधिक ऊँचाई 100 मीटर तक मानी गई है। ये पवनें शुष्क होने से वर्षा नहीं करती हैं।
2. **सागरीय समीर**—सागर की ओर से स्थल की ओर चलने वाली पवन को सागरीय समीर कहते हैं। दिन में जल की अपेक्षा स्थल शीघ्र गर्म हो जाता है। अत: स्थलीय भाग पर निम्न वायुदाब तथा जलीय भाग पर उच्च वायुदाब रहता है। इसी से सागर की ओर से पवनें चलती हैं। सागरीय समीर भी वायुमण्डल में अधिक ऊँचाई तक नहीं चलती हैं। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि यह बड़ी झीलों के पास 200-250 मीटर की ऊँचाई तक तथा सागरों के निकट कुछ अधिक ऊँचाई पर प्रवाहित होती हैं। इनकी गति विभिन्न कटिबन्धों में 10 से 30 किमी प्रति घण्टा रहती है। इन पवनों से कभी-कभी तापमान 6°C-10°C तक गिर सकता है। सागरीय समीर कभी-कभी तटीय भागों पर घना कोहरा अथवा हल्की वर्षा भी कर देती है।
3. **घाटी तथा पर्वत समीर**—पर्वत तथा घाटी समीर भी जलीय तथा स्थलीय पवनों की भाँति सामयिक एवं लघु क्षेत्रीय पवनें होती हैं। यह भी दैनिक वायुभार में स्थानीय परिवर्तन के कारण चला करती हैं। दिन में सूर्य की किरणों से गर्म होकर पर्वत घाटियों की हल्की हवाएँ ऊपर चोटियों तक पहुँचती हैं, इन्हें घाटी समीर (Valley Breeze) कहते हैं। यही हवाएँ रात्रि के समय ठण्डी व भारी होकर धीरे-धीरे पर्वतों के ढालों के सहारे नीचे घाटियों में एकत्रित हो जाती हैं। इन्हें पर्वत समीर (Mountain Breeze) कहते हैं। ऐसी हवाओं के प्रभाव से ही ताप विलोमता विकसित होती है। रात्रि में जहाँ घाटी की तली में पाले की स्थिति रहती है, वहीं ऊपरी भाग में तापमान अधिक रहता है। इस प्रकार की पवनों का उदाहरण आल्पस पर्वत की घाटियों में एवं शीतोष्ण प्रदेशों में 35°C से 50°C अक्षांशों के मध्य अधिक मिलता है। भारत में हिमाचल प्रदेश में ऐसी दशाएँ विकसित होती देखी गयी हैं।

प्र.11. वायुमण्डल को प्रभावित करने वाले कारकों पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर

वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting the Atmospheric Pressure)

भूपृष्ठ पर वायुदाब का वितरण समान नहीं है तथा यह कभी स्थिर भी नहीं रहता है। वायुदाब के वितरण को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्न हैं—

1. **तापमान**—तापमान एवं वायुदाब में विपरीत सम्बन्ध होता है। जब तापमान ऊँचे रहते हैं, तो वायुदाब घटने लगता है एवं जब तापमान नीचे रहते हैं तो वायुदाब बढ़ने लगता है। इसी कारण जब थर्मामीटर में पारा ऊँचा होता है तो बैरोमीटर में नीचा होता है तथा थर्मामीटर में नीचा होता है, तो बैरोमीटर में ऊँचा होता है। अधिक तापमान होने पर वायु गर्म होकर फैलती है, इससे वायु का आयतन बढ़ जाता है तथा भार कम हो जाता है। इसी प्रकार ताप घटने पर वायु ठण्डी होकर सिकुड़ती है जिससे उसका भार बढ़ जाता है। इसी कारण तापमान ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं, वायुदाब घटता जाता है। तापमानों के कारण ही विषुवतरेखीय प्रदेशों में स्थायी निम्न भार एवं ध्रुवीय प्रदेशों में स्थायी उच्च भार की पेटियों का विकास हुआ है।
2. **आर्द्रता**—वायुदाब को प्रभावित करने में आर्द्रता या जलवाष्प का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। जलवाष्प वायु से हल्की होती है, अत: वायु में जितनी जलवाष्प उपस्थित होगी, वायु उतनी ही हल्की होगी एवं उसका दबाव भी कम होगा। शुष्क वायु में आर्द्र वायु की तुलना में भार अधिक होता है। स्थल पर शुष्क वायु के कारण वायुदाब अधिक रहता है, जबकि सागरों पर अधिक नमी के कारण वायुदाब कम पाया जाता है। मौसम के अनुसार वायु में जलवाष्प की मात्रा कम-ज्यादा होती रहती है, अत: वायुदाब में भी परिवर्तन होता रहता है।
3. **ऊँचाई**—वायुदाब का ऊँचाई से भी निकट का सम्बन्ध है। ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढ़ती जाती है, वायुदाब घटता जाता है। समुद्र तल पर वायुदाब सबसे अधिक रहता है, क्योंकि वायुमण्डल की समस्त ऊपरी स्तरों का दबाव यहाँ पड़ता है। प्रारम्भ में ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायुदाब धीमी गति से गिरता है, किन्तु अधिक ऊँचाई पर वायुदाब तेजी से गिरता है। सामान्यत: प्रथम 5.5 किमी की ऊँचाई पर कुल वायु का आधा भार होता है। अधिक ऊँचाई पर वायु विरल वा हल्की होती जाती है। समुद्र तल पर औसत वायुदाब 1,013.25 मिलीबार रहता है, वहीं 300 मीटर की ऊँचाई पर 976.5 मिलीबार रह जाता है। यही वायुदाब 5,500 मीटर की ऊँचाई पर गिरकर 506 मिलीबार रह जाता है। इस ऊँचाई पर ऑक्सीजन में एकदम कमी आने लगती है, इसी कारण अधिक ऊँचाई पर श्वास लेने में कठिनाई होती है।
4. **पृथ्वी की दैनिक गति**—पृथ्वी की दैनिक गति वायुमण्डलीय दाब को अत्यधिक प्रभावित करती है। घूमती हुई पृथ्वी में हर वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, भूमध्य रेखा पर अधिक गर्म हवाएँ ऊपर उठकर और ठण्डी होकर 30°C से 35°C अक्षांशों पर ही उतर आती हैं। पृथ्वी के घूर्णन के कारण ही उपध्रुवीय क्षेत्रों से भी पवनें मध्यवर्ती या अश्व अक्षांशों में नीचे उतरती हैं। इससे मध्यवर्ती अक्षांशों पर वायुमण्डलीय दाब अत्यधिक बढ़ जाता है एवं पवनें शान्त रहती हैं।
5. **वायुदाब का दैनिक परिवर्तन**—दैनिक परिवर्तन से अभिप्राय दिन और रात के समय वायुमण्डलीय दाब में होने वाले परिवर्तन से है। दोपहर के समय भीतरी स्थलीय भागों पर बैरोमीटर में दाब की जो स्थिति होती है, वह सागर तट के भागों से भिन्न होती है, जबकि रात के समय सागर तल पर बैरोमीटर में पारे का उतार-चढ़ाव कम पाया जाता है। बैरोमीटर में पारे का अत्यधिक उतार-चढ़ाव भूमध्यरेखीय प्रदेशों के निकट ही अधिक पाया जाता है। 60°C उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों से ध्रुवों के मध्य वायुदाब का दैनिक परिवर्तन नहीं के बराबर हो जाता है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पृथ्वी के ऊष्मा सन्तुलन या ताप बजट का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर

पृथ्वी का ताप बजट या ऊष्मा सन्तुलन
(Heat Budget of Earth)

पृथ्वी की ओर सूर्य की जितनी ऊर्जा प्रसारित होती है, उसका एक बड़ा भाग वायुमण्डल की ऊपरी परतों से प्रतिबिम्बित होकर पुन: बाह्याकाश में विकिरित हो जाता है। शेष ऊर्जा का कुछ भाग वायुमण्डल की गैसें, धूलकण एवं जलवाष्प अनेक प्रकार से

ग्रहण करती रहती हैं। प्रारम्भ में आयनमण्डल एवं ओजोनमण्डल सूर्यातप की अधिकांश घातक किरणों (एक्स, ब्रह्माण्ड, गामा व पराबैंगनी किरणों) को अपने में अवशोषित कर लेते हैं। वायुमण्डल की निचली परतों में उपस्थित जलवाष्प, धूल के कण एवं बादल मिलकर सूर्यातप को बिखेरकर (Scatter), परावर्तित (Reflection) कर एवं थोड़ी मात्रा में सोखकर मार्ग में ही खर्च कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, आते हुए सूर्यातप का 10 प्रतिशत भाग जलमण्डल की सतह द्वारा भी पृथ्वी को बिना गरम किए वायुमण्डल में पुन: परावर्तित कर दिया जाता है। इस प्रकार भूतल को मात्र 42 से 45 प्रतिशत सूर्यातप ही प्राप्त होता है। इसमें थोड़ा-सा अन्तर आने पर भी भूतल पर अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। हमारे रेडियो एवं टेलीविजन प्रसारण में बाधा तथा दूर संदेश में व्यवधान इसी कारण आता है। सम्पूर्ण सूर्यातप का 2 प्रतिशत **भाग** पृथ्वी तल से सीधे ब्रह्माण्ड में परावर्तित हो जाता है, इससे बाहरी आकाश में पृथ्वी चमकीली दिखाई देती है।

सूर्य से निकले कुल ताप का मात्र 1/2 अरबवाँ भाग ही पृथ्वी तक पहुँचता है। **सैलर्स** के अनुसार वायुमण्डल में प्रवेश करने वाली कुल 100 प्रतिशत ऊर्जा का परिचालन या बजट निम्नानुसार है—

अन्तरिक्ष में परावर्तन (Reflection)—

बादलों द्वारा	23%	
गैस, धूल तथा जलवाष्प द्वारा	6%	
भूपृष्ठ, जलाशय, हिम व बालू द्वारा	7%	= 36%

वायुमण्डल में अवशोषण (Absorption)

बादलों द्वारा	3%	
ओजोन व अन्य गैसों द्वारा	14%	= 17%
धरातल द्वारा अवशोषण (जो पुन: वायुमण्डल को विकिरित होता है)		47%
कुल		100%

किम्बाल के अनुसार सूर्यातप का मात्र 43% भाग ही पृथ्वी तक पहुँचता है।

किम्बाल के अनुसार पृथ्वी का ताप बजट

कुल सौर विकिरण	100%
वायुमण्डल की ऊपरी परतों द्वारा पुन: परावर्तन	42%
जलवाष्प एवं धूलकणों द्वारा अवशोषण व बिखेरना	15%
पृथ्वी तल पर पहुँचना	43%
	100%

चूँकि सौर ऊर्जा का कोई भी भाग पृथ्वी स्वयं ग्रहण नहीं करती है एवं पृथ्वी तल पर आने वाला समस्त सूर्यातप विकिरित होकर पुन: चला जाता है, अत: पृथ्वी को निरपेक्ष निकाय (Black body) कहते हैं। पृथ्वी भूतापीय लहरों के माध्यम से अवशोषित सूर्यातप को वायुमण्डल में विकिरित करती है, इसे पार्थिव विकिरण (Terrestrial radiation) कहते है। पार्थिव विकिरण दीर्घ तरंगों द्वारा सूर्यातप को विकिरित करता है।

पृथ्वी की ओर आते हुए सूर्यातप का वितरण भी पृथ्वी के सभी भागों में समान नहीं है, क्योंकि पृथ्वी अपनी अक्ष पर झुकी हुई है। सूर्य इसके कुछ ही भागों में थोड़े-थोड़े समय के लिए लम्बवत् चमकता है। अत: सर्वाधिक सूर्यातप कर्क रेखा व मकर रेखा के मध्यवर्ती भाग में वितरित हो जाता है। भूतल पर सूर्यातप की न्यूनतम प्राप्ति ध्रुवीय वृत्त तथा ध्रुवों के मध्य होती है। यहाँ पर सूर्य की किरणें अधिक तिरछी पड़ती हैं एवं उन्हें विषुवत् रेखा की तुलना में 4 से 11 गुना वायुमण्डल को पार करना पड़ता है। कुल मिलाकर सूर्यातप के वितरण पर सबसे अधिक प्रभाव वायुमण्डल में हुए इसके अवशोषण (Absorption), परावर्तन (Reflection) एवं प्रकीर्णन (Scattering) की क्रियाओं का पड़ता है। सर्वाधिक सूर्यातप निम्न अक्षांशों में प्राप्त होता है, अत: यहाँ वर्षभर गरम वातावरण बना रहता है। मध्यवर्ती अक्षांशों में सूर्यातप की प्राप्ति (आयन वृत्तों एवं ध्रुवीय वृत्तों के मध्य) सूर्य की उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्ध की स्थिति के अनुसार रहती है। जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में रहता है तो उत्तरी भाग के तापमान ऊँचे रहते हैं

(मार्च से सितम्बर), इससे ठीक विपरीत स्थिति दक्षिणी गोलार्द्ध में रहती है। अत: प्रत्येक गोलार्द्ध में गर्मी व सर्दी की स्पष्टत: दो ऋतुएँ होती हैं। ध्रुवीय या उच्च अक्षांशीय प्रदेश में सूर्य की किरणें सदैव तिरछी पड़ती हैं एवं विपरीत गोलार्द्ध में ध्रुवों पर महीनों तक सूर्य नहीं दिखाई देता। अत: यहाँ सबसे कम सूर्यातप प्राप्त होता है।

प्र.2. भूतल पर सूर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

उत्तर

भूतल पर सूर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting the Distribution of Insolation on the Earth)

भूतल पर सूर्यातप का वितरण सर्वत्र समान नहीं है। यद्यपि सूर्य से पृथ्वी की ओर समान मात्रा में सूर्यातप प्राप्त होता है, किन्तु पृथ्वी पर इसके वितरण को मुख्यत: निम्न कारक प्रभावित करते हैं—

1. **सूर्य किरणों का कोण**—पृथ्वी पर विषुवत् रेखा के निकट के भागों में ही सूर्य की किरणें सीधी चमकती हैं। इसके उत्तर एवं दक्षिण की ओर इनका कोण बढ़ता जाता है। पृथ्वी अपनी समकोणीय स्थिति से $23\frac{1}{2}°$ के झुकाव पर रहती है। अत: सूर्य 6 माह उत्तरी गोलार्द्ध (उत्तरायण स्थिति) में एवं शेष 6 माह दक्षिणी गोलार्द्ध (दक्षिणायण स्थिति) में रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा व विषुवत् रेखा के मध्य तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में विषुवत् रेखा व मकर रेखा के मध्य प्राय: सूर्य की किरणें लम्बवत् चमकती हैं। अत: निचले अक्षांशों में पृथ्वी के अन्य भागों की तुलना में अधिक सूर्यातप प्राप्त होता है। इससे कम सूर्यातप मध्यवर्ती अक्षांशों पर प्राप्त होता है। अयन वृत्तों से ध्रुवीय वृत्तों की ओर जाने पर सूर्य की किरणों का तिरछापन बढ़ता जाता है। सूर्य की किरणों के तिरछेपन में वृद्धि होने से ही स्थान विशेष पर सौर ऊर्जा कम प्राप्त होती है जैसा कि निम्न चित्र में दर्शाया गया है। तिरछी किरणें अधिक हिस्से में फैल जाने से उस स्थान विशेष को कम ताप मिलेगा। इसी कारण सबसे कम सूर्यातप ध्रुवीय प्रदेशों को प्राप्त होता है। यहाँ पर सूर्य की किरणें भूतल से लगभग क्षैतिज स्थिति में होती हैं।
2. **वायुमण्डल की मोटाई**—सूर्यातप वायुमण्डल को पार करके पृथ्वी तक पहुँचता है। विषुवत् रेखा के निकट वायुमण्डल की मोटाई सर्वाधिक होने के उपरान्त भी सूर्य की किरणें सीधी पड़ने के कारण वहाँ सबसे अधिक सूर्यातप प्राप्त होता है। मध्यवर्ती अक्षांशों में 40°C अक्षांश के आस-पास सूर्यातप को वायुमण्डल की दुगनी मोटाई पार करनी पड़ती है, क्योंकि यहाँ पर सूर्य की किरणें तिरछी रहकर वायुमण्डल पार करती हैं। अत: यहाँ पहले वाली स्थिति से अपेक्षाकृत कम सूर्यातप प्राप्त होता है। इसी भाँति $66\frac{1}{2}°$ के पश्चात् सूर्य की किरणें अधिक तिरछी होने के कारण उन्हें विषुवत् रेखा की तुलना में 4 गुना वायुमण्डल अधिक पार करना पड़ता है। अत: यहाँ सबसे कम सूर्यातप प्राप्त होगा। इस प्रकार सूर्य किरणों को जितना अधिक वायुमण्डल का मार्ग पार करना होगा, उतना ही अधिक सूर्यातप गैसों, वाष्प, धूल के कण, अयन, ओजोन, विशेष गैसें, बादल आदि द्वारा सोखने, बिखेरने व परावर्तन की क्रिया द्वारा मार्ग में नष्ट होता जाएगा। जहाँ सूर्यातप कम प्राप्त होगा वहाँ तापमान एवं गर्मी भी कम मिलेगी। ध्रुवों के निकट तो लगभग क्षैतिज स्थिति वाली किरणों को सात वायुमण्डलों के बराबर की मोटाई पार करनी होती है।
3. **दिन की लम्बाई**—पृथ्वी यदि अपने लम्बवत् अक्ष पर झुकी नहीं होती तो विश्व के सभी भागों में दिन-रात की लम्बाई वर्ष भर समान रहती, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पृथ्वी लम्बवत् अक्ष से $23\frac{1}{2}°$ के कोण पर झुकी हुई है। सिर्फ 21 मार्च एवं 23 सितम्बर को ही सूर्य विषुवत् रेखा पर सीधा चमकता है, तब विश्व भर में दिन-रात बराबर होने से इसे विषुव (Equinox) कहते हैं। 22 दिसम्बर एवं 21 जून को सूर्य क्रमश: मकर रेखा एवं कर्क रेखा पर सीधा चमकता है, इसे अयनांत (Solstice) कहते हैं। तब क्रमश: दक्षिणी एवं उत्तरी गोलार्द्ध में दिनों की लम्बाई तेजी से बढ़ती है। 21 जून को विषुवत् रेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर दिन की लम्बाई बढ़ती जाती है। यह कर्क रेखा पर 13 घण्टा 48 मिनट, ध्रुवीय वृत्त ($66\frac{1}{2}°$) पर 24 घण्टे एवं उत्तरी ध्रुव पर 6 माह (21 मार्च को सूर्योदय एवं 23 सितम्बर को सूर्यास्त) होती है। ठीक यही स्थिति 22 दिसम्बर को दक्षिणी गोलार्द्ध एवं दक्षिणी ध्रुव की रहती है।

   सूर्यातप दिन की लम्बाई के अनुसार प्राप्त होता है। जून में उत्तरी गोलार्द्ध एवं दिसम्बर में दक्षिणी गोलार्द्ध को सबसे लम्बे दिन होने से सर्वाधिक सूर्यातप प्राप्त होता है, किन्तु ध्रुवों की ओर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने एवं अधिक वायुमण्डल की मोटाई पार करने के कारण सूर्यातप की सघनता ठीक उसी तरह घट जाती है जैसे कि किसी स्थान पर प्रात: (तिरछी किरण) एवं दोपहर (सीधी किरण) के मध्य की उष्णता में अन्तर पाया जाता है।

विभिन्न अक्षांशों में सूर्यातप की अधिकतम सम्भावित अवधि

अक्षांश	दिन की अवधि
0°	12 घण्टे
17°	13 घण्टे
41°	15 घण्टे
49°	16 घण्टे
63°	20 घण्टे
$66\frac{1}{2}°$	24 घण्टे
67°21′	1 माह
90°	6 माह

उपर्युक्त तीनों कारण ग्लोब के सभी भागों में समान रूप से सूर्यातप वितरण को प्रभावित करते हैं।

4. **जल-थल का वितरण**—पृथ्वी के 71% भाग पर जलमण्डल एवं 29% भाग पर स्थलमण्डल का विस्तार है। जल में गहराई तक किरणें पहुँचने, उसमें गतिशीलता रहने, भूमि से 2.5 गुना अधिक ऊष्मा ग्रहण करने की क्षमता होने, सूर्यातप का जल की सतह से परावर्तित होने एवं गर्मी का एक भाग वाष्पीकरण से नष्ट होने जैसी विशेषताओं के कारण पानी बहुत धीरे-धीरे गर्म होता है एवं धीरे-धीरे ही ठण्डा होता है। इसी प्रकार पानी की सतह से सूर्यातप का 30 से 50 प्रतिशत भाग परावर्तित हो जाता है। अत: जल राशियाँ एवं समुद्रतटीय भाग धीमी गति से ठण्डे एवं गर्म होते हैं। जो स्थान समुद्र के किनारे या द्वीपों पर हैं वहाँ सूर्यातप का प्रभाव समरूपी रहता है, अर्थात् दिन-रात एवं ग्रीष्म तथा शीतकाल के तापमान में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। महाद्वीपों के भीतरी भागों में सूर्यातप की ऋतुवार प्राप्ति एवं तापमान का वितरण दोनों ही विषम रहते हैं। ऐसे भागों में गर्मियों में खूब गर्मी एवं सर्दियों में विशेष ठण्ड पड़ती है।
5. **सौर कलंकों की संख्या**—जब भी सूर्य के तल पर अधिक बड़े कलंक पैदा होते हैं, तो सूर्य से अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। इनकी संख्या कम होने पर विकिरण में न्यूनता दिखाई पड़ती है। सूर्य की सतह पर प्रति ग्यारह वर्ष में एक बार सौर कलंकों में तेजी से वृद्धि होती है, तब तापमान, चुम्बकत्व व रेडियो तरंगों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।
6. **समुद्र तल से ऊँचाई**—ज्यों-ज्यों अधिक ऊँचाई पर जाते हैं, वहाँ सूर्य की किरणें तो प्रखर होती हैं किन्तु वायु के विरल होने से तापमान घटते हैं। ऊँचाई पर धूल के कण कम होने, वायुमण्डल विरल रहने तथा समुद्र तल से ऊँचाई बढ़ने से धूप में तो तापमान एकदम ऊँचा रहता है, जबकि छाया वाले भाग में इसी समय तापमान विशेष नीचे रहते हैं। चूँकि सूर्यातप से पहले पृथ्वी तल गर्म होता है, उसके बाद वायुमण्डल की निचली परतें गर्म होती हैं। यही निचली परतें ऊपरी परतों को गर्म करती हैं। अत: अधिक ऊँचाई पर सूर्यातप का विकिरण भी शीघ्र होता है। इसी कारण तिब्बत के पठार पर, जहाँ धूप में चमड़ी जलने लगती है, वहीं छाया वाले क्षेत्र में जाने पर ठण्ड से कँपकँपी छूटती है।
7. **धरातल का रंग**—कहीं धरातल का रंग हल्का व सफेद है तो कहीं पीला या गहरे काले रंग का होता है। अधिकांश धरातल खुरदरा व ऊबड़-खाबड़ है तो हिम तथा रेतीली मरुभूमि का समतलप्राय रहता है। कहीं धरातल पर घने वन व घास के क्षेत्र फैले हैं, तो कहीं वनस्पतिविहीन बंजर क्षेत्र हैं। इन सबका प्रभाव सम्बन्धित धरातल की ओर आते हुए सूर्यातप के अवशोषण के स्वरूप पर पड़ता है। सामान्यत: शुष्क, विषम, रेतीले, गहरे रंग के व वनस्पतिविहीन तल तेजी से सूर्यातप ग्रहण करते हैं और शीघ्र विकिरित भी कर देते हैं। बर्फ से ढकी सतह अधिकांश सूर्यातप का तत्काल परावर्तन कर देती है। अन्य हल्के रंग के धरातल अपेक्षतया धीमी गति से सूर्यातप प्राप्त कर अवशोषित करते हैं। अत: ऐसे क्षेत्रों से ताप विकिरण भी धीरे-धीरे होता है। काली मिट्टी वाले क्षेत्रों में सूर्यातप का शोषण शीघ्र होता है।
8. **धरातल की प्रकृति**—धरातल की प्रकृति भी सूर्यातप को प्रभावित करती है। साधारण धरातल पथरीले एवं बर्फीले धरातल की अपेक्षा शीघ्र गर्म हो जाता है, क्योंकि पथरीले व बर्फीले प्रदेशों की सतह चिकनी एवं चमकदार होती है; अत: ताप को अधिक परावर्तित करती है। मिट्टियों में भी बलुई तथा भुरभुरी मिट्टियों में ताप संचालन तीव्र गति से होने से ताप की प्राप्ति तथा नाश शीघ्र होता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.3. स्थानीय पवनें क्या हैं? विश्व की प्रमुख स्थानीय पवनों का वर्णन विस्तारपूर्वक कीजिए।

उत्तर

स्थानीय पवनें
(Local Winds)

किसी स्थान विशेष पर चलने वाली पवनें स्थानीय पवनें कहलाती हैं। ऐसी पवनें विशेष स्थान की धरातलीय व जलवायु की विशेषता से अधिक सम्बन्धित होती हैं। ये ठण्डी तथा गर्म दोनों प्रकार की हो सकती हैं। ऐसी पवनें प्रभावित प्रदेश के मानव जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं। स्थानीय पवनों में चिनूक, फोहन, सिरोक्को, मिस्ट्रल, बोरा, लिजार्ड, लू आदि प्रमुख हैं—

1. **चिनूक** (Chinook)—चिनूक पवनों का प्रभाव प्रेयरी मैदान (संयुक्त राज्य अमेरिका एवं दक्षिणी कनाडा) में विशेष रहता है। रॉकी पर्वत श्रेणियों को जब आर्द्र पछुआ पवनें पार करती हैं, तब पश्चिमी ढालों पर भारी वर्षा करती हैं। वर्षा करने के उपरान्त यही पवनें जब पर्वतों के पूर्वी ढालों की ओर उतरती हैं, तो उतरते समय शीघ्र शुष्क एवं गर्म हो जाती हैं। इस प्रकार दक्षिणी-पश्चिमी कनाडा तथा निकट के संयुक्त राज्य अमेरिका की पर्वत श्रेणियों के पूर्वी ढालों की ओर ये पवनें चलती हैं। यहीं पर इन पवनों को चिनूक नाम दिया गया है। जब शुष्क व उष्ण चिनूक हवाएँ उत्तरी अमेरिका के महान प्रेयरी मैदान में प्रवेश करती हैं, तो शीतकाल में वहाँ के तापमान बढ़ा देती हैं। इनसे 24 घण्टे में 5° से 10° तापमान बढ़ सकते हैं। इसी कारण शीतकाल के अन्तिम दिनों में कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेयरी के मैदान की बर्फ पिघल जाती है। इससे यहाँ पर्याप्त नमी मिलती है। इसी नमी के प्रभाव से वहाँ गेहूँ की बुवाई 15-20 दिन पूर्व ही सम्भव हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से चिनूक पवनों का यहाँ के अर्थतन्त्र में विशेष महत्व है।
2. **फोहन** (Fohn)—चिनूक पवनों के समान गुणों वाली फोहन पवनें आल्पस पर्वतों के उत्तर की ओर से घाटियों के ढालों के सहारे-सहारे उतरती हैं। जब कभी यूरोप में शक्तिशाली चक्रवात प्रवेश करता है तो आल्पस के दक्षिण-पश्चिमी ढालों पर वर्षा होती है। वर्षा करने के उपरान्त यही पवनें उत्तर की ओर उतरते समय शुष्क तथा गर्म हो जाती हैं। इनसे उत्तरी मैदानों का तापमान 8-10°C बढ़ जाता है तथा बर्फ पिघल जाती है। इसके परिणामस्वरूप मैदानों में घास उग जाती है और पशुओं के लिए चरागाह तैयार हो जाते हैं। पर्याप्त नमी हो जाने के कारण यहाँ गेहूँ, चुकन्दर, जई, राई, सन आदि की कृषि शीघ्र प्रारम्भ की जा सकती है।
3. **सिरोक्को** (Sirocco)—अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान में उत्पन्न होने वाली सिरोक्को पवनें गर्म, शुष्क तथा रेतीली होती हैं। जब कभी सहारा में सघन उच्च वायुदाब पैदा हो जाता है और भूमध्य सागर पर निम्न दाब की स्थिति रहती है, तब ये पवनें सहारा के मैदान से भूमध्य सागर की ओर बड़ी तेजी से चलती हैं। भूमध्य सागर से यह नमी सोख लेती हैं और आगे सिसली द्वीप, इटली तथा स्पेन में प्रवेश कर धूलयुक्त वर्षा करती हैं। इनको अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। इटली में सिरोक्को, सहारा में सिमूम, लीबिया में गिबली, ट्यूनिशिया में चिली आदि। सिरोक्को पवनों का वसन्त ऋतु में अधिक जोर रहता है, क्योंकि तब भूमध्य सागर में भी चक्रवात अधिक आते हैं। ये पवनें प्राय: दो या तीन दिन लगातार चलती रहती हैं, जो फसलों के लिए काफी हानिकारक होती हैं। कभी-कभी तो सिसली द्वीप और इटली में जब जैतून तथा अंगूरों की बेलों पर फूल आ रहे होते हैं, उसी समय इन पवनों का प्रकोप होता है, तो सारे फूल झड़कर गिर जाते हैं।
4. **मिस्ट्रल** (Mistral)—मिस्ट्रल पवनें मुख्य रूप से फ्रांस तथा स्पेन में चलती हैं। ये उत्तर-पश्चिम दिशा से फ्रांस तथा स्पेन में प्रवेश करती हैं और भूमध्य सागर के उत्तर-पश्चिम तटों तक पहुँचती हैं। ध्रुवीय पवन होने व शीतकाल में ही चलने से ये अधिक शुष्क तथा ठण्डी होती हैं। जब ये फ्रांस की तंग घाटी से होकर गुजरती हैं, तो इनकी गति साधारणत: 50 से 65 किमी प्रति घण्टा एवं कभी-कभी 120 किमी प्रति घण्टा तक हो जाती है। इन पवनों का तापमान 0°C से नीचे ही रहता है। इनके तेज प्रवाह से बचने के लिए लोग कतारों में पेड़ तथा झाड़ियाँ लगाते हैं, जिससे इनकी गति में कुछ कमी आ जाती है।
5. **ब्लिजार्ड** (Blizard)—ब्लिजार्ड का दूसरा नाम हिम झंझावात या बर्फ की आँधी भी है। ये पवनें मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा साइबेरिया के मैदान में चला करती हैं। इनकी गति 80 से 90 किमी प्रति घण्टा तक होती है। उत्तरी ध्रुवीय प्रदेशों में ये कई दिन तक चलती रहती हैं। इनके चलने से घरों के आस-पास कई-कई फीट तक बर्फ जम जाती है। कभी-कभी मध्य एशियाई प्रदेशों तक इनका प्रकोप रहता है। कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में इनको नार्दर्न (Northern) और साइबेरिया के मैदान में बुरान (Buran) कहकर पुकारते हैं।

प्र.4. जेट स्ट्रीम (धारा) का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

जेट स्ट्रीम (धारा)
(Jet Stream)

आधुनिक काल में पवनों का अध्ययन जलवायु व मौसम विज्ञान, जीवविज्ञान, पर्यावरणीय सन्तुलन एवं प्रदूषण जैसे अनेक तथ्यों को समझने के लिए किया जाता है। इसी सन्दर्भ में विक्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा पर बहने वाली जेट स्ट्रीम पवनों का अध्ययन निरन्तर महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। जेट धारा का सर्वप्रथम ज्ञान द्वितीय विश्व युद्ध के समय अधिक ऊँचाई पर उड़ने वाले बमवर्षक वायुयानों ने अपने रडार यन्त्रों पर चिह्नित किया था। तभी से इनका अध्ययन अमेरिका एवं यूरोप के मौसम विज्ञानवेत्ताओं द्वारा निरन्तर किया जाता रहा है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि जेट स्ट्रीम नियमित रूप से एवं विशेष अक्षांशों के बीच विक्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा पर 10 से 13-14 किमी की ऊँचाई के मध्य बहने वाली पवनें हैं। इनके बारे में निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं—

1. ये पवनें विक्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा पर 20°-25°C अक्षांशों से 50°-55°C अक्षांशों के मध्य विशेष प्रभावी रहती हैं। उत्तरी अमेरिका एवं यूरेशिया महाद्वीपों के पूर्वी भागों में उपर्युक्त अक्षांशों में इनका विकास निरन्तर होता रहता है। भारतीय उपमहाद्वीप में इनके विकास के लिए 16°-18°C उत्तरी अक्षांश के निकट अनुकूल दशाएँ पाई जाती हैं। ये पवनें भारत में कुछ समय के लिए प्रवाहित होती हैं।
2. इनका मार्ग लहरदार एवं दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर रहती है। यह एक प्रकार से मोटे हौज पाइप में तेज गति से प्रवाहित जल की भाँति बहती हैं। कई बार इनके लहरदार मार्ग में मोड़ या वक्रता अधिक होने पर यह दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर भी बहने लग जाती हैं।
3. ये तेज गति से एवं संकरे मार्ग में बहने वाली धाराप्रवाह पवनें होती हैं। इनकी गति सामान्यत: बाहरी सीमा पर 150 किमी प्रति घण्टा रहती है जो कि भीतरी भागों में निरन्तर बढ़ती जाती है। ये ग्रीष्मकाल की अपेक्षा शीतकाल में तीव्रता से चलती हैं।
4. इस धारा प्रवाह में ठीक उसी प्रकार भँवर विकसित होते जाते हैं, जैसे कि अधिक पानी वाली नदी में पहाड़ी भागों में पड़ते हैं। इन भँवरों की मोटाई जेट धारा की मोटाई पर निर्भर है जो कि कभी-कभी आधा से एक किमी तक पहुँच सकती है। इनके भीतरी भाग में तेजी से पवन की गति बढ़ती जाती है। यह 150 किमी प्रति घण्टा से बढ़कर प्राय: 450 किमी एवं कभी-कभी 600 किमी प्रति घण्टा तक पहुँच जाती है। ये भँवर भी निरन्तर पश्चिम से पूर्व दिशा में बहते रहते हैं। कभी-कभी यहाँ की पवनें रौद्र रूप धारण करने से गति 1,000 किमी प्रति घण्टा तक पहुँच सकती है।
5. इन पवनों के कुछ कोशों (Cells) में वायु की तीव्र ऊर्ध्वाधर गति भी रहती है। अत: यदि ऐसे में कोई वायुयान इनके प्रवाह मार्ग में आ जाए तो वह तेजी से नीचे या ऊपर उठ सकता है एवं उसकी उड़ान खतरनाक बन सकती है।
6. जेट स्ट्रीम पवनों का विकास यद्यपि वर्षभर होता है, किन्तु शीत ऋतु में ये अधिक सक्रिय रहती हैं।
7. अर्द्धोष्ण प्रदेशों से जो ताप लहरें निचले वायुमण्डल से ऊपरी वायुमण्डलीय भाग को ऊष्मा प्रदान करती हैं, वही इनके विकास का आधार होता है।
8. 30° से 40° अक्षांशों के मध्य की पवनें गर्मी प्राप्त कर तेजी से उत्तरी अक्षांशों को प्रदान करती हैं, इससे वहाँ के शीतल वायुमण्डल में झंझावात एवं विशेष गतिशीलता बन जाती है। इससे जेट स्ट्रीम की क्रियाशीलता बढ़ती जाती है।
9. जेट स्ट्रीम उष्ण प्रदेशों से प्राप्त ऊष्मा को तेजी से 55° अक्षांशों तक उत्तरी गोलार्द्ध में फैलाकर वहाँ पर तापमान कुछ समकारी बनाने में सहायक होती है। साथ ही ठण्डी पवनों के प्रभाव द्वारा भी जेट स्ट्रीम धीरे-धीरे शान्त होकर क्षय होने लगती है।
10. दक्षिणी गोलार्द्ध में सामुद्रिक प्रभाव एवं बर्फीले अण्टार्कटिका महाद्वीप के प्रभाव से ऊपरी वायुमण्डल में ताप लहरें एवं ऊष्मा का प्रभाव बहुत ही सीमित बना रहता है। अत: वहाँ सिर्फ 30° से 40°-45° के मध्य ही स्थानीय रूप से यह छिछली व मन्द गति से अर्द्धविकसित रूप में कहीं-कहीं अंकित की गई हैं। इन पर अभी विशेष प्रेक्षण एवं शोध जारी है।

संक्षेप में, जेट स्ट्रीम की क्रियाशीलता ताप विचलन या अन्तर के स्तर से पूर्णतया प्रभावित रहती है। मध्यवर्ती अक्षांशों में जहाँ कि वाताग्रों का विकास बड़े पैमाने पर होता रहता है, वहाँ अधिक तेजी से उष्ण पवनें एवं ऊष्मा जेट स्ट्रीम के क्षेत्रों में पहुँचती रहती हैं।

अत: इनकी तीव्र क्रियाशीलता 30° से 45° के मध्य सबसे अधिक रहती है। एवं लहरदार मार्ग होने से भँवरों द्वारा तीव्र पवनों एवं गुप्त ऊष्मा का प्रवाह 55° उत्तरी अक्षांश तक स्पष्टत: अंकित किया जाता रहा है।

इस प्रकार अधिक ऊँचाई पर विक्षोभमण्डल में क्षैतिज स्तर पर बड़े पैमाने पर प्रवाही उपर्युक्त उष्ण जेट पवनें सुदूर उत्तर में प्रवाहित होकर ताप विलोमता की दशा विकसित करने के साथ-साथ गिरते हुए तापमान को क्षैतिज परतों में रोक देती हैं। इससे विक्षोभमण्डल से ठीक ऊपर स्थित क्षोभ परत या शान्त पेटी में तापमान का गिरना रुक-सा जाता है एवं समतापमण्डल विशेष में तापीय वितरण की स्थिति विकसित होती है। इसके प्रभाव से उप-ध्रुवीय निम्न भार उत्तरी गोलार्द्ध में सुविकसित बना रहता है।

प्र.5. ग्रहीय, भूमण्डलीय या स्थायी पवनों का सविस्तार विवेचन कीजिए।

उत्तर

ग्रहीय, भूमण्डलीय या स्थायी पवनें
(Planetary, Global or Permanent Winds)

भूपृष्ठ पर पवनें उच्च वायुदाब से निम्न वायुदाब की ओर पृथ्वी की गति एवं फेरल के नियम के अनुसार चलती हैं। अत: जब पवनें स्थायी एवं सनातनी वायुदाब की पेटियों के मध्य चलती हैं तो उन्हें ग्रहीय, सनातनी, भूमण्डलीय या स्थायी पवनें कहते हैं। ग्रहीय पवनें निम्न हैं—

1. **डोलड्रम्स या शान्त पवन की पेटी** (Doldrums or Equatorial Calm Belt)—इस पेटी का विस्तार विषुवत् रेखा के दोनों ओर 5° उत्तर तथा 5° दक्षिण अक्षांशों के मध्य है। ऋतु के अनुसार इसके विस्तार में परिवर्तन भी होता है। यहाँ वर्ष-पर्यन्त तापमान उच्च रहता है। उष्ण धरातल के सम्पर्क में आने से वायुमण्डल की निचली परत गर्म होने से वायु हल्की होकर ऊपर उठती है तथा ऊपरी वायुमण्डल में पहुँचती है। संवहन क्रिया द्वारा इस तरह वायु का लम्बवत् संचार होता रहता है। यहाँ पवन की क्षैतिज गति नगण्य होती है। इस वायु पेटी में अधिक हलचल नहीं होने के कारण इसे शान्त पेटी या डोलड्रम्स कहते हैं। प्राचीन काल में यह प्रदेश पालदार नौकाओं व जहाजों के लिए बहुत कष्टदायक होता था, क्योंकि पवन शान्त होने के कारण उनका चलना मुश्किल था। इस पेटी का विस्तार समस्त भूमण्डल पर न होकर तीन खण्डों में है—(क) पूर्वी अफ्रीका से प्रशान्त महासागर तक हिन्द-प्रशान्त खण्ड, (ख) अफ्रीका का गिनी तट, (ग) मध्य अमेरिका का पश्चिमी तटीय खण्ड।

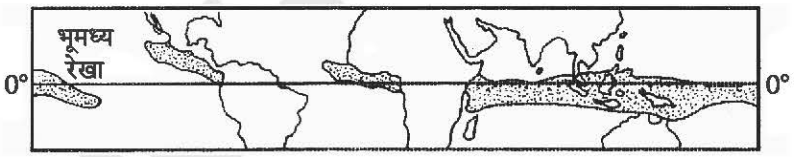

चित्र : विषुवत् रेखीय शान्त खण्ड या डोलड्रम की पेटी का विस्तार

2. **व्यापारिक पवनें** (Trade Winds)—ये पवनें उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब के प्रदेशों से विषुवत् रेखीय निम्न वायुदाब या शान्त पेटी की ओर चलती हैं। प्राचीन काल में पालयुक्त व्यापारिक जलपोतों को इन पवनों से परिवहन में सुविधा होने के कारण इन्हें व्यापारिक पवनें कहा जाने लगा। ये समुद्री भागों में वर्ष-पर्यन्त निर्बाध चलती रहती हैं, जबकि महाद्वीपों पर इनमें काफी परिवर्तन होते रहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में 30° से 35° अक्षांशों में स्थित उपोष्ण उच्च वायुदाब पेटी से विषुवत् रेखा की ओर अर्थात् उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की दिशा में चलने वाली व्यापारिक पवनों को उत्तर-पूर्वी व्यापारिक पवनें कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में 30° से 35° अक्षांश से विषुवत् रेखा की ओर अर्थात् दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की दिशा में प्रवाहित व्यापारिक पवनों को दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक पवनें कहते हैं। व्यापारिक पवनों का उद्गम उष्ण कटिबन्धीय सागरों के पूर्वी भाग से होता है।

   व्यापारिक पवनें अपेक्षत: उच्च अक्षांशों से आने के कारण कुछ ठण्डी होती हैं, अत: इनसे अधिक वर्षा नहीं होती है। समुद्रों में इनकी गति सामान्यत: 15 से 25 किमी प्रति घण्टा होती है। कर्क एवं मकर रेखा के निकट ये पवनें स्थायी रूप से धरातल के निकट चलती हैं, किन्तु विषुवत् रेखा के निकट आर्द्र तथा अव्यवस्थित हो जाने से आँधी-तूफान युक्त मौसम पैदा करती हैं। व्यापारिक पवनें पृथ्वी के लगभग आधे भाग पर चलती हैं। ऋतु परिवर्तन के साथ ही ये उत्तर व दक्षिण की ओर खिसकती रहती हैं। शीतकाल में ये अधिक सक्रिय तथा प्रभावी होती हैं, किन्तु ग्रीष्मकाल में मानसूनों द्वारा कमजोर पड़ जाती हैं।

व्यापारिक पवनें एवं उष्णकटिबन्धीय मरुस्थल (Trade Winds and Tropical Desserts)—व्यापारिक पवनें 20° से 30° अक्षांशों के मध्य महासागरों से महाद्वीपों के पूर्वी तटों की ओर बहती हैं। अत: पूर्वी तट पर ये पवनें अच्छी वर्षा कर देती हैं, जबकि विशाल स्थल खण्डों को पार कर पश्चिमी तट पर स्थल से सागर की ओर बहती हैं। अत: ऐसी पवनें वर्षा नहीं करती, उल्टे यह प्रभावित प्रदेशों की नमी भी सोख लेती हैं। महाद्वीपों के पूर्वी किनारों की अपेक्षा पश्चिमी किनारों पर प्रतिचक्रवाती दशाएँ अधिक तीव्र होती हैं, अत: मेघों का निर्माण नहीं होता है। इसके साथ-साथ महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर इन अक्षांशों में शीतल या ठण्डी धाराएँ भी बहती हैं। दोनों ही प्रतिकूल कारणों से महाद्वीपों के पश्चिमी तटीय भागों में निरन्तर शुष्कता बनी रहने से मरुस्थलीय दशाएँ पाई जाती हैं। महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में इन्हीं अक्षांशों में विश्व के प्रमुख मरुस्थल सहारा, कालाहारी, अटाकामा, प० ऑस्ट्रेलिया, अरब आदि स्थित हैं।

3. **अश्व अक्षांशों की शान्त पेटी** (Horse Lattitudinal)—यह पेटी 30° से 35° अक्षांशों के मध्य पाई जाती है। यहाँ उच्च वायुदाब की स्थायी पेटी विस्तृत होने से पवनें लगभग शान्त रहती हैं। सागरों में पवनें नहीं चलने से मध्ययुगीन पालदार जहाजों को इसे पार करने में विशेष कठिनाई रहती थी। मध्य महासागर में ऐसे समय कभी भी लुटने, डूबने या नष्ट होने का डर बना रहता था। अत: यहाँ पर जहाजों का भार घटाने के लिए व्यापारी घोड़े व भारी सामान सागर में फेंक दिया करते थे। इसी से यह अश्व अक्षांश कहलाए। यहाँ पर शान्त खण्ड का विकास मुख्यत: विषुवत् रेखा से संवहन क्रिया द्वारा जो पवनें ऊपर उठती हैं वे पृथ्वी की दैनिक गति से प्रभावित होकर ध्रुवों की ओर गतिशील होते समय मुड़ती जाती हैं, अत: उनका एक भाग आयन वृत्तों के बाद नीचे उतरने लगता है। नीचे उतरती हुई ये पवनें भारी व शुष्क होने से उच्च वायुदाब का क्षेत्र पैदा करती है। इस प्रकार जहाँ विषुवत् रेखा की शान्त पेटी में वायु आकाश की ओर उठने से बादल की उत्पत्ति करती है वहीं यहाँ वायु आकाश से भूपृष्ठ पर उतरती है। शीतकाल में यह पेटी दक्षिण की ओर खिसक जाने से यहाँ के उत्तरी भाग में पछुआ पवनें बहने लगती है।

4. **पछुआ पवनें एवं ध्रुवीय सीमान्त** (Westerlies and Polar Fronts)—उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च भार की पेटी (अश्व अक्षांशों) से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की पेटी की ओर चलने वाली पवनें पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती हैं। अत: इन्हें पछुआ पवनें कहते हैं। ये पवनें 35° से 65° अक्षांशों के मध्य चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्डों के विशेष विस्तार के प्रभाव से ये शीत ऋतु में अधिक प्रभावी होती हैं तथा अधिक दक्षिणवर्ती मार्ग अपनाकर 28°-30° अक्षांश तक चलती हैं। इनकी गति उत्तरी गोलार्द्ध में सामान्य से धीमी रहती है, किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध की पछुवा पवनें अधिक तेज गति से चलती हैं, क्योंकि 40° अक्षांश से 60° अक्षांश के मध्य खुले महासागरों में स्थलीय बाधाएँ बहुत कम हैं। इन्हें क्रमश: गरजता चालीसा (Roaring forties), दहाड़ता पचासा (Thundering fifties) एवं चीखता साठा (Furious sixties) के नाम से पुकारते हैं।

   पछुआ पवनें जिस क्षेत्र में ध्रुवीय पवनों से मिलती हैं, वहाँ दोनों पवनों में स्पष्टत: विपरीत गुण होने से वाताग्र या सीमान्त (Fronts) बनते हैं। उनकी सीमा को ही ध्रुवीय सीमान्त कहते हैं। यहाँ पछुआ पवनें गर्म सागरों से तर होकर महाद्वीपों के पश्चिमी तटों की ओर उष्ण सीमान्त बनाकर प्रवेश करती हैं। अत: इनके प्रभाव से वहाँ शीतोष्ण चक्रवातों का विकास होता है। यहाँ दो चक्रवातों के मध्य प्रतिचक्रवातीय दशाएँ भी पाई जाती हैं। पछुआ पवनों के मार्ग में चक्रवात अधिक सक्रिय रहते हैं। इन पवनों के प्रभाव से इस पेटी के पश्चिमी भागों में दूर-दूर तक वर्षा होती रहती है। वायुदाब की पेटियाँ खिसकने के कारण ही इनका प्रभाव शीत ऋतु में अश्व अक्षांशों की ओर बढ़ जाता है। इन्हीं अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में भूमध्य सागरीय प्रदेश पाए जाते हैं। मानसूनी पवनों के प्रभाव वाले क्षेत्र में ग्रीष्म काल में पछुआ पवनें लुप्तप्राय हो जाती हैं।

5. **ध्रुवीय पवनें** (Polar Easterlies)—ध्रुवीय या ठण्डे प्रदेशों के उच्चदाब से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब के प्रदेशों की ओर लगभग 68°-70° अक्षांशों तक बहने वाली पवनों को ही ध्रुवीय पवनें कहते हैं। ये अधिक ठण्डी, भारी एवं प्राय: शुष्क होती हैं। इनका प्रवाह क्षेत्र शीतकाल में कुछ अधिक नीचे तक हो जाता है, क्योंकि तब उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपीय उच्च भार की पेटी मौसमी परिवर्तन के प्रभाव में कुछ अधिक निचले अक्षांशों तक (65° के आस-पास) खिसक जाती है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्डों पर उच्च वायुदाब का विशेष विस्तार होने से ये पवनें थोड़े समय के लिए (नवम्बर से फरवरी तक) महाद्वीपों पर तीव्र बर्फीले तूफानों (Blizards) की भाँति चलती हैं। यहाँ ध्रुवीय पूर्वी पवनों एवं आर्द्र पछुआ

पवनों के मिलने से वाताग्र एवं चक्रवातों का विकास एक निरन्तर घटना है। उत्तरी गोलार्द्ध में तीव्र गति से चलने वाली ध्रुवीय पवनों को नॉर ईस्टर कहते हैं।

विश्व स्तर पर ध्रुवीय पवनों के प्रवाह की दिशा भी अनिश्चित है। संयुक्त राज्य अमेरिका व कनाडा में इनकी दिशा पूर्व से होती है जबकि रूस में ये पश्चिम से चलती हैं। अण्टार्कटिका महाद्वीप के तटीय भागों में ये पूर्व से चलती हैं, जबकि आन्तरिक पठार पर पश्चिम से चलती हैं। अण्टार्कटिका महाद्वीप पर स्थायी रूप से प्रतिचक्रवात की दशा होने के कारण ध्रुवीय पवनें हिन्द महासागर की ओर चलती हैं।

प्र.6. वायुमण्डल की परिभाषा देते हुए इसके संघटन को विस्तार से समझाइए।

उत्तर

वायुमण्डल
(Atmosphere)

पृथ्वी के समस्त जीवधारियों को जीवित रहने के लिए वायु की आवश्यकता होती है। सौरमण्डल के अन्य ग्रहों पर वायु के अभाव में ही जीवन नहीं पाया जाता है। पृथ्वी के चारों ओर वायु की अदृश्य परत विद्यमान है, जो एक लिफाफे की भाँति पृथ्वी को घेरे हुए है। यह अनेक गैसों का सम्मिश्रण है जो कि रंगहीन, गन्धहीन व स्वादहीन है। पृथ्वी के चारों ओर फैले वायु के इस आवरण को ही वायुमण्डल कहते हैं। प्रसिद्ध जलवायु विज्ञानवेत्ता **फिन्च** व **ट्रिवार्था** के शब्दों में, "पृथ्वी को चारों ओर से घेरते हुए पृथ्वी ग्रह के अभिन्न अंग के रूप में विस्तृत गैसीय आवरण जो कि कई सौ मील ऊँचाई तक फैला हुआ है, वायुमण्डल कहलाता है।" पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वायुमण्डल सदैव इसके साथ चिपका रहता है, अर्थात् भूमि एवं जल की भाँति यह पृथ्वी का अभिन्न अंग है। भूगोल परिभाषाकोश के अनुसार, "गैसों, जलवाष्प तथा धूल की एक संहति, जो पृथ्वी के बाहरी भाग को ढके हुए हैं, वायुमण्डल कहलाता है।"

मानव के वायुमण्डल विषयक ज्ञान में निरन्तर वृद्धि होती रही है। आधुनिक काल में **टोरिसली, हैली, बर्जरन, फैरल, बॉयजबेल्ट, मौलेवानॉफ** आदि विद्वानों ने इसमें विशेष योगदान दिया। वर्तमान में मौसम उपग्रहों से वायुमण्डल की नवीनतम दशाओं की जानकारी हमें प्रतिदिन मिल जाती है। कम्प्यूटर एवं संवेदनशील व अतिपरिष्कृत मौसम उपकरणों से वायुमण्डल की जटिलताओं का अध्ययन व विश्लेषण आसान हो गया है।

वायुमण्डल का संघटन या बनावट (Composition of the Atmosphere)

वायुमण्डल का संघटन सामान्यत: ऊँचाई के अनुसार परिवर्तनशील रहा है। भारी गैसें निचले भागों में एवं अधिक हल्की एवं विशेष प्रकार की आवेशित (Charged) गैसें वायुमण्डल में विविध ऊँचाई पर पाई जाती हैं। ऐसी सभी गैसें एवं अन्य तत्त्व जो कि वायुमण्डल में पाए जाते हैं, वायुमण्डल के संघटन या संरचना (बनावट) का अंग हैं—

1. **गैसें**—वायुमण्डल में अनेक प्रकार की गैसें पाई जाती हैं जिनमें नाइट्रोजन एवं ऑक्सीजन प्रमुख हैं। दोनों ही प्राण-पोषक गैसें हैं। ऑक्सीजन से शरीर व रक्त शुद्ध व संचालित रहता है, जबकि नाइट्रोजन, प्रोटीन व विटामिन निर्माण का आधार है। ये दोनों गैसें मिलकर वायुमण्डल का 99 प्रतिशत से कुछ अधिक भाग पूरा करती हैं। वायुमण्डल की विभिन्न गैसें एवं उनका प्रतिशत सारणी में दिया गया है।

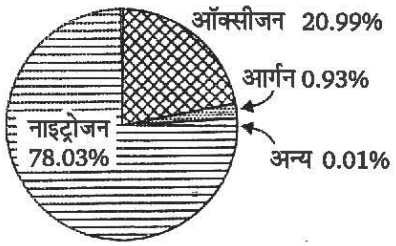

चित्र : वायुमण्डल में गैसों की मात्रा (प्रतिशत में)

वायुमण्डल की प्रथम चार गैसें भारी (नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, आर्गन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड) गैसें हैं, शेष अपेक्षाकृत हल्की हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की अम्लीय व घातक गैसें, गन्धक का अम्ल व डाइ-ऑक्साइड, कार्बन मोनो-ऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, अमोनिया एवं अन्य अनेक प्रदूषक भी वायुमण्डल में पाए जाते हैं। कार्बन डाइ-ऑक्साइड 20 किलोमीटर की ऊँचाई तक, ऑक्सीजन व नाइट्रोजन 80 से 100 किमी की ऊँचाई तक एवं हाइड्रोजन 125 किमी की ऊँचाई तक पाई जाती हैं। अन्य हल्की गैसें इससे भी अधिक ऊँचाई तक पाई जाती हैं। ओजोन ऑक्सीजन एवं सौर ऊर्जा की पराबैंगनी किरणों की प्रतिक्रिया से 30 से 80 किमी के मध्य मिलने वाली विशेष गैस ($O_2 + O \rightarrow O_3$) है।

सारणी

क्रम	गैस	मात्रा (प्रतिशत में)
	भारी गैसें	
1.	नाइट्रोजन (N_2)	78.03
2.	ऑक्सीजन (O_2)	20.94
3.	आर्गन (Ar)	0.93
4.	कार्बन डाइ-ऑक्साइड (CO_2)	0.03
	हल्की गैसें	
5.	हाइड्रोजन (H_2)	0.01
6.	नीऑन (Ne)	0.0018
7.	हीलियम (He)	0.0005
8.	क्रिप्टोन (Kr)	0.0001
9.	जीनोन (Xe)	0.000009
10.	ओजोन (O_3)	0.000001

2. **अन्य पदार्थ—**

(i) **जलवाष्प**—वायुमण्डल की निचली परतों में जलवाष्प की मात्रा अवश्य पाई जाती है। यही नहीं, आकाश में जितने प्रकार के संघनन रूप विकसित होते हैं, सभी वायु में वाष्प की उपस्थिति का ही परिणाम हैं। वायु में जलवाष्प सागर तल या जल तल से निरन्तर होने वाले वाष्पीकरण से प्राप्त होती है। वाष्पीकरण की मात्रा मुख्यत: तापमान एवं आर्द्र सतह की अनुकूलता पर निर्भर करती है। यदि वायु में उपस्थित सम्पूर्ण जलवाष्प संघनित होकर पुन: पृथ्वी को एक साथ प्राप्त हो जाए, तो भूपृष्ठ पर 2.5 मीटर मोटी पानी की परत बिछ जाएगी। सामान्यत: वायु में कुल आयतन के 5 प्रतिशत तक ही जलवाष्प पाई जाती है, किन्तु यह मात्रा तापमान कम-ज्यादा होने एवं भूतल से वाष्पीकरण घटने-बढ़ने पर निर्भर करती है। विक्षोभमण्डल में होने वाली सभी प्रकार की गतिशील क्रियाएँ मेघ, बिजली, गर्जना, वर्षा, तुषार या हिमपात, ओस, पाला, कोहरा आदि जलवाष्प की उपस्थिति से ही सम्भव हैं। प्राय: 7 किमी की ऊँचाई के पश्चात् जलवाष्प की मात्रा तेजी से घटने लगती है। 10 किमी की ऊँचाई के पश्चात् वायु में जलवाष्प अपवादस्वरूप ही मिल सकती है। इस प्रकार जलवाष्प निचले वायुमण्डल का मुख्य घटक है।

(ii) **धूल के कण**—विभिन्न माध्यमों से भूतल से धूल के विभिन्न आकार-प्रकार के कण वायुमण्डल की निचली परतों में पहुँचते रहते हैं। ऐसे कणों की मात्रा क्षेत्रवार एवं जल, स्थल व वायु प्रवाह की दिशा के अनुसार कम-ज्यादा होती रहती है। महीन धूल के कण वायु में झूलती हुई अवस्था में पाए जाते हैं, जोकि सौर ऊर्जा के प्रकाश को बिखेरते हैं। इसी से प्रात: एवं सायंकाल की लालिमा दिखाई देती है, तथा दिन में आकाश नीला दिखाई देता है। धूल के कण जलवाष्प की संघनन क्रिया में विशेष सहायक होते हैं। अधिक ऊँचाई पर इनकी मात्रा तेजी से घटने लगती है। वायुमण्डल की निचली परतों में मिट्टी के कणों के साथ-साथ समुद्री लवण के कण, जैव-सामग्री के कण, ज्वालामुखी राख के कण, उल्कापात एवं प्रदूषकों के कण भी पाए जाते हैं।

प्र.7. वायुदाब क्या है? वायुदाब पेटियों तथा वायुदाब एवं पवन पेटियों के स्थानान्तरण का वर्णन कीजिए।

उत्तर

वायुदाब
(Atmospheric Pressure)

वायुमण्डल में पाईं जाने वाली विभिन्न गैसें एवं तत्त्व भी भौतिक पदार्थ हैं, अत: इनमें भार होता है। भूपृष्ठ पर वायुमण्डल के दाब या भार को वायुदाब कहते हैं। पृथ्वी की सतह पर प्रति वर्ग सेमी क्षेत्र पर वायू का दाब 2.7 किग्रा है। सामान्यत: वायुदाब का हमें अनुभव नहीं होता है, क्योंकि यह हमारे चारों ओर समान रूप से वितरित है। वायुदाब मापने का यन्त्र सर्वप्रथम **टोरीसिली** ने सत्रहवीं शताब्दी में बनाया था। वायुदाबमापी यन्त्र (Barometer) दो प्रकार के होते हैं—(i) फोर्टिन्स बैरोमीटर, जो कि पारायुक्त होता है, (ii) एनॉरोइड बैरोमीटर, जो कि निर्द्रव होता है। भारत सहित विश्व के अधिकांश देशों में वायुदाब के माप की

प्रचलित इकाई मिलीबार है। इस हेतु इंच व सेण्टीमीटर का प्रयोग भी किया जाता है। वायुदाब जलवायु का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है, जो कि तापमान एवं वर्षा को प्रभावित करता है तथा पवनों को नियन्त्रित करता है।

निम्नांकित वायुदाब पेटियाँ अत्यधिक सामान्यीकृत हैं, जिनमें ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं—

1. **विषुवत्रेखीय निम्न वायुदाब पेटी (डोलड्रम या शान्त खण्ड क्षेत्र)**—यह पेटी विषुवत् रेखा से 5° उत्तर व 5°दक्षिण के बीच फैली है। इसका वास्तविक विस्तार भूतल पर सूर्य की स्थिति या मौसम के अनुसार उत्तरायण या दक्षिणायण की ओर होता रहता है। यहाँ दिन-रात बराबर होने एवं सूर्य की किरणें वर्षभर लम्बवत् पड़ने से तापमान वर्षपर्यन्त ऊँचे बने रहते हैं। इससे यहाँ की विशेष नम हवाएँ अधिक गर्म व हल्की होकर निरन्तर उठती रहती हैं। इस प्रकार यहाँ वायुमण्डल की संवहन धाराएँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ निम्न वायुदाब वर्षभर बना रहता है, एवं क्षैतिज पवनें नहीं चलती हैं। इसी कारण इस क्षेत्र को डोलड्रम (Doldrums) या शान्त खण्ड कहते है, किन्तु यह शान्त अवस्था धरातल से कुछ ऊँचाई तक ही सीमित रहती है। 3-4 किमी के पश्चात् पवनें गतिशील रहती हैं, अत: शान्त खण्ड की स्थिति समाप्त हो जाती है। धरातल पर निरन्तर निम्न वायुदाब बना रहने एवं क्षैतिज पवनों के अभाव में शान्त खण्ड की स्थिति बनी रहती है। ऊँचे तापमान रहने से ही यहाँ स्थायी निम्न वायुदाब रहता है, अत: इसे ताप रचित वायुदाब पेटी भी कहते हैं।
2. **उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब पेटी**—यह पेटी दोनों गोलार्द्धों में 30°से 35° अक्षांशों के मध्य फैली हुई है। यहाँ पर उपोष्ण कटिबन्ध होने से तापमान सिर्फ शीतकालीन दो माह को छोड़कर वर्षभर ऊँचे रहते हैं। तापमान ऊँचा रहने के बावजूद यहाँ का वायुदाब ऊँचा बना रहता है। इसका कारण पृथ्वी की दैनिक गति एवं उसका पवन व्यवस्था पर विशेष प्रभाव है। भूमध्य रेखा से जो पवनें लगातार ऊपर उठती हैं वे धीरे-धीरे ध्रुवों की ओर घूमने के साथ-साथ पृथ्वी की गति के प्रभाव से मध्य अक्षांशों में नीचे उतरने को बाध्य होती हैं। वायु नीचे उतरने से 30° से 35° अक्षांशों के मध्य पवनें शान्त रहती हैं। इन्हें अश्व अक्षांश के शान्त खण्ड भी कहते हैं। यह वायुदाब पेटी गति रचित है।
3. **उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटी**—यह निम्न वायुदाब की पेटी दोनों गोलार्द्धों में 60° से 70° अक्षांशों के मध्य फैली हुई है। इन अक्षांशों में तापमान कम रहते हुए भी निम्न दाब मिलने का कारण पृथ्वी की दैनिक गति है। अपकेन्द्री बल के प्रभाव से ध्रुवीय प्रदेशों में पवनें बाहर की ओर बिखरने लगती हैं। अत: यहाँ वायु की मात्रा एवं वायुदाब घटने लगते हैं। ध्रुवों के बर्फीले क्षेत्रों का प्रभाव उपध्रुवीय प्रदेश में स्पष्ट देखा जाता है। इस प्रकार यह वायुदाब पेटी भी गति रचित है।
4. **ध्रुवीय उच्च वायुदाब पेटी**—ध्रुवीय प्रदेशों में कठोर सर्दी, बर्फीले क्षेत्रों का विस्तार, हिमपात, सौर ऊर्जा की विशेष कमी आदि कारणों से तापमान हिमांक बिन्दु से नीचे पाए जाते हैं। इस कठोर सर्दी के प्रभाव से ही वहाँ निरन्तर उच्च दाब वाली सघन वायु की पेटी पाई जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका महाद्वीप एवं उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीनलैण्ड एवं निकट के द्वीपों में बर्फ का स्थायी विस्तार पाया जाता है। अत: ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटी ताप रचित है।

इस प्रकार भूतल पर विषुवत्रेखीय निम्न वायुदाब की पेटी एवं दोनों ध्रुवों की उच्च वायुदाब की पेटियाँ, अर्थात् तीन पेटियाँ ताप रचित हैं। शेष चार पेटियाँ अर्थात् दोनों अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब की एवं दोनों उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की पेटियाँ गति रचित हैं।

वायुदाब एवं पवन पेटियों का स्थानान्तरण
(Shifting of Atmospheric Pressure and Wind Belts)

ग्लोब पर वायुदाब की पेटियों का वितरण वर्षपर्यन्त एक जैसा नहीं रहता है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षियायण होने से सूर्यातप की प्राप्ति में अन्तर तथा स्थल एवं जल की प्रकृति में भिन्नता के कारण वायुदाब की पेटियों के विस्तार में परिवर्तन होते रहते हैं। इसे ही वायुदाब की पेटियों का खिसकना या स्थानान्तरण कहते हैं। गर्मियों में जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तो पेटियाँ 5° के आस-पास उत्तर की ओर एवं सर्दियों में जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है तो पेटियाँ लगभग 5° दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। इनकी सामान्य या आदर्श स्थिति सिर्फ 21 मार्च एवं 23 सितम्बर के आस-पास ही रहती है, जबकि सूर्य विषुवत् रेखा पर सीधा चमकता है, अर्थात् विषुवत्रेखीय पेटी 5° उ. से 5° द. के स्थान पर 0° से 10° के मध्य ऋतु के अनुसार उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्ध में खिसक जाती है। इसी भाँति उपोष्ण पेटी 30° से 35° के स्थान पर 30° से 40° के मध्य पाई जाती है। उपध्रुवीय पेटी भी इसी भाँति ध्रुवों की ओर खिसक जाती है। इसका अन्तिम प्रभाव ध्रुवीय प्रदेशों पर विशेषकर उत्तरी ध्रुवीय प्रदेशों में स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रीष्मकाल में उत्तरी ध्रुवीय पेटी बहुत संकरी हो जाती है। सर्दियों में जब उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपों पर कठोर सर्दी के प्रभाव से ध्रुवीय निम्न भार की पेटी का स्थान उच्च भार की पेटी ले लेती है, तब वहाँ अयनवृत्तीय एवं ध्रुवीय दोनों उच्च भार की पेटियाँ आपस में मिल जाती हैं। अत: जहाँ उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपीय विस्तार मध्य अक्षांशों में सबसे अधिक रहने

से ऋतुवार वायुदाब में विशेष विसंगतिपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं, वहीं दक्षिणी गोलार्द्ध में भूखण्ड के संकरे होते जाने एवं महासागरीय विस्तार मध्य अक्षांशों में विशेष महत्वपूर्ण होने से वायुदाब की पेटियों में सामान्य वितरण-स्वरूप से कम विचलन पाया जाता है। किन्तु यहाँ अण्टार्कटिका महाद्वीप के बर्फीले प्रभाव से ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटी वर्षभर प्रबल बनी रहती है। इसी के प्रभाव से सर्दियों में उपध्रुवीय निम्न भार की पेटी भी विशेष सिकुड़ जाती है तथा गर्मियों में भी अधिक नहीं फैल पाती।

प्र.8. भूतल पर समदाब रेखाओं के ऋतुवार वितरण-स्वरूप को विस्तार से समझाइए।

उत्तर

भूतल पर समदाब रेखाओं का ऋतुवार वितरण-स्वरूप
(Seasonal Distribution of Isobaric Lines on Earth)

ऋतुवार समदाब रेखाओं के अध्ययन से अर्थ है जनवरी एवं जुलाई महीनों में विश्व मानचित्र पर समदाब रेखाओं के वितरण-स्वरूप को समझना। ऐसे वितरण-स्वरूप के अध्ययन के समय वायुदाब के स्वरूप, तापमान का वितरण एवं पृथ्वी की गति तीनों ही दशाओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

जुलाई माह में उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में शीत ऋतु की दशाएँ पाई जाती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु में सूर्य कर्क रेखा पर सीधा चमकता है। इसी गोलार्द्ध में स्थल खण्ड का अधिक विस्तार होने से सारे यूरेशिया एवं उत्तरी अमेरिका के उपोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में विषुवत्रेखीय निम्न भार फैलकर भूमि पर उपध्रुवीय निम्न भार तक मिल जाता है। इसी कारण उपोष्ण उच्च भार की पेटी महाद्वीप पर नहीं मिलती है। इसका विस्तार सिर्फ निकट के महासागरों पर ही पाया जाता है। यूरेशिया महाद्वीप के भीतरी भागों में उत्तरी भारत से बैकाल झील तक वायुदाब 998 से 1,002 मिलीबार के मध्य एवं उपध्रुवीय सुदूर उत्तरी प्रदेशों में 1,008 से 1,013 मिलीबार के मध्य रहता है। उष्ण कटिबंधीय उच्च वायुदाब का विस्तार अजोर्स से सारगोसा सागर तक एवं कैलिफोर्निया से पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक पाया जाता है। इसी समय ध्रुवीय उच्च वायुदाब उत्तरी ध्रुव सागर एवं ग्रीनलैण्ड तक मिलता है। यह 1,013 से 1,020 मिलीबार के मध्य रहता है।

इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में तापमान ऊँचा रहने तथा सागर से स्थल की ओर नमी वाली पवनों के काफी दूर तक फैलाव से निम्न वायुदाब की दशा अधिक विकसित हो जाती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध में उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च भार मकर रेखा के आस-पास सारी पेटी में फैला रहता है। 1,008 से 1,020 मिलीबार समदाब रेखाएँ इस पेटी को घेरे रहती हैं। इन्हीं अक्षांशों में दक्षिणी हिन्द महासागर में 1,026 मिलीबार की समदाब रेखा मेडागास्कर के पूर्व में विस्तृत है। 55° अक्षांश के पश्चात् अण्टार्कटिका के बर्फीले प्रभाव एवं पृथ्वी के उपध्रुवीय निम्न वायु भार की पेटी के संकरे क्षेत्र में विस्तार के कारण समदाब रेखाएँ तेजी से पास-पास आने से वायुदाब गिरने लगता है। 60° अक्षांश के निकट 990 मिलीबार समभार रेखा एवं अण्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर 987 मिलीबार की समभार रेखा प्राय: घेरा बनाए हुए रहती है। बर्फीले दक्षिणी ध्रुव पर वायुदाब पुन: तेजी से बढ़कर 1,030 मिलीबार तक पहुँच जाता है।

जनवरी माह में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध पर सीधा चमकता है, अत: वहाँ ग्रीष्म ऋतु एवं उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है। इस समय सम्पूर्ण यूरेशिया का वृहद् स्थल खण्ड कठोर शीत के प्रभाव में रहता है। अत: यहाँ का वायुदाब तेजी से बढ़ने लगता है। मध्य एशियाई भाग समुद्री प्रभाव से वंचित रहने से एवं पर्वतीय प्रभाव से यहाँ का वायुदाब अधिक सघन हो जाता है। इससे उपोष्ण कटिबन्धीय एवं ध्रुवीय उच्च भार के प्रदेश मिलकर उच्च दाब के सघन प्रदेश का निर्माण करते हैं। विश्व का सर्वोच्च वायुदाब 1,035 मिलीबार दक्षिण-पूर्वी एवं पूर्वी साइबेरिया में अंकित किया जाता है। यहाँ साइफन या वेज (Wedge) की भाँति समभार रेखाएँ घेरे रहती हैं। इस समय उपध्रुवीय निम्न वायुदाब सागरीय भागों पर आइसलैण्ड व ग्रीनलैण्ड के मध्य एवं अल्यूशियन द्वीपों के निकट पाया जाता है। न्यूनतम वायुदाब आइसलैण्ड (996 मिलीबार) तथा अल्यूशियन (1,002 मिलीबार) द्वीपों पर रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इस समय विषुवत्रेखीय निम्न भार का प्रभाव मकर रेखा तक महाद्वीपों पर स्पष्टत: बना रहता है। यहाँ न्यूनतम 1,008 मिलीबार की समदाब रेखा दक्षिणी ब्राजील एवं उत्तरी ऑस्ट्रेलिया को घेरे हुए होती है। उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च भार 35° से 40° दक्षिणी अक्षांश के निकट मुख्यत: महासागरों पर फैला होता है, जहाँ 1,017 व 1,020 मिलीबार की समभार रेखाएँ उसे घेरे होती हैं। उपध्रुवीय प्रदेशों में अण्टार्कटिका महाद्वीप एवं 55° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य निम्न वायुदाब की पेटी विस्तृत रहने से यहाँ पुन: वायुदाब घटने लगता है। यहाँ की समभार रेखाएँ 1,008 मिलीबार से तेजी से गिरकर 990 मिलीवार तक पहुँच जाती हैं। 990 एवं 987 मिलीबार की समभार रेखाएँ अण्डाकार रूप में बर्फीले महाद्वीप के चारों ओर फैली होती हैं। इसके पश्चात् ध्रुवों की ओर पुन: वायुदाब बढ़कर लगभग 1,020 मिलीबार तक पहुँच जाता है।

प्र.9. वायुमण्डल के ठण्डा व गर्म होने की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।

उत्तर

वायुमण्डल के गर्म एवं ठण्डा होने की प्रक्रिया
(Process to Heat and Cold the Atmosphere)

यद्यपि सूर्य पृथ्वी पर ऊर्जा एवं ताप-प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है, किन्तु वायुमण्डल सीधे सूर्यातप से गर्म नहीं होकर पृथ्वी के गर्म होने के पश्चात् जो पार्थिव विकिरण प्राप्त होता है उससे गर्म होता है। पृथ्वी को प्राप्त सूर्यातप सागर एवं भूतल को पहले गर्म करता है, बाद में गर्म भूतल से विकिरित ताप लहरों से वायुमण्डल की सबसे निचली परतें गर्म होती है। उसके पश्चात् एक-एक कर ऊपरी परतें गर्म होती हैं। रात्रि को वायुमण्डल के ठण्डे होने की भी यही प्रक्रिया बनी रहती है। इस प्रकार वायुमण्डल निम्न प्रकार से गर्म व ठण्डा होता रहता है—

1. **सीधे सूर्यातप प्राप्ति से** (By Insolation)—वायुमण्डल की निचली परतों में उपस्थित धूल के कण एवं जलवाष्प आते हुए सूर्यातप के 15 प्रतिशत भाग को अवशोषित कर लेते हैं, किन्तु यह क्रिया सभी ऋतुओं में समान नहीं रहती। वर्षा के पश्चात् धूल के कणों में कमी आने से अवशोषण कम होता है। लम्बे समय तक बादल छाए रहने से भी सूर्यातप की वास्तविक प्राप्ति पृथ्वी की सतह पर कम हो सकती है।
2. **संचालन द्वारा** (By Conduction)—संचालन विधि में ताप का प्रसार कणमय (molecular) होता है। जिस प्रकार धातु के एक किनारे को गर्म करने पर सारी छड़ धीरे-धीरे गर्म होती जाती है एवं दूरी बढ़ने पर ऊष्मा कम मात्रा में पहुँचती है, ठीक इसी प्रकार सूर्यातप से भूतल गर्म होकर भौमिक विकिरण द्वारा अपने निकट के वायुमण्डल की परत को पहले गर्म करता है एवं इससे ऊपर की ओर ताप का निरन्तर प्रसार होता रहता है। अत: निचली परतें पृथ्वी तल से सबसे अधिक ताप प्राप्त करती हैं। पृथ्वी से ताप का विकिरण लम्बी तरंगों के रूप में होने से लगभग सभी विकिरण वायुमण्डल की निचली परत द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इस कारण भी क्षोभमण्डल के तापमान ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ घटते जाते हैं।
3. **संवहन द्वारा** (By Convection)—विकिरण एवं संचालन प्रक्रिया द्वारा जब वायुमण्डल की निचली परत गर्म हो जाती है, तो वह हल्की होकर ऊपर उठती है तथा ऊपरी हल्के वायुमण्डल में फैल जाती है। धीरे-धीरे पवन ठण्डी होकर भारी होने लगती है। भारी होने पर यही वायु पुन: धीरे-धीरे नीचे धरातल की ओर उतर आती है। यहाँ यह पुन: गर्म होकर ऊपर उठती है। इस प्रकार की निरन्तर एवं क्रमश: होने वाली क्रिया को संवहन कहते हैं। इन संवहन तरंगों से वायुमण्डल में दिन में ताप तरंगें एवं रात्रि में शीत तरंगे सम्पूर्ण वायुमण्डल की निचली परतों को प्रभावित करती रहती हैं। इसे ऊर्ध्ववर्ती संवहन भी कहते हैं।
4. **विकिरण द्वारा** (By Radiation)—पृथ्वी के गर्म हो जाने पर ताप का विकिरण होता है। विकिरण दीर्घ तरंगों के रूप में होता है। भूतल के निकट का वायुमण्डल इन तरंगों से गर्म हो जाता है। वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा अधिक होने पर पृथ्वी के विकिरण का अवशोषण अधिक होता है। इसी कारण जिस दिन बादल होते हैं, वातावरण अधिक गर्म लगता है। इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में रेतीले मरुस्थल में रात्रि को स्वच्छ आकाश होने पर विकिरण शीघ्र होने से तापमान तेजी से नीचे गिरते हैं और रातें ठण्डी होती हैं।
5. **दाब परिवर्तन द्वारा** (Through Change in Pressure)—जब नीचे उतरती वायु का सम्पीडन होता है तो वह स्वयं भी गर्म होने लगती है। पृथ्वी से निकट आने पर यह वायु धरातल की गर्मी से भी गर्म होने लगती है, जबकि ऊपर उठती वायु फैलने से व दबाव घटने से हल्की होने पर शीघ्र ठण्डी होने लगती है।
6. **वायु संचरण द्वारा** (By Air Circulation)—ठण्डे प्रदेशों में विकसित वायुराशि जिस प्रदेश की ओर बहेगी वहाँ के तापमान तेजी से घटेंगे, चाहे वहाँ सापेक्षत: अधिक भौमिक विकिरण भी प्राप्त हो रहा हो। इसी भाँति जब कोई उष्ण वायुराशि ठण्डे प्रदेश की ओर बहती है तो भी वहाँ के तापमान बढ़ने लगते हैं, चाहे वहाँ पर भौमिक विकिरण कम प्राप्त हो रहा हो। इसी के प्रभाव से सर्दियों में शीत लहर से तापमान गिरने से फसलों को बहुत हानि पहुँचती है। दूसरी ओर उष्ण वायुराशियों के प्रभाव से पश्चिमी यूरोपीय तट जम नहीं पाता।

सामान्यत: सौर ऊर्जा प्राप्ति से जिस प्रकार धरातल एवं स्थानीय वायुमण्डल गर्म होता है, उसी भाँति भूमि पर वायु संचरण का एवं तटीय धाराओं के परिचालन का वायु की निचली परतों के तापमान पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

❑

UNIT-VI

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. ओस को परिभाषित कीजिए।

उत्तर शीत ऋतु की लम्बी रातों में जब धरातल के निकट स्वच्छ तथा शान्त वातावरण होता है अर्थात् वायु का प्रवाह नहीं होता है तब भू-पृष्ठ से ताप का विकिरण तीव्र गति से होता है। इससे वातावरण का तापमान ओसांक बिन्दु से नीचे पहुँच जाता है तथा पौधों की पत्तियों व भूमि पर उपस्थित अन्य वस्तुओं पर जल की अति सूक्ष्म बूँदों का संचय होता है जिसे **ओस** कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ओस का निर्माण रात्रि में पेड़-पौधों से निकली वाष्प के घनीभवन से होता है।

प्र.2. पाला क्या है?

उत्तर जब वायु का तापमान 0°C या इससे भी कम हो जाता है तो वायु में उपस्थित जलवाष्प श्वेत तपार या बर्फ कणों के रूप में जम जाती है। इसी को **तुषार** या **पाला** कहते हैं। इससे फसलों को अत्यधिक हानि होती है। शुष्क वायु, स्वच्छ आकाश तथा शान्त रातें पाले के लिए अनुकूल दशाएँ होती हैं।

प्र.3. वायुमण्डल में किस प्रक्रिया द्वारा कुहरा बनता है?

उत्तर धरातल के निकट रात्रि में जब कभी वायु का तापमान ओसांक बिन्दु से नीचे चला जाता है तो उसमें उपस्थित जलवाष्प कण संघनित होकर अत्यन्त छोटे जलबिन्दुओं के रूप में वायु में एकग्रित हो जाते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ये नीचे नहीं आ पाते हैं तथा वायुमण्डल में उपस्थित धूल व धुएँ के कणों के साथ मिलकर धुएँ के बादल जैसे दिखाई देते हैं, इसे ही कुहरा कहते हैं।

प्र.4. धुन्ध किसे कहते हैं एवं धरातल की दृश्यता पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर हल्के कुहरे को जिसमें कि दृश्यता अधिक कम नहीं होती है, उसे धुन्ध (Mist) कहते हैं। धुन्ध का धरातल की दृश्यता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। साधारण कोहरे में दृश्यता 1 किमी तक होती है, जबकि सघन कोहरे में मात्र 300 मीटर तक ही स्पष्ट देखा जा सकता है।

प्र.5. वर्षा को परिभाषित करते हुए वर्षा के पूर्व वायुमण्डल में होने वाली अनुकूल परिस्थितियों को समझाइए।

उत्तर बादलों से पृथ्वी पर गिरने वाली बूँदें, जिनकी रचना वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प के संघनन द्वारा होती है, वर्षा कहलाती हैं। वायु में निहित जलवाष्प के जलकणों में परिवर्तन को ही वर्षा नहीं कहते हैं, बल्कि उसका बूँदों के रूप में धरातल पर गिरना भी आवश्यक है। वर्षा होने से पूर्व वायुमण्डल में अनेक अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक होता है; जैसे—उष्ण आर्द्र पवनों का तापमान ओसांक बिन्दु तक पहुँच जाना, जलकणों का आम्बर बड़ा होना या बादलों का बनना आदि।

प्र.6. ओलो का निर्माण किस प्रकार से होता है?

उत्तर हिमांक से नीचे तापमान होने पर वायु में उपस्थित जलवाष्प का संघनन ठोस रूप में ओलों का निर्माण होता है। ओले बर्फ की पतली परतों से मिलकर बने होते हैं। झंझावात के समय होने वाली वर्षा ओलों के रूप में होती है। ये प्राय: कपासी वर्षा बादलों से गिरते हैं।

प्र.7. हिम या हिमपात किसे कहते हैं?

उत्तर जब वायुमण्डल में वायु का तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है तो वायु में उपस्थित जलवाष्प जलकणों में न बदलकर हिमकणों में बदल जाते हैं अर्थात् जलवाष्प वायवीय अवस्था से सीधे ही ठोस अवस्था को प्राप्त होती है। सुई-सदृश संरचना के ये बर्फ के क्रिस्टल धरातल पर अलग-अलग भी गिर सकते हैं या अनेक एक साथ भी गिर सकते हैं। ऐसे श्वेत हिम की वर्षा को

हिमपात (Snowfall) कहते हैं। प्राय: उच्च पर्वतीय भागों, ध्रुवीय प्रदेशों तथा जाड़े की ऋतु में शीतोष्ण कटिबन्ध में ऐसी अवस्था देखी जा सकती है।

प्र.8. तड़ित झंझा को परिभाषित कीजिए।

उत्तर स्ट्रालर के अनुसार, "तड़ित झंझा स्थानीय तथा तीव्र तूफान होते हैं, जो कि घने तथा विशाल कपासी वर्षी बादलों से युक्त होते हैं, जिनमें पवनें नीचे से ऊपर की ओर तीव्र गति से प्रवाहित होती हैं।" आकाश में बिजली चमकना, बादल गरजना, भारी वर्षा होना तथा कभी-कभी ओले गिरना इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। यह उस समय आते हैं जब भूमि बहुत गर्म हो जाती है और वायु संवहनीय रूप से ऊपर उठती है। ऐसे तूफान या झंझावात मेघाच्छादित रहने वाली शान्त वायु पेटी अर्थात् भूमध्यरेखीय प्रदेश में अधिक आते हैं।

प्र.9. चक्रवात किसे कहते हैं?

उत्तर सामान्यत: चक्रवात से अभिप्राय निम्न वायुदाब के केन्द्र से होता है, जिसके चारों ओर बाहर की ओर वायुदाब क्रमश: बढ़ता जाता है। इसके परिणामस्वरूप सभी दिशाओं से हवाएँ भीतर केन्द्र की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। **फैरल के नियम** के अनुसार, ये हवाएँ मुड़ जाती हैं तथा केन्द्र तक पहुँचने की अपेक्षा उसकी परिक्रमा करने लगती हैं। इन हवाओं की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की दिशा के विपरीत (anti-clockwise) तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की दिशा में होती है। **पी. लेक** के अनुसार, "चक्रवात उस निम्न वायुदाब के क्षेत्र का नाम है, जो कि चारों ओर से सटी हुई समभार रेखाओं से घिरा होता है जिनकी आकृति लगभग अण्डाकार होती है।" **ट्रिवार्था** के शब्दों में, "चक्रवात अपेक्षाकृत वे निम्न वायुदाब क्षेत्र होते हैं जो संकेन्द्रीय एवं सटी हुई समदाब रेखाओं से घिरे होते हैं।" चक्रवातों का आकार प्राय: अण्डाकार, गोलाकार या V-आकृति के समान होता है।

प्र.10. हरिकेन को परिभाषित कीजिए।

उत्तर उष्णकटिबंधीय चक्रवात तीव्र गोलाकार तूफान होते हैं जोकि गर्म उष्णकटिबंधीय महासागरों में 119 किलोमीटर प्रति घण्टे की गति से अधिक और भारी वर्षा के साथ उत्पन्न होते हैं। अटलाण्टिक महासागर और पूर्वी उत्तरी प्रशांत महासागर में इसे हरिकेन के रूप में जाना जाता है जबकि पश्चिमी प्रशान्त महासागर में इसे टाइफून के नाम से जाना जाता है।

प्र.11. उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में चक्रवातों के किन्हीं तीन प्रमुख क्षेत्रों के बारे में लिखिए।

उत्तर 1. **द. प्रशान्त महासागर**—आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में उत्पन्न होकर उत्तरी पूर्वी तट को प्रभावित करने वाले चक्रवातों को 'विली-विली' कहते हैं। ये चक्रवात दिसम्बर से अप्रैल माह के मध्य आते हैं।

2. **उत्तरी हिन्द महासागर**—बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में उत्पन्न होने वाले चक्रवातों को 'अवदाब' या 'चक्रवात' (Cyclone) कहते हैं। ये अप्रैल से दिसम्बर माह के मध्य तक आते हैं। अरब सागर में प्रतिवर्ष 1 या 2 तथा बंगाल की खाड़ी में 4-5 चक्रवात आते हैं। इनसे तटवर्ती भागों में व्यापक हानि होती है।
3. **दक्षिणी हिन्द महासागर**—मेडागास्कर, मारीशस व रियूनियन द्वीपों के निकट नवम्बर से अप्रैल माह के मध्य 1 या 2 चक्रवात आते हैं।

प्र.12. शति प्रदेश के प्रति चक्रवात कहाँ पाये जाते हैं?

उत्तर ऐसे प्रतिचक्रवात का विकास आर्कटिक एवं ध्रुवीय प्रदेश के द्वीपों व स्थलखण्डों पर होता है। यहाँ से ध्रुवीय पवनों के सहारे तथा बाद में पछुआ पवनों के प्रभाव से पूर्वी क्षेत्रों में भूमि पर चलते हैं। यह कम ऊँचाई के होते हैं तथा ताप विलोमता के कारण इनकी ऊपरी परतों में उष्णता पाई जाने के कारण ही निम्न वायुदाब के ऊपरी क्षेत्र भी पाये जा सकते हैं।

प्र.13. अर्द्धस्थायी प्रतिचक्रवात पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर यह प्रतिचक्रवात विशेष गतिशील रहते हैं। इनमें पछुआ हवाओं के सीधे प्रभाव से उष्णता बनी रहती है। अत: इन्हें तापीय प्रतिचक्रवात भी कहते हैं। दो शीतोष्ण चक्रवातों के बीच भी ऐसे प्रतिचक्रवात विकसित हो सकते हैं। यह उच्च दाब के प्रदेशों में ग्रीष्मकाल में स्थानीय सौर ऊर्जा के प्रभाव से भी विकसित होते हैं। इनका एक मार्ग पूर्वी साइबेरिया से चीन, जापान एवं अलास्का तक गया है। दूसरा मार्ग उत्तरी-पूर्वी संयुक्त राज्य एवं उत्तरी कनाडा की ओर गया है।

प्र.14. यान्त्रिक चक्रवात किन्हें कहते हैं? यह चक्रवात किन महाद्वीपीय क्षेत्रों में पाए जाते हैं?

उत्तर यह प्रतिचक्रवात उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटी में विकसित होते हैं। यहाँ पर शान्त खण्ड से निरन्तर पवनों का बाहर की ओर प्रसार होता रहता है। इसीलिए इनको **यान्त्रिक** या **गतिज प्रतिचक्रवात** भी कहते हैं। शान्त खण्ड में रहने से कभी-कभी यह आन्तरिक स्थलों पर एक से दो सप्ताह तक प्राय: स्थिर बने रह सकते हैं, क्योंकि इनकी गति धीमी रहती है। यह प्रतिचक्रवात संयुक्त राज्य के पूर्वी भागों एवं भूमध्य सागर के पश्चिमी भाग व संलग्न महाद्वीपों के क्षेत्र में अधिक चलते हैं। इन्हीं के कारण मौसम शीतल, स्वच्छ व सुहावना हो जाता है।

प्र.15. प्रतिचक्रवातीय मौसम एवं नमी का तापमान का क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर सामान्यत: प्रतिचक्रवात में केन्द्र से बाहर की ओर हल्की गर्म या शीतल पवनें धीमी गति से बहती हैं। यूरोप में इस समय खिली धूप मिलती है, जिसके लिए यूरोपवासी तरसते हैं। अत: ऐसे मौसम को उत्सव की भाँति मनाते हैं। कभी-कभी तापमान अधिक नीचे गिरने से शीत लहर चलने की सम्भावना होती है। प्रतिचक्रवात के केन्द्रीय भाग में पवनें बराबर ऊपर से नीचे गिरती रहती हैं। अत: इनके तापमान में वृद्धि होती जाती है। तापमान के वृद्धि होने के कारण वायु शुष्क हो जाती है एवं वर्षा नहीं हो पाती है। इस प्रकार प्रतिचक्रवाती मौसम वर्षा में बाधक होता है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. वायुमण्डलीय आर्द्रता से आप क्या समझते हैं? वायुमण्डल में जलवाष्प की गुप्त ऊष्मा को समझाइए।

उत्तर

वायुमण्डलीय आर्द्रता
(Atmospheric Humidity)

जलवायु के सभी तत्त्वों में आर्द्रता, उसका संघनन एवं विभिन्न रूपों का भूतलवासियों के लिए सबसे अधिक महत्त्व रहा है। वायुमण्डल में उपस्थित आर्द्रता का अभिप्राय उस जलवाष्प एवं उसके विभिन्न रूपों से है जो कि वायुमण्डल की निचली परतों (विक्षोभमण्डल) में झूलती या तैरती अवस्था में पाई जाती है। जलवाष्प वायु में अदृश्य रूप में रहती है, किन्तु संघनन की क्रिया के माध्यम से यह ओस, पाला, कोहरा, बादल, जलकण, हिमकण, ओला आदि रूपों में दिखाई देती है। इसकी उपस्थिति से ही वायुमण्डल में तड़ित, गर्जना, भारी वर्षा, हिमपात आदि परिवर्तन होते रहते हैं। इसी वायु विक्षोभ के कारण ही वायुमण्डल की निचली परत का नाम विक्षोभमण्डल या परिवर्तनमण्डल पड़ा है। विक्षोभमण्डल में 1-5% के मध्य ही जलवाष्प या नमी मिल सकती है। थोड़ी-बहुत जलवाष्प तो सर्वत्र पाई जाती है।

वायुमण्डल में जलवाष्प की गुप्त ऊष्मा—जल जब वाष्प में बदलता है तो उसके लिए ऊष्मा की आवश्यकता होती है। साधारणत: एक ग्राम जल के तापमान में एक डिग्री की वृद्धि के लिए जितने ताप की आवश्यकता होती है, उसे एक कैलोरी (Calorie, kcal) माप के बराबर माना जाता है। इसी भाँति ठण्डे (4°C) जल की एक ग्राम मात्रा को पूर्ण रूप से वाष्प में बदलने के लिए कुल 600 कैलोरी ताप की आवश्यकता होती है। यही ताप वाष्प में अदृश्य रूप में बना रहता है। इसे ही **जलवाष्प की गुप्त ऊष्मा** कहते हैं। इस प्रकार गुप्त ऊष्मा ताप या गर्मी का ही दूसरा रूप है। जब संघनन क्रिया होने लगती है तो जलवाष्प ठण्डी होते समय अपनी ऊष्मा वायु को लौटा देती है। इसी कारण जिस वायु में नमी अधिक होती है उसके तापमान शुष्क हवा की तुलना में अधिक धीमी गति से कम होता है। उष्ण व आर्द्र प्रदेशों में ऐसी क्रिया होते रहने से वायुमण्डल में पर्याप्त उष्णता बनी रहती है। मौसम में उमस एवं मानव के लिए सहनशील क्षमता भी वायु के तापमान के साथ-साथ उसमें उपस्थित जलवाष्प के उच्च प्रतिशत से सम्बन्धित है। इससे भी स्थानीय रूप से मौसम परिवर्तनशील बना रहता है।

प्र.2. जलवाष्प द्वारा वाष्पीकरण क्रिया एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित है?

उत्तर

जलवाष्प एवं वाष्पीकरण
(Water Vapour and Evaporation)

जलवाष्प से अर्थ वायु में पाई जाने वाली गैस जैसी ही अदृश्य नमी से है। यह सभी प्रकार के जल स्रोतों से एवं नम मृदा से निरन्तर होने वाली वाष्पीकरण की क्रिया से वायुमण्डल को प्राप्त होती रहती है। जलवाष्प की निरन्तरता का कारण तापमान से प्राप्त उष्णता है। भूतल व वायु में तापमान का मुख्य स्रोत सौर ऊर्जा है। वायु के तापमान बढ़ने के साथ-साथ उसकी वाष्प ग्रहण करने

की क्षमता भी बढ़ती जाती है। अत: जलवाष्प का मुख्य आधार वाष्पीकरण है। जल को वाष्प में बदलने की क्रिया को **वाष्पीकरण** कहते हैं। भूतल के 71 प्रतिशत भाग पर जल है एवं मुख्यत: सम्पूर्ण पृथ्वी तल पर आर्द्रता का वितरण यहीं से होता रहता है।
वायु की जलवाष्प ग्रहण करने की क्षमता उसमें पहले से उपस्थित जलवाष्प की मात्रा एवं उसके तापमान पर निर्भर करती है। वायु का तापमान ज्यों-ज्यों बढ़ता जाएगा, त्यों-त्यों उसकी वाष्प ग्रहण करने की क्षमता भी उससे अधिक तीव्र गति से बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार गतिशील वायु स्थिर वायु से अधिक मात्रा में जलवाष्प ग्रहण कर सकती है। इसी कारण सबसे अधिक वाष्पीकरण की क्रिया उष्णकटिबन्धीय महासागरीय तल पर प्रवाहित पवनों द्वारा होती है। इसी के प्रभाव से उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में वर्षा मोटी बूँदों के रूप में एवं भारी मात्रा में होती है। **आस्टिन मिलर** के अनुसार, विश्व में वाष्पीकरण का अक्षांशीय औसत वितरण निम्न प्रकार से है—

	अक्षांश	0°-10°	10°-20°	20°-30°	30°-40°	40°-50°	50°-60°
वर्गीकरण				उत्तरी गोलार्द्ध			
	औसत दर	40.6	42.9	35.8	28.0	20.1	15.9
				दक्षिणी गोलार्द्ध			
	औसत दर	45.7	44.5	39.0	33.5	22.8	8.7

उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में वाष्पीकरण सबसे अधिक होता रहता है। अयनवृत्तीय क्षेत्रों में शुष्क धरातलीय प्रभाव से वाष्पीकरण की क्षमता बढ़ जाती है। इसी कारण उत्तरी गोलार्द्ध में सर्वाधिक वाष्पीकरण 10° से 20° अक्षांशों के मध्य होता है, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में अयन वृत्त के निकट महासागरीय विस्तार कुछ अधिक है, अत: सर्वाधिक वाष्पीकरण विषुवतरेखीय क्षेत्रों में होता है। ध्रुवों की ओर निरन्तर तापमान नीचे रहने एवं दक्षिणी ध्रुव के बर्फीले प्रभाव से सागर के तापमान कुछ नीचे रहने से सबसे कम वाष्पीकरण दक्षिणी गोलार्द्ध में 50° से 60° अक्षांशों के मध्य होता है।

प्र.3. संघनन से आप क्या समझते हैं?

उत्तर

संघनन
(Condensation)

जलवाष्प के जल में बदलने की प्रक्रिया को संघनन या द्रवण कहते हैं। वह तापमान जिस पर जलवाष्प का संघनन प्रारम्भ हो जाता है ओसांक या ओस बिन्दु (Dew point) कहलाता है। यदि वायु का तापमान ओस बिन्दु से भी नीचे गिर जाए तो उसकी अतिरिक्त जलवाष्प जलकणों में परिवर्तित हो जाता है। आधुनिक मत के अनुसार संघनन की क्रिया स्वच्छ वायु में कठिनाई से ही हो पाती है। संघनन क्रिया वायुमण्डल में उपस्थित सूक्ष्म आर्द्रताग्राही नाभिकों (जैसे नमक या शोरे के सूक्ष्म कण, सल्फर डाइऑक्साइड युक्त धुआँ, अति सूक्ष्म धूल कण आदि) के चारों ओर आसानी से होती है। नमक सबसे प्रमुख आर्द्रताग्राही नाभिक होता है। यह समुद्र तटों पर सर्वाधिक मात्रा में पाया जाता है, अत: संघनन क्रिया इन प्रदेशों में सर्वाधिक होती है। संघनन की प्रारम्भिक अवस्था में आर्द्रताग्राही नाभिकों का आकार महत्त्वपूर्ण होता है, किन्तु जल बिन्दु बन जाने के बाद उनके आकार की वृद्धि निकटवर्ती वायु की आर्द्रता से नियन्त्रित होती है।

प्र.4. निर्माण विधि के आधार पर कुहरे के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

कुहरे के प्रकार
(Types of Fog)

निर्माण विधि के आधार पर कुहरा निम्न प्रकार का होता है—

1. **विकिरण कुहरा** (Radiation Fog)—इस प्रकार का कुहरा उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों में शीतकाल में अधिक उत्पन्न होता है, जहाँ पर ठण्ड के कारण धरातल का तापमान नीचा हो जाता है। समुद्री भाग में उष्ण तथा आर्द्र वायु ठण्डी वायु राशि से मिलकर संघनन द्वारा महीन जलकणों में परिवर्तित होकर एकत्र होती रहती है, जिससे कुहरे का निर्माण होता है। ऐसा कोहरा तट के निकट शीत ऋतु में सामान्यत: दोपहर तक बना रहता है।
2. **सम्पर्कीय विकिरण कुहरा** (Advection Radiation Fog)—जब कभी ठण्डे धरातल पर मंद गति से प्रवाहित उष्ण व आर्द्र पवनें किसी कारणवश स्थिर अवस्था में आ जाएँ तो उनका धरातल से सम्पर्क स्थापित हो जाता है, जिससे यहाँ कुहरा उत्पन्न हो जाता है तथा सम्पर्कीय ताप विलोमता विकसित हो जाती है। इस प्रकार का कहरा शीतोष्ण प्रदेशों में

उत्पन्न होता है। गर्म व ठण्डी समुद्री जल धाराओं के मिलने से भी कुहरा उत्पन्न होता है। सम्पर्कीय कुहरा सागर तथा धरातल दोनों भागों में उत्पन्न हो सकता है। धरातल पर बड़ी-बड़ी झीलों के आस-पास गर्म हवा के सम्पर्क से अनेक स्थानों पर ऐसा देखा गया है। उष्ण प्रदेशों में समुद्री जल काफी गर्म रहने से प्राय: कुहरा नहीं बन पाता है। स्थिति के आधार पर विकिरण कुहरे को दो भागों में बाँटते हैं—

(i) **वाष्पीय कुहरा** (Steam Fog)—इसे ध्रुवीय कुहरा के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि वाष्पीय कुहरा ध्रुवीय उच्च अक्षांशों में अधिक उत्पन्न होता है। जब कभी धरातलीय ठण्डी पवनों पर सागरीय गर्म, आर्द्र हवाएँ ऊपर चढ़ जाती हैं तो संघनन क्रिया से वाष्पीय कुहरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के कुहरे को देखने से ऐसा लगता है मानो सागर से आग का धुआँ निकल रहा है।

(ii) **पहाड़ी कुहरा** (Hill Fog)—शीतोष्ण कटिबन्धों में पहाड़ी कुहरा प्राय: उत्पन्न होता है। जब किसी महाद्वीप की गर्म तथा आर्द्र हवाएँ पहाड़ी भागों की ओर चलकर ढाल के सहारे ऊपर चढ़ने की कोशिश करती हैं तो शीतल वायु से सम्पर्क के कारण संघनन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और कुहरे का निर्माण हो जाता है। पहाड़ों पर उत्पन्न होने से इसे पहाड़ी कुहरा नाम दिया गया है।

(iii) **वाताग्र कुहरा**—वाताग्र कुहरा सीमान्त क्रिया पर आधारित होता है। यह ठण्डी तथा गर्म हवाओं के आमने-सामने से टकराने या अभिसरण करने से उत्पन्न हो जाता है। इससे गर्म हवा ठण्डी हवा के ऊपर चढ़ जाती है एवं संघनन क्रिया होने से कुहरे का निर्माण हो जाता है। इसके लिए हवाओं का मन्द गति से बहना तथा आकाश में रात्रि को बादलों का छाया रहना भी सहायक होता है।

कुहरे से अधिकतर हानि ही होती है। चाय तथा कहवा की खेती को छोड़ अन्य सभी फसलों के लिए यह हानिकारक है। कुहरे से जल, स्थल एवं वायु यातायात में काफी समस्याएँ आती हैं। इससे दुर्घटनाओं का खतरा बना रहता है।

प्र.5. वायुराशि की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर

वायुराशि की विशेषताएँ
(Properties of Airmasses)

सामान्यत: वायुराशि में निम्न विशेषतायें पायी जाती हैं—

1. एक वायुराशि की उत्पत्ति भूतल के विशिष्ट भाग में लम्बे समय तक स्थिर बने रहने से होती है।
2. वायुराशि का विस्तार क्षैतिज तल पर हजारों वर्ग किमी में हो सकता है।
3. अपने उद्गम स्थल के जलवायु सम्बन्धी गुण ग्रहण करने के पश्चात् वायुराशियाँ बाहरी क्षेत्रों की ओर फैलने लगती या गतिशील होती हैं।
4. वायुराशि में तापमान एवं आर्द्रता का विस्तार क्षैतिज पट्टियों में होता है अर्थात् ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ इनके लक्षणों में परिवर्तन आ सकता है।
5. वायुराशियाँ जिन क्षेत्रों की ओर प्रभावित होती है, वहाँ के तापमान, आर्द्रता एवं मौसम की दशा पर विशेष एवं तत्काल प्रभाव डालती हैं।
6. वायुराशियाँ ज्यों-ज्यों अपने उद्गम स्थल से दूर जाती हैं, त्यों-त्यों मार्ग के प्रदेशों से स्वयं भी प्रभावित होती रहती हैं। उनमें तापीय व गतिज परिवर्तन आते हैं।
7. निरंतर संशोधन होने पर वायुराशि कालान्तर में अपने अधिकांश मूल गुण खो देती है।

प्र.6. वायुराशि के उत्पत्ति के क्षेत्र कौन-से हैं?

उत्तर

वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्र
(Origin Area of Airmasses)

भूतल के जिस भाग पर वायुराशि की उत्पत्ति होती है, उसे वायुराशि का उत्पत्ति या उद्गम क्षेत्र कहते हैं। भूतल पर वायुराशियों के 6 आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र पाये जाते हैं—

1. **भूमध्यरेखीय क्षेत्र**—यह भूतल के शान्त खण्डों में से है। यहाँ पर वर्षपर्यन्त ऊँचे ताप एवं आर्द्रता तथा क्षैतिज हवाओं के अभाव के कारण उष्ण या विषुवत्रेखीय सामुद्रिक वायुराशि का अधिक विकास होता है।

2. **उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र**—इसमें महाद्वीपीय अर्द्ध-शुष्क व शुष्क एवं उष्ण प्रदेश सम्मिलित हैं। सर्दियों में इसका क्षेत्र सिकुड़कर उत्तरी अफ्रीका तक ही रह जाता है अन्यथा इसमें अधिकांश क्षेत्र एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य का मिसीसिपी घाटी क्षेत्र सम्मिलित हैं। यहाँ की वायुराशि महाद्वीपीय उष्णकटिबन्धीय कहलाती है।
3. **उष्णकटिबन्धीय महासागरीय क्षेत्र**—उपोष्ण एवं उष्णकटिबन्धीय उच्चभार के स्थायी क्षेत्र कर्क एवं मकर रेखा के निकट के सागरीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं। यहाँ पर उच्च वायुदाब के कारण शान्त या अश्व अक्षांश क्षेत्र पाये जाते हैं। अत: यहाँ से उष्ण व आर्द्र सागरीय वायुराशि विकसित होती है। यह प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र होता है।
4. **मानसूनी वायुराशियों के क्षेत्र**—विशेषत: दक्षिणी एशिया तथा पूर्वी चीन एवं निकटवर्ती सागर पर ऐसी वायुराशियाँ मौसम के अनुसार विकसित होती हैं। ग्रीष्मकाल में यहाँ सागरीय वायुराशियों का एवं शीतकाल में महाद्वीपीय वायुराशियों का विशेष प्रभाव बना रहता है।
5. **उपध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशियों के क्षेत्र**—एशिया एवं उत्तरी अमेरिका के उपध्रुवीय एवं हिमाच्छादित क्षेत्र शीतकाल में विशेष ठण्डे एवं बर्फीले हो जाते हैं। तब यहाँ प्रतिचक्रवातीय एवं उच्च वायुदाब की आदर्श दशाएँ पाई जाती हैं। इसी समय यहाँ से ठण्डी व शुष्क महाद्वीपीय वायुराशि (ध्रुवीय प्रदेशों की) विकसित होती है। इसी भाँति अण्टार्कटिका महाद्वीप पर भी इसी प्रकार से वायुराशि का विकास होता है। इन्हें ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशि कहते हैं।
6. **ध्रुवीय सागरीय क्षेत्र**—अटलाण्टिक एवं प्रशान्त महासागर के उत्तरी क्षेत्र इसमें सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों में भी बर्फीली एवं ठण्डी वायुराशि का ही विकास होता है, किन्तु इनमें नमी होने के कारण इनका प्रभाव अधिक गत्यात्मक या परिवर्तनशील बना रहता है। यह वायुराशि शीतकाल में अधिक प्रभावशाली रहती है।

इस प्रकार ठण्डी वायुराशियाँ ध्रुवीय तथा उपध्रुवीय क्षेत्रों से, उष्ण वायुराशियाँ अर्द्धोष्ण, मानसूनी अथवा उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों से, महाद्वीपीय वायुराशियाँ विशेष शान्तप्राय: एवं समतलप्राय: अन्त: महाद्वीपीय प्रदेशों से एवं महासागरीय वायुराशियाँ विशेष शान्त सागरीय क्षेत्रों (उष्ण व शीत-शीतोष्ण) पर विकसित होती रहती हैं।

प्र.7. वाताग्रों का मौसम पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर

वाताग्रों का मौसम पर प्रभाव
(Effect on Weather of Fronts)

वाताग्रों का निर्माण दो विपरीत तापमान वाली वायुराशियों के मिलने के कारण होता है। अत: वाताग्र को उत्तर से दक्षिण की ओर पार करने पर विपरीत मौसम का आभास होता है। वाताग्र अपने भौतिक लक्षणों के अनुसार क्षेत्र विशेष के मौसम पर तत्काल प्रभाव डालकर उसमें परिवर्तन लाते हैं। उष्ण वाताग्र का प्रभाव उसकी धरातलीय स्थिति से काफी पहले या आगे तक दिखाई देता है। उष्ण वाताग्र काफी ऊँचाई तक अनेक प्रकार के वर्षा वाले बादलों के निर्माण में सहायक होता है। इससे वहाँ पर्याप्त वर्षा भी हो जाती है। उष्ण वाताग्र का ढाल हल्का होने से वर्षा लंबे समय तक एवं विस्तृत क्षेत्र में होती है। संशोधित वाताग्र में भी ऊँचाई पर फैली गर्म वायु की नमी के संघनन से हल्की वर्षा हो सकती है।

शीत वाताग्र जो कि शीतोष्ण चक्रवात के पिछले भागों में विकसित होता है, वहाँ पर उष्ण वायु को तीव्र गति से ऊपर उठना पड़ता है। यहाँ पर ठण्डी वायु आक्रामक होती है। अत: गर्जन, तर्जन, ओला वृष्टि, हिमपात, तेज हवा आदि सामान्यत: विकसित होते रहते हैं। वर्षा तीव्र होती है, किन्तु थोड़े समय के लिये ही होती है। ऐसे प्रभाव से मौसम ठण्डा हो जाता है। यहाँ कभी-कभी शीत लहर भी चल सकती हैं। इस भाग में भूमि पर शीत वाताग्र हावी रहने से इसका ढाल उन्नतोदर बना रहता है। जिन प्रदेशों में वाताग्र एवं चक्रवातों का निरन्तर प्रभाव रहता है, वहाँ पर मौसम सदैव परिवर्तनशील बना रहता है।

प्र.8. शीतोष्ण चक्रवात के जीवन-चक्र की अवस्थाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

शीतोष्ण चक्रवात का जीवन-चक्र
(Life Cycle of Temperate Cyclone)

शीतोष्ण चक्रवात की उत्पत्ति एवं जीवन-चक्र निम्न प्रकार से छ: क्रमिक अवस्थाओं में पूर्ण होता है—

प्रथम अवस्था—इसमें ठण्डी तथा उष्ण वायु एक-दूसरे से विपरीत दिशा में चलती है। यहाँ पर स्थिर वाताग्र का निर्माण होता है।

द्वितीय अवस्था—इस अवस्था में गर्म पछुआ पवन ठण्डी वायु में प्रवेश करने का प्रयास प्रारम्भ करती है जिसके परिणामस्वरूप लहरदार वाताग्र बनने लगता है।

तृतीय अवस्था—इस अवस्था में चक्रवात की उत्पत्ति स्पष्ट होती जाती है। इसमें उष्ण और शीत वाताग्रों का विकास हो जाता है।

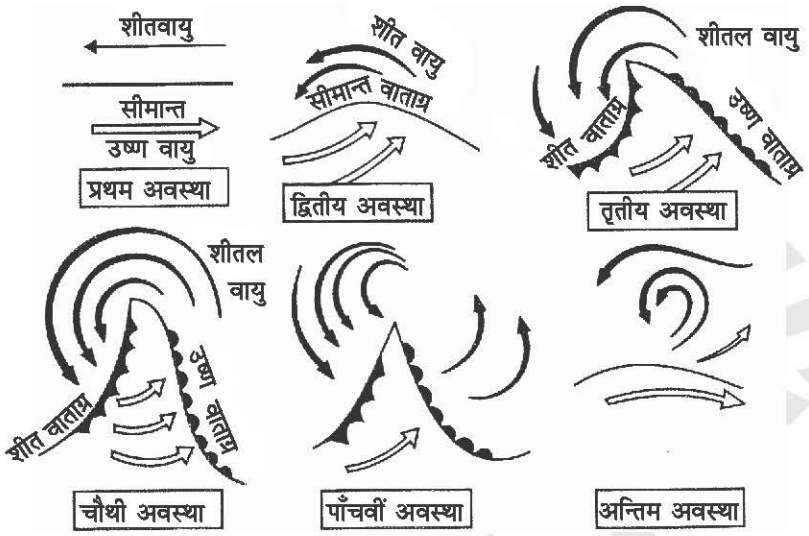

चित्र : शीतोष्ण चक्रवात के जीवन-चक्र की छः अवस्थाएँ

चतुर्थ अवस्था—शीत वाताग्र के तेजी से आगे बढ़ने के कारण उष्ण वृत्तांश (Warm sector) संकुचित होता जाता है। यहाँ आकृति संकरे वेज या गहरे 'V' जैसी होती जाती है।

पंचम अवस्था—इस अवस्था में शीत वाताग्र निरन्तर उष्ण वाताग्र को ऊपर उठाता जाता है। इस प्रकार वहाँ चक्रवातीय प्रभाव घटता जाता है एवं संशोधित वाताग्र बनता जाता है। इसको चक्रवातों में एक कटी रेखा द्वारा भी बताते हैं।

छठी एवं अन्तिम अवस्था—इस अवस्था में पुनः बदलते मौसम से पूर्व की अवस्था विकसित होने लगती है। इस अवस्था में वृत्तांश पूर्णतः ऊपर उठ जाता है। अतः चक्रवात समाप्त हो जाता है।

प्र.9. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात से आप क्या समझते हैं? इसकी सामान्य विशेषताएँ को लिखिए।

उत्तर

उष्णकटिबन्धीय चक्रवात
(Tropical Cyclones)

सामान्यतः कर्क तथा मकर रेखाओं के मध्य स्थित क्षेत्र में उत्पन्न चक्रवातों को उष्णकटिबन्धीय चक्रवात कहते हैं। व्यापारिक हवाओं की पेटी में मुख्यतः महाद्वीपों के पूर्वी भागों में एवं उष्णकटिबन्धीय मानसून प्रदेशों में उत्पन्न एवं विकसित होने वाली सभी प्रकार के विक्षोभ उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की श्रेणी में आते हैं। इनको क्षेत्रवार विविध नामों से पुकारा जाता है। जलवायु एवं मौसम विज्ञान के अध्ययन में इनका विशेष महत्त्व है। यह प्रभावित क्षेत्र में तीव्र गति से उग्र रूप धारण करके तबाही मचाते रहते हैं। शीतोष्ण चक्रवातों के समान इनमें समरूपता नहीं होती है।

सामान्य विशेषताएँ (General Characteristics)

उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों में कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें होती हैं, जिनके आधार पर उनको पहचाना जा सकता है—

1. इनके आकार में पर्याप्त अन्तर होता है। इनका व्यास 50 से 300 किमी तक होता है।
2. इनकी गति में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। कुछ 32 किमी प्रति घण्टा की गति से भ्रमण करते हैं, तो कुछ 200 किमी प्रति घण्टा से भी अधिक तीव्र गति से बढ़ते हैं।
3. ये सागरों के ऊपर तीव्र गति से चलते हैं, किन्तु स्थल पर आते ही क्षीण पड़ जाते हैं। अतः महाद्वीपीय तटों को अधिक प्रभावित करते हैं।
4. इनके केन्द्र में वायुदाब बहुत कम होता है। इनकी समदाब रेखाओं की संख्या बहुत कम होने के कारण मानचित्र पर सरलता से प्रदर्शन नहीं हो सकता है।
5. इनमें विभिन्न वाताग्र नहीं पाये जाते हैं एवं तापमान सम्बन्धी भिन्नता भी नहीं होती है।
6. प्रचण्ड गति तथा तूफानी स्वभाव के कारण ये अत्यन्त विनाशकारी होते हैं।

7. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के प्रत्येक क्षेत्र में वर्षा होती है।
8. ये सदैव गतिशील नहीं रहते हैं, बल्कि कभी-कभी एक ही स्थान पर कई दिन तक स्थायी होकर भारी तबाही मचाते हैं।
9. इनका भ्रमण पथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न होता है। ये सामान्यत: व्यापारिक पवनों के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर अग्रसर होते हैं।
10. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात वर्ष के निश्चित समय मुख्य रूप से ग्रीष्मकाल में ही आते हैं। शीतकाल में नहीं दिखाई देते हैं।

प्र.10. टॉरनेडो पर संक्षेप टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

टॉरनेडो (Tornado)

उष्णकटिबन्धीय तथा उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में मुख्यत: संयुक्त राज्य अमेरिका तथा गौण रूप से ऑस्ट्रेलिया में उत्पन्न होने वाले लघु चक्रवातों को टॉरनेडो कहते हैं। ग्रीष्म के प्रारम्भ में मिसिसिपी बेसिन में आने वाले टॉरनेडो तुफान प्रचण्ड विनाशकारी होते हैं। आकार की तुलना में इनका प्रभाव अत्यन्त प्रलयंकारी होता है। इनका आकार एक कीप के समान होता है, जिसका व्यास 100 मीटर या इससे भी कम होता है। ऊपर के चौड़े भाग में कपासी वर्षी मेघ होते हैं। इसके आगमन के समय घने बादल छा जाने से दिन में ही अंधकार हो जाता है तथा वायुदाब निम्नतम हो जाता है। प्रचण्ड वायु प्रवाह में पेड़, मकान, वाहन (कार) आदि आकाश में उड़ने लगते हैं। कभी-कभी किसी एक ही क्षेत्र में कई स्थानों पर एक साथ अनेक टॉरनेडो उत्पन्न हो जाते हैं, तो महाविनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सन् 1974 में संयुक्त राज्य के मध्यवर्ती प्रान्तों में एक ही दिन में लगभग 150 टॉरनेडा चक्रवात आये थे। यद्यपि यह वर्ष के किसी भी भाग में आ सकते हैं, किन्तु बसन्त व ग्रीष्म ऋतु में अधिक उत्पन्न होते हैं। टॉरनेडो में चक्रवातों की तरह केन्द्र में शान्त प्रदेश नहीं पाया जाता है।

चित्र : टॉरनेडो

प्र.11. तूफानों का नामकरण किस संस्थान द्वारा किया जाता है?

उत्तर

तूफानों का नामकरण (Naming of Storms)

विश्व के विभिन्न भागों में प्रतिवर्ष प्रचण्ड तबाही फैलाने वाले तूफानों का नामकरण विश्व मौसम संगठन (WMO) करता है। यह संस्थान सन् 1953 से ही तूफानों के नामों की सूची तैयार करता रहा है। इसने विश्व के समुद्री तूफानों को तीन वर्गों में बाँटा है—(i) उत्तरी प्रशान्त महासागर के टाइफून, (ii) अटलाण्टिक महासागर के हरिकेन तथा (iii) शेष विश्व के साइक्लोन कहलाते हैं। प्रतिवर्ष अंग्रेजी वर्णमाला के A से W तक 21 नाम रखे जाते हैं। तूफान जिस क्रम में आता है, उसी क्रम का उसका नाम होता है। उदाहरण के लिए, अटलाण्टिक के पहले तूफान का नाम एरलिन है, तो आखिरी का नाम विल्मा होगा। समुद्री तूफानों के नामों के छ: सेट बनाये हुए हैं, अर्थात् छ: वर्ष बाद नामों का वही सेट दुबारा प्रयोग होता है। अत्यधिक विनाशकारी तूफान आने पर उसके नाम को दुबारा काम में नहीं लेते हैं, जैसे विगत् वर्षों में आया 'कैटरीना'। पूर्व में सन् 1980 तक तूफानों का नाम केवल महिलाओं के नाम पर रखा जाता था, जैसे—रीटा, सिंडी, हार्वी, लैला, एमिली आदि, किन्तु बाद में इस सूची में पुरूषों के नाम भी जोड़ दिए गए, जैसे—ऑस्कर गार्डन, बिल आदि। सन् 1970 में बंगाल की खाड़ी में ग्रेट भोला साइक्लोन में 5 लाख, सन् 1975 में चीन सागर में सुपर टाइफून नीना में 2 लाख, सन् 2008 में म्यांमार में साइक्लोन नर्गिस में 1.5 लाख लोग मारे गए थे। विगत् वर्षों में भारत में आये चक्रवातों में अम्फन, वायु, फेनी, गाजा, तितली, हेलन, फालिन, ताऊते आदि प्रमुख हैं।

प्र.12. प्रतिचक्रवात को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

प्रतिचक्रवात (Anticyclones)

प्रतिचक्रवात में चक्रवात की ठीक उल्टी स्थिति पाई जाती है। इनके मध्य में उच्चदाब होता है एवं थोड़ी-थोड़ी दूरी पर तीन या चार समभार रेखाएँ अण्डाकार या V के आकार में एक क्षेत्र को घेरे रहती हैं। इस प्रकार 'प्रतिचक्रवात समभार रेखाओं की वह अण्डाकार व्यवस्था है, जिसके मध्य उच्च वायुदाब रहता है एवं पवनें बाहर की ओर चलती हैं।' इसमें पवनें शीतल एवं धीमी गति

से चलती हैं, आकाश स्वच्छ रहता है। शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में दो चक्रवातों के मध्य प्रतिचक्रवातीय दशा पाई जाती है। यहाँ की पवनें उत्तरी-गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त (Clockwise) एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की सुई की उल्टी दिशा या वामावर्त (Anticlockwise) दिशा में चलती हैं। इनकी विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. इनके मार्ग या दिशा चक्रवातों की भाँति पूर्व-निश्चित नहीं होते हैं। प्राय: शीतोष्ण चक्रवात के पश्चात् प्रतिचक्रवात आते हैं।
2. यह उष्णकटिबन्ध में भूमि से सागर की ओर चलते हैं एवं तट के निकट समाप्त होते जाते हैं।
3. इनका ऊर्ध्वाधर विकास छिछला होता है, किन्तु क्षैतिज विस्तार बहुत अधिक होता है। कभी-कभी इनका व्यास 9,000 किमी तक होता है।
4. इनमें समभार रेखाएँ प्राय: कुछ दूरी पर रहती हैं। अत: पवनें 25 से 40 किमी प्रति घण्टा के आस-पास चलती हैं।
5. प्रतिचक्रवातों के मध्य में ऊपरी भागों की शीतल हवा नीचे उतरकर चारों ओर फैलती हैं। अत: भीतरी उच्च भार से बाहर की ओर पवनें चलती हैं।
6. प्रतिचक्रवातों में मौसम शीतल, साफ एवं शान्त रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध के प्रतिचक्रवातों के पूर्वी व दक्षिणी-पूर्वी भाग में शुष्क व गर्म हवाएँ एवं पृष्ठ भाग में शुष्क व शीतल पवनें चलती हैं।
7. इसमें न तो वायुराशियाँ मिलती हैं, न ही वाताग्रों का विकास होता है।

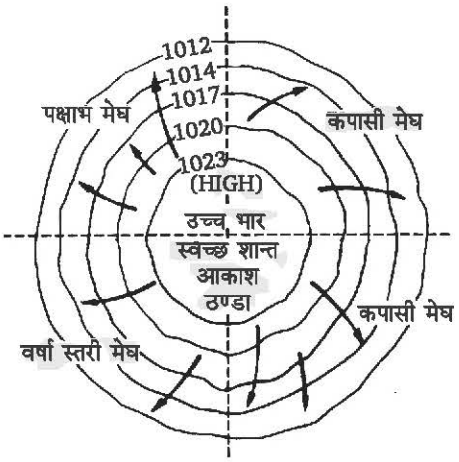

चित्र : प्रतिचक्रवात

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. वायुमण्डलीय आर्द्रता के प्रकार एवं तापमान में सम्बन्ध दर्शाते हुए इसका वर्णन कीजिए।

उत्तर

वायुमण्डलीय आर्द्रता के प्रकार एवं तापमान में सम्बन्ध
(Relation between Types of Atmospheric Humidity and Temperature)

वायुमण्डल में पाई जाने वाली जलवाष्प ही उसकी **आर्द्रता** या **नमी** कहलाती है। यह वायु गति, तापमान, जलवाष्प ग्रहण करने की क्षमता, सौर ऊर्जा आदि तथ्यों से विशेष प्रभावित होती है। इसी भाँति जो दैनिक मौसम सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं, उसका आधार भी वायु में उपस्थित आर्द्रता ही है। आर्द्रता की कमी या अधिकता, वायु के तापमान में कमी या वृद्धि, संघनन के विविध रूपों का विकास आदि सभी मौसम के दैनिक परिवर्तनकारी घटक हैं। सामान्यत: जब भी वायु का तापमान बढ़ता है, उसकी आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता भी उतनी ही बढ़ती जाती है। यह निम्न सारणी से स्पष्ट है—

तापमान °F	°C	एक घन फुट वायु की अधिकतम जल वाष्प रखने की क्षमता (ग्रेन में)
32°	0°	1.9
40°	4.5°	2.9
50°	10.0°	4.1
60°	15.0°	5.7
70°	21.1°	8.0
80°	26.7°	10.9
90°	32.2°	14.8
100°	37.8°	19.9
110°	43.3°	26.5

किसी वायु के विशेष भाग में कितनी आर्द्रता है एवं उसकी अतिरिक्त आर्द्रता ग्रहण करने की कितनी क्षमता है इसको ज्ञात करना ही आर्द्रता का मापन कहलाता है। हाइग्रोमीटर (Hygrometer) उपकरण द्वारा आर्द्रता मापी जाती है। आर्द्रता को दो रूपों में मापा जा सकता है—

1. **निरपेक्ष या वास्तविक आर्द्रता** (Absolute or Real Humidity)—वायु के निश्चित आयतन में एक निश्चित तापमान पर जितनी जलवाष्प की मात्रा पाई जाती है, वही उसकी वास्तविक या निरपेक्ष आर्द्रता कहलाती है। इसे °F तापमान पर प्रति घन फुट ग्रेन में अथवा °C तापमान पर प्रति घन मीटर ग्राम में दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी वायु के एक घन फुट भाग में 80°F पर 7 ग्रेन जलवाष्प है, तो वायु की वास्तविक आर्द्रता 7 ग्रेन प्रति घन फुट हुई। यदि अतिरिक्त नमी प्राप्त होने से यह मात्रा 8 ग्रेन हो जाती है, तो वास्तविक आर्द्रता भी उसी के अनुसार 8 ग्रेन प्रति घन फुट हो जाएगी। वायु में अनेक कारणों से जलवाष्प की मात्रा स्थिर नहीं रहती, अत: वास्तविक या निरपेक्ष आर्द्रता का उल्लेख करते समय उसका समय भी अंकित कर दिया जाता है।
2. **विशिष्ट आर्द्रता** (Specific Humidity)—वायु के ऊपर उठने व नीचे उतरने से उसकी वास्तविक आर्द्रता में परिवर्तन आता है। इसीलिए वायुराशियों के अध्ययन में वास्तविक आर्द्रता का प्रयोग न करके विशिष्ट आर्द्रता का प्रयोग किया जाता है। जलवाष्प सहित वायु के भार तथा जलवाष्प के भार के मध्य के अनुपात को विशिष्ट आर्द्रता कहते हैं। यह प्रति किलोग्राम नम हवा में उपस्थित जलवाष्ण की मात्रा को ग्राम में प्रदर्शित करती है।
3. **सापेक्षिक आर्द्रता** (Relative Humidity)—यह अनुपात या प्रतिशत में व्यक्त की गई आर्द्रता है। ऐसा अनुपात पूर्व-निश्चित तापमान एवं आयतन की वायु में उपस्थित वास्तविक नमी एवं उसी तापमान पर वायु की अधिक नमी ग्रहण करने की क्षमता के मध्य होता है, जैसे 90°F पर एक फुट वायु में 7.4 ग्रेन जलवाष्प उपस्थित है, जबकि उसी तापमान पर उस वायु की नमी ग्रहण करने की क्षमता 14.8 ग्रेन है, अत: उसकी सापेक्षिक आर्द्रता 50 प्रतिशत होगी।

सापेक्षिक आर्द्रता का महत्त्व—बदलते हुए मौसम का अनुमान लगाने में तापमान परिवर्तन के साथ-साथ सापेक्षिक आर्द्रता के बदलते स्वरूप का ज्ञान विशेष सहायक रहता है। इससे वायु की वाष्पीकरण की क्षमता का भी ज्ञान होता है। उष्ण एवं अर्द्धोष्ण प्रदेशों मे निरन्तर ऊँची सापेक्षिक आर्द्रता या अधिक नमी व्यक्ति की कार्यक्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है, क्योंकि उमस भरा वातावरण कार्य करने की क्षमता एवं कुशलता को तत्काल कम कर देता है। इसी भाँति शीतोष्ण प्रदेशों में भी विशेष ऊँची सापेक्षिक आर्द्रता मानव के लम्बे समय तक कार्य करने की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। नमीयुक्त वायु के ऊपर उठने से अथवा अन्य कारणों से जब वायु के तापमान गिरने लगते हैं, तो वायु में उपस्थित नमी अपनी गुप्त ऊष्मा पुन: वायु को वापिस कर देती है। ऐसा संघनन की क्रिया से ही सम्भव होता है।

प्र.2. बादलों का निर्माण कैसे होता है? बादलों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर

बादल (Clouds)

वायुमण्डल में ऊपर उठती हुई वायु का तापमान जब ओसांक से नीचे गिर जाता है तो वायु में उपस्थित जलवाष्प शीतल होकर सूक्ष्म जलकणों या हिमकणों में बदल जाती है। वायुमण्डल में समूह के रूप में उपस्थित ऐसे जलकणों व हिमकणों को बादल कहते हैं। धरातल के निकट होने पर ये जलकण कुहरे के रूप में होते हैं, जबकि ऊँचाई पर सघन मात्रा में फैले होने पर बादल कहलाते हैं।

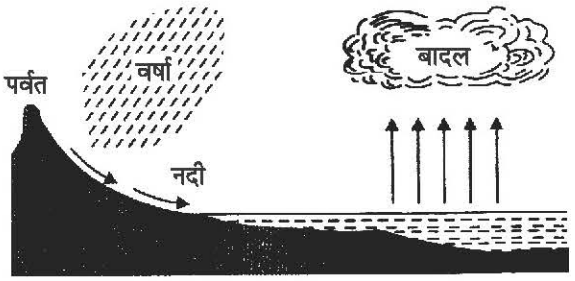

चित्र : बादलों की उत्पत्ति

बादलों का वर्गीकरण (Classification of the Colouds)

बादलों के स्थिति (ऊँचाई), आकार (फैलाव) तथा रंग के आधार पर अनेक प्रकार पाए जाते हैं। सामान्य रूप से बादलों के अग्र प्रकार माने गए हैं—

1. **पक्षाभ बादल** (Cirrus Clouds)—इस प्रकार के बादल आकाश में सबसे अधिक ऊँचाई पर स्थित रहते हैं। सामान्यत: इनकी धरातल से ऊँचाई 7,500 मीटर से 10,500 मीटर होती है। बारीक हिमकणों द्वारा निर्मित ये बादल बिखरे हुए रूप से सफेद धूनी हुई रूई के समान होते हैं। इन बादलों में से सूर्य किरणें आसानी से पार हो जाती हैं। जब ये आकाश में झुण्ड के रूप में दूर-दर दिखाई देते हैं तो चक्रवात आने की सम्भावना होती है। यदि वे बिखरे हुए रहते हैं तो साफ मौसम के सूचक होते है। सामान्यत: इनसे वर्षा नहीं होती है।

2. **पक्षाभ स्तरी बादल** (Cirrostratus Clouds)—ऐसे बादल आकाश में एक विशेष प्रकार की पतली सफेद चादर के समान बिखरे तथा जुड़े दोनों रूपों में रहते हैं। जब कभी इनका आगमन होता है तो सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर प्रभामण्डल (Halo) बनाते हैं। परीक्षण करने के उपरान्त पक्षाभ-स्तरी बादलों की ऊँचाई 7,000 मीटर तक होती है। जब कभी आकाश में इनका फैलाव होता है तो चक्रवात आने की पूर्ण सम्भावना होती है।
3. **पक्षाभ कपासी बादल** (Cirrocumulus Clouds)—ये बादल सामान्यत: 7,500 मीटर की ऊँचाई पर मिलते हैं। ये पूर्ण सफेद तथा गोलाकार आकृति के होते हैं। कभी-कभी ये लहरदार रूप में होते हैं। इनकी ऊँचाई पक्षाभ स्तरी बादलों के समान होती है। ये सूर्य के प्रकाश में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं तथा प्राय: प्रात:काल में दिखते हैं।
4. **उच्च-स्तरी बादल** (Alto-stratus Clouds)—इस प्रकार के बादल आकाश में नीले तथा भूरे रंग की मिश्रित पट्टी के रूप में फैले रहते हैं। ये पट्टियाँ काफी घनी होती हैं, जिसमें से सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणें नहीं निकल पाती हैं। अत: इनसे कभी सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रभामण्डल नहीं बनते हैं। इनसे भारी वर्षा होती है। मध्यवर्ती अक्षांशों में चक्रवाती वर्षा अधिकतर इनसे ही होती है। ये प्राय: 2,000 से 6,000 मीटर की ऊँचाई तक पाए जाते हैं।
5. **उच्च-कपासी बादल** (Alto-cumulus Clouds)—ऐसे बादल मध्यवर्ती ऊँचाई के बादलों में आते हैं। ये आकार में पतले व गोलाकार धब्बे के समान होते हैं। आकाश में विस्तृत रूप से फैले हुए इन बादलों के अनेक रूप पाए जाते हैं। कभी-कभी सफेद तथा भूरे रंग की चादर के समान, कभी लहरदार, तो कभी विस्तृत घने रूप में भी फैले रहते हैं। इस प्रकार के बादलों की ऊँचाई 3,000 से लेकर 8,000 मीटर तक होती है। पक्षाभ कपासी बादल की अपेक्षा ये अधिक सघन होते हैं।
6. **स्तरी कपासी बादल** (Stratus-cumulus Clouds)—ये बादल निम्न ऊँचाई की श्रेणी में आते हैं, जो रंग में हल्के भूरे तथा बड़े-बड़े गोलाकार छल्लों में बिखरे रहते हैं। ये कभी-कभी काले रंग के भी हो जाते हैं। शीतकाल में कभी-कभी सम्पूर्ण आकाश में फैले रहते हैं। साधारणत: इन बादलों की ऊँचाई 1,000 मीटर तक आँकी गई है।
7. **स्तरी बादल** (Stratus Clouds)—ये निम्न ऊँचाइयों वाले बादल हैं। इस प्रकार के बादल दो विपरीत स्वभाव वाली पवनों के मिलने से उत्पन्न होते हैं। इनका निर्माण शीतोष्ण कटिबन्धों में सर्दी की ऋतु में ही होता है। इनका रूप कुहरे जैसा होता है लेकिन ये प्राय: धरातल से 3 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थित रहते हैं। ये कभी हल्के भूरे, कभी धूसर, कभी गुलाबी व बैंगनी रंग के होते हैं।
8. **वर्षा स्तरी बादल** (Nimbo-stratus Clouds)—धरातल के निकट स्थित ये बादल रंग-रूप में काले तथा घने फैले रहते हैं। जब वर्षा होने की सम्भावना होती है तो ये आकाश में काफी घनी मात्रा में काली घटा के रूप में छा जाते हैं। इनके द्वारा काफी वर्षा होती है। अधिक सघनता के कारण ये सूर्य के प्रकाश को रोक लेते हैं, अत: इनके छाने पर अन्धकार-सा हो जाता है।
9. **कपासी वर्षा बादल** (Cumulo-nimbus Clouds)—इस प्रकार के बादल अति काले तथा सघन होते हैं। जब इनका आकाश में आगमन होता है तो भारी गर्जन करते हैं। ये विशाल पहाड़ों की तरह काफी ऊँचाई तक खडे नजर आते हैं। इनका आधार निम्न स्तर पर होता है तो शीर्ष मध्य स्तर तक फैला होता है। इन बादलों की मुख्य विशेषता यह है कि भारी वर्षा, ओला और तडित झंझाओं की झडी-सी लगी रहती है।
10. **कपासी बादल** (Cumulus Clouds)—गोभी की आकृति जैसे ये बादल भी ऊर्ध्वाधर होते हैं, जोकि शीर्ष पर जाकर अधिक चौड़े हो जाते हैं। ये अधिक घने तथा विस्तृत रूप में फैले रहते हैं। इनकी औसत ऊँचाई 3 किमी होती है। इनमें से कुछ सफेद व रूई जैसे होते हैं, तो कुछ काले व घने होते हैं। उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में संवहनिक धाराओं के कारण ये आदर्श रूप में पाए जाते हैं। वहाँ प्रतिदिन सायंकाल को इनसे घनघोर वर्षा होती है।

प्र.3. वर्षा की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? वर्षा के विभिन्न प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

वर्षा की उत्पत्ति
(Origin of Rain)

वर्षा के लिए उष्ण-आर्द्र पवनों तथा आर्द्रताग्राही नाभिकों का असंख्य मात्रा में होना परम आवश्यक है। उष्ण-आर्द्र वायु, वायुमण्डल में ऊँचाई पर जाकर फैलती है तथा ठण्डी होती रहती है। आर्द्र पवनें जब ठण्डी होकर ओस बिन्दुओं तक आ जाएँ तो यही जलकण

धीरे-धीरे बादलों का रूप धारण कर लेते हैं। इनमें संघनन की क्रिया प्रारम्भ होने से छोटे-छोटे जलकण बड़े-बड़े जलकणों में परिवर्तित हो जाते हैं। जब ये बूँदों के रूप में स्थूल रूप धारण कर लेते हैं तो वायुमण्डल में इनका स्थिर रहना दुर्लभ हो जाता है अर्थात् वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा की मात्रा कम या अधिक होना जलकणों के आकार व मात्रा पर भी निर्भर करता है।

वर्षा योग्य जल बिन्दुओं का आकार 2/10 मिमी से अधिक व्यास का होना आवश्यक है। जल-बिन्दुओं का आकार बड़ा होने के लिए आवश्यक है कि गर्म हवाएँ अधिक ऊँचाई पर जाकर ठण्डी हो जाती है तथा तापमान जलबिन्दुओं तक या नीचे आकर काफी समय तक स्थिर रहे। इसके अतिरिक्त बादलों में भारी उथल-पुथल तथा विद्युत आवेग के प्रारम्भ होने से भी जल बिन्दुओं का आकार बढ़ जाता है।

वर्षा के प्रकार (Types of Rain)—वर्षा मुख्यत: तीन प्रकार से होती है—

1. **संवहनी वर्षा** (Convectional Rainfall)—इस प्रकार की वर्षा अधिकतर भूमध्यरेखीय प्रदेशों में होती है। इसके लिए सूर्य की किरणें धरातल पर लम्बवत् पड़नी चाहिए। धरातल की वायु इन लम्बवत् किरणों से अधिक गर्म एवं हल्की होकर ऊपर उठने लगती है। ये हवाएँ तब तक ऊपर उठती रहती हैं जब तक कि इनका तापमान ऊपरी सम्पर्क में आने वाली हवाओं के बराबर न हो जाए। धरातल के गर्म होने से हवाएँ गर्म होकर लगातार ऊपर को संवहनिक धाराओं के रूप में उठती रहती हैं एवं उठती हुई हवाएँ ठण्डी होती जाती हैं जिसके कारण संघनन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। संघनन से थोड़ी देर में आकाश कपासी वर्षी मेघों से भर जाता है और शीघ्र भारी वर्षा होने लगती है। भूमध्यरेखीय भागों में दोपहर के बाद प्राय: आकाश काले घने बादलों से छा जाता है। प्रतिदिन लगभग 4 बजे बादलों की गर्जन के साथ वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए भूमध्यरेखीय प्रदेशों में होने वाली संवहनी वर्षा को **4 बजे वाली वर्षा** (4 O'clock rain) भी कहते हैं। जब वर्षा बन्द हो जाती है, तो आकाश थोड़ी देर में पुन: मेघरहित हो जाता है।

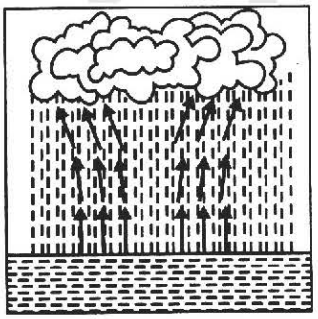

चित्र : संवहनी वर्षा

2. **पर्वतीय वर्षा** (Orographic Rainfall)—जब कभी उष्ण तथा आर्द्र पवनों के मार्ग में कोई पर्वत या ऊँची पहाड़ी अवरोध के रूप में सामने आ जाती है तो ये पवनें उसके ढालों के सहारे-सहारे ऊपर को चढ़ती हैं। तब वह ठण्डी होकर अपनी नमी को वर्षा के रूप में गिरा देती हैं। इस प्रकार हुई वर्षा को पर्वतीय वर्षा कहा जाता है। यह वर्षा पवनाभिमुख (Windward) ढालों पर ही सबसे अधिक होती है। पर्वतों के पीछे के भाग में या पवनविमुख (Leeward) ढाल पर जाते-जाते पवनें शुष्क तथा शीतल हो जाने से वर्षा नहीं होती या बहुत कम होती है। इसी कारण पर्वतों के पीछे के अधिकांश भाग शुष्कप्राय रहते हैं। ये वर्षाविहीन प्रदेश वृष्टिछाया प्रदेश कहलाते हैं। पर्वतीय वर्षा के लिए कुछ भौतिक दशाएँ आवश्यक हैं—
   (i) पर्वतों की स्थिति उष्ण-आर्द्र पवनों के ठीक सामने पर्याप्त चौड़ाई व ऊँचाई में होनी चाहिए,
   (ii) समुद्र से आने वाली हवाएँ उष्ण एवं आर्द्र होनी चाहिए,
   (iii) पर्वतीय भागों की सागर तट से दूरी कम तथा स्थिति समानान्तर होनी चाहिए।
3. **चक्रवातीय वर्षा** (Cyclonic Rainfall)—चक्रवातीय वर्षा में विपरीत स्वभाव वाली दो पवनें आमने-सामने से अभिसरण करती हैं एवं वाताग्रों का निर्माण करती हैं। वाताग्र में जब गर्म हवाएँ ठण्डी हवाओं के ऊपर चढ़ जाती हैं तो ऊपर की गर्म हवाएँ नीचे के भागों से ठण्डी होकर संघनन क्रिया प्रारम्भ कर देती हैं तथा वर्षा होने लगती है। इस प्रकार की वर्षा अधिकतर शीतोष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में होती है जहाँ पर गर्म तथा ठण्डी हवाएँ मिलती रहती हैं।
   चक्रवातीय वर्षा में हवाओं की गति संवहनी वर्षा जैसी नहीं होती है। इसमें उष्णा पवनों को धीरे-धीरे ठण्डी तथा भारी पवनों के साथ एक ढाल के सहारे ऊपर को चढ़ना पड़ता है, क्योंकि उष्णार्द्र पवनें हल्की होती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे पवनों के उठने से वर्षा काफी समय तक होती है। चक्रवातीय वर्षा मध्य अक्षांशों में शीतकाल में ही अधिक होती है। शीत काल में भूमध्य सागर से आने वाले चक्रवात भारत के पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में भी वर्षा करते हैं। ग्रीष्म काल में चक्रवातों द्वारा केवल अयनवृत्तीय क्षेत्रों में वर्षा होती है।

धरातल पर वर्षा का वितरण बहुत असमान है, कहीं 200 सेमी से अधिक है तो कहीं 20 सेमी से भी कम है। वर्षा के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों में तापमान, स्थल-जल का वितरण, पर्वतों की दिशा, पवनों की दिशा आदि सम्मिलित हैं। वर्षा के वितरण की दृष्टि से विश्व को अग्र पेटियों में विभाजित कर सकते हैं—

(i) **अत्यधिक वर्षा वाली भूमध्यरेखीय पेटी**—इस पेटी में रोजाना वर्षा होती है। सूर्य की तेज गर्मी से संवहनिक धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे संघनन के उपरान्त् दोपहर के बाद वर्षा होती है। इस वर्षा को संवहनी या **संवहनिक वर्षा** कहते हैं। वर्षा के समय बादल गर्जन तथा तर्जन भी करते हैं। वर्षा होने के थोड़ी देर बाद आकाश साफ हो जाता है। भूमध्यरेखीय वर्षा पेटी का क्षेत्र 10° उत्तरी अक्षांश से 10° दक्षिणी अक्षांश तक पाया जाता है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायण के कारण इस पेटी में घट-बढ़ भी हो जाती है। यहाँ वार्षिक वर्षा की मात्रा 200 सेमी से अधिक होती है।

(ii) **व्यापारिक पवनों द्वारा वर्षा की पेटी**—व्यापारिक पवने अधिकांशत: सागरों से गुजरकर महाद्वीपों के पूर्वी भागों पर वर्षा करती हैं। पूर्वी भागों पर वर्षा की मात्रा अधिक होती है तथा महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में धीरे-धीरे वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। पश्चिमी भागों पर जाकर बिल्कुल वर्षा नहीं होती क्योंकि वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते पवनें शुष्क तथा शीतल हो जाती हैं। इसी कारण महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में मरुस्थल पाए जाते हैं। इस प्रकार की वर्षा भूमध्य रेखा से 10°-20° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश तक होती है। यही मानसूनी वर्षा के प्रदेश हैं जहाँ पर ग्रीष्मकाल के मानसूनों द्वारा अत्यधिक वर्षा होती है। इस पेटी में वर्षा के वितरण में अत्यधिक असमानता है।

(iii) **उपोष्ण कटिबन्धीय निम्न वर्षा की पेटी**—यह उच्च दाब की पेटी है। यहाँ पर हवाएँ दो विपरीत दिशाओं में चलने से अपसरण की क्रिया होती है अर्थात् प्रतिचक्रवातीय स्थिति बन जाती है और वर्षा नहीं होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेमी या इससे भी कम पाया जाता है। इस प्रकार की वर्षा का विस्तार 20°-30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों में पाया जाता है। शीतकाल प्राय: शुष्क होता है। जो कुछ वर्षा होती है, वह केवल ग्रीष्मकाल में ही होती है।

(iv) **भूमध्यसागरीय वर्षा की पेटी**—इसे रूमसागरीय वर्षा के नाम से भी पुकारा जाता है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यहाँ पर ग्रीष्मकाल में बिल्कुल वर्षा नहीं होती। यहाँ पर अधिकांश वर्षा शीतकाल में होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 100 सेमी रहता है। इस प्रकार की वर्षा का विस्तार 30°-40° अक्षांशों के बीच उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में पाया जाता है।

(v) **मध्य अक्षांशीय अधिकतम वर्षा की पेटी**—इसे महाद्वीपीय अधिकतम वर्षा की पेटी भी कहते हैं। यहाँ मुख्यत: शीतकाल में तथा महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में वर्षा अधिक होती है। यहाँ ध्रुवों की ओर से आने वाली ठण्डी पवनों के पछुआ हवाओं से मिलने पर अभिसरण के कारण चक्रवात बनते हैं तथा भारी वर्षा होती है। इस वर्षा को दीर्घकालीन वर्षा के नाम से भी जाना जाता है। वर्षा का वार्षिक औसत 100 से 125 सेमी तक होता है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में वर्षा अधिक होती है, क्योंकि यहाँ जलमण्डल की अधिकता होती है। इस प्रकार की वर्षा का विस्तार उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में 40° से 60° अक्षांश तक पाया जाता है।

(vi) **ध्रुव प्रदेशीय न्यूनतम वर्षा की पेटी**—यहाँ वर्षा का अधिकांश भाग हिमकणों के रूप में होता है। ध्रुवीय हवाएँ अतिशीतलता के कारण नमी को हिमकणों के रूप में ही रखती हैं। यहाँ पर वार्षिक वर्षा का औसत 25 सेमी से कम ही रहता है, जो कि ध्रुवों पर और भी कम होता है। इस प्रकार की वर्षा का अक्षांशीय वितरण 60° से ध्रुवों तक दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है।

मानसूनी वर्षा—उपरोक्त पेटियों के अतिरिक्त विशिष्ट वायुमण्डलीय मौसमी वायुदाब व्यवस्था के विकास के कारण उपोष्ण व उष्ण शीतोष्ण प्रदेशों में मानसूनी वर्षा होती है। ऐसी वर्षा मुख्यत: दक्षिण-पूर्व एशिया के वृहत् भू-भाग पर होती है। यहाँ ग्रीष्मकाल में निम्न वायुदाब क्षेत्र के विकास से महासागरों से स्थलखण्डों की ओर चलने वाली मौसमी हवाओं से उत्तरी गोलार्द्ध में जून से सितम्बर माह तक अधिक वर्षा होती है। दक्षिण-पूर्वी ब्राजील, उत्तरी ऑस्ट्रेलिया, उत्तर-पूर्वी अफ्रीका आदि प्रदेशों में भी ऐसी वर्षा होती है।

प्र.4. **वायुराशि के वर्गीकरण का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।**

उत्तर

वायुराशियों का वर्गीकरण
(Classification of Airmasses)

वायुराशियों का वर्गीकरण उनके उत्पत्ति क्षेत्र तथा उनके गमन मार्ग में ताप व आर्द्रता के परिवर्तन को ध्यान में रखकर किया जाता है—

1. **भौगोलिक या स्रोत के आधार पर वर्गीकरण**—इस वर्गीकरण के अन्तर्गत वायुराशियों के उद्गम स्रोत को प्रमुख आधार माना जाता है। इस आधार पर वायुराशियों के निम्न प्रकार हो सकते हैं—
   (i) **उष्णकटिबन्धीय वायुराशि** (Tropical Airmass)—इसे 'T' अक्षर द्वारा प्रकट करते हैं। इन वायुराशियों को उत्पत्ति उष्णकटिबन्धीय भागों में होती है। भूमध्यरेखीय वायुराशियों को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। उत्पत्ति क्षेत्र के आधार पर इन्हें भी दो वर्गों में रखते हैं—(a) महाद्वीपीय उष्णकटिबन्धीय वायुराशि (CP) तथा (b) महासागरीय उष्णकटिबन्धीय वायुराशि (MP)।
   (ii) **ध्रुवीय वायुराशि** (Polar Airmass)—इसे 'P' अक्षर द्वारा प्रकट करते हैं। इसका आविर्भाव ध्रुवीय क्षेत्रों में होता है। आर्कटिक वायुराशियों को भी इसी वर्ग में सम्मिलित करते हैं। उत्पत्ति क्षेत्र के आधार पर इन्हें भी दो वर्गों में रखते हैं—(a) महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि (CP) तथा (b) सागरीय ध्रुवीय वायुराशि (MP)।
2. **ऊष्मागतिक वर्गीकरण** (Thermodynamics Classification)—मार्ग में होने वाले ऊष्मागतिक तथा यांत्रिक परिवर्तनों के आधार पर वायुराशियों के निम्न प्रकार होते हैं—
   (i) **ठण्डी वायुराशि** (Cold Airmass)—इसकी उत्पत्ति उपध्रुवीय क्षेत्रों में होती है। इसका तापमान कम होता है, विशिष्ट आर्द्रता बहुत कम होती है तथा स्थिरता बढ़ती जाती है। उत्पत्ति क्षेत्र से आगे बढ़ने पर यह जहाँ पहुँचती है वहाँ का तापमान गिरा देती है। नीचे से गर्म होने के कारण संवहन तरंगें उठने लगती है, गर्म सागर के ऊपर होने पर यह वायुराशि वर्षा करती है, किन्तु गर्म महाद्वीप के ऊपर होने पर मौसम साफ रहता है। ठण्डी वायुराशि को भी दो वर्गों में विभाजित करते हैं—**महाद्वीपीय** तथा **सागरीय**।
   (ii) **गर्म वायुराशि** (Warm Airmass)—इनके उत्पत्ति क्षेत्र उपोष्ण कटिबन्ध होते हैं। उत्पत्ति क्षेत्रों में इनकी विशेषता गर्म तथा अस्थिर होना है। उत्पत्ति क्षेत्र से आगे बढ़ने पर इनके निचले भाग में आर्द्रता बढ़ती जाती है तथा नीचे से शीतल होने पर संघनन शीघ्र होने लगता है। गर्म वायुराशि को भी दो वर्गों में रख सकते हैं—महाद्वीपीय तथा महासागरीय।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यदि सैद्धान्तिक वर्गीकरण किया जाये, तो वायुराशियों को 16 भागों में विभाजित किया जा सकता है—

वायुराशियों का सैद्धान्तिक वर्गीकरण

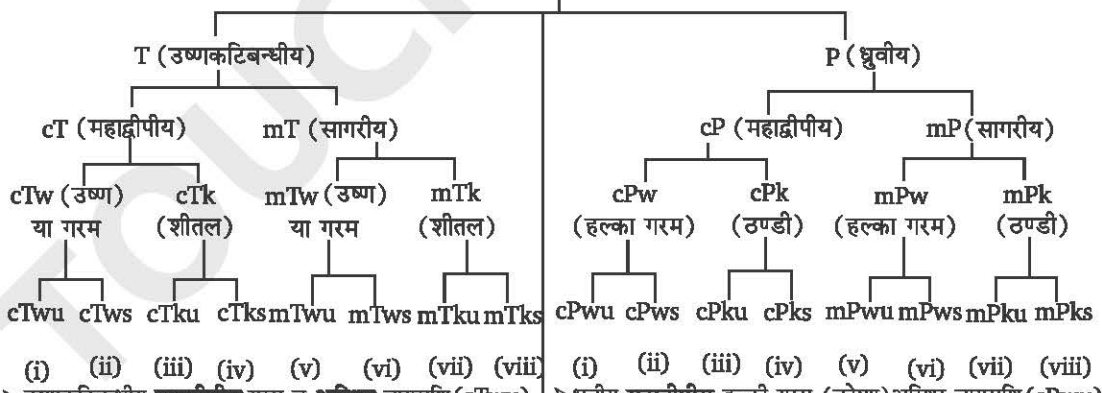

- उष्णकटिबन्धीय **महाद्वीपीय** गरम व **अस्थिर** वायुराशि (cTwu)
- उष्णकटिबन्धीय **महाद्वीपीय** गरम व **स्थिर** वायुराशि (cTws)
- उष्णकटिबन्धीय **महाद्वीपीय** शीतल व **अस्थिर** वायुराशि (cTku)
- उष्णकटिबन्धीय **महाद्वीपीय** शीतल व **स्थिर** वायुराशि (cTks)
- उष्णकटिबन्धीय **सागरीय** गरम व **अस्थिर** वायुराशि (mTwu)
- उष्णकटिबन्धीय **सागरीय** गरम व **स्थिर** वायुराशि (mTws)
- उष्णकटिबन्धीय **सागरीय** शीतल व **अस्थिर** वायुराशि (mTku)
- उष्णकटिबन्धीय **सागरीय** शीतल व **स्थिर** वायुराशि (mTks)

- ध्रुवीय **महाद्वीपीय** हल्की गरम (कोष्ण) अस्थिर वायुराशि (cPwu)
- ध्रुवीय **महाद्वीपीय** हल्की गरम (कोष्ण) स्थिर वायुराशि (cPws)
- ध्रुवीय **महाद्वीपीय** ठण्डी **अस्थिर** वायुराशि (cPku)
- ध्रुवीय **महाद्वीपीय** ठण्डी **स्थिर** वायुराशि (cPks)
- ध्रुवीय **सागरीय** हल्की गरम **स्थिर** वायुराशि (mPwu)
- ध्रुवीय **सागरीय** हल्की गरम **स्थिर** वायुराशि (mPws)
- ध्रुवीय **सागरीय** ठण्डी **अस्थिर** वायुराशि (mPku)
- ध्रुवीय **सागरीय** ठण्डी **स्थिर** वायुराशि (mPks)

प्र.5. वायुराशियों का महाद्वीपवार वितरण का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

वायुराशियों का महाद्वीपवार वितरण
(Continental Distribution of Airmasses)

सभी महाद्वीपों पर मौसमवार एवं क्षेत्रवार विशेष वायुराशियों का प्रभाव रहता है। वर्तमान जलवायु एवं मौसम व्यवस्था ऐसी वायुराशियों से पूर्णतया प्रभावित है। अत: महाद्वीपवार वायुराशियों का अध्ययन अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। यहाँ महाद्वीपवार वायुराशि का प्रभाव-क्षेत्र संक्षेप में दिया गया है—

1. उत्तरी अमेरिका की वायुराशियाँ (Airmasses of North America)

(i) **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशि**—यह ठण्डी (k) शुष्क तथा स्थिर (s) होती है। इसका विकास कनाडा के आन्तरिक भाग, अलास्का तथा हिमाच्छादित आर्कटिक सागर के विस्तृत भाग पर होता है। यह स्थिर रहती हैं, किन्तु बसन्त ऋतु में जब दक्षिण की ओर प्रवाहित होती हैं तो इस बर्फीली वायुराशि की निचली परत कुछ गर्म होने लगती है, जिससे यह अस्थिर होकर विशेष प्रभावी बनती है। इसका ठण्डा प्रभाव मध्य संयुक्त राज्य व कभी-कभी दक्षिणी संयुक्त राज्य में पड़ता है। इसके कारण दक्षिणी भाग में मार्च-अप्रैल में दो तीन घण्टे में तापमान 10° से 18°C तक गिर जाते हैं। इससे कृषि एवं मानव कार्यक्षमता दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) **ध्रुवीय महासागरीय वायुराशियाँ**—यह वायुराशियाँ दोनों ही ओर के महासागरों में विकसित होकर उत्तरी अमेरिका में प्रवेश करती हैं। अत: इन्हें अन्ध महासागरीय एवं प्रशान्त महासागरीय के नाम से पुकारते हैं।

(a) **ध्रुवीय अन्ध महासागरीय वायुराशि**—इसका विकास कनाडा के पूर्वी तटीय भाग एवं निकट के सागरों में होता है। यह शीतऋतु में पछुआ हवाओं के पूर्वी भाग की ओर बहने से प्राय: प्रभावहीन रहती हैं। ग्रीष्म ऋतु में मुख्य महाद्वीप के विशेष गर्म हो जाने से यह अधिक प्रभावी रहती है। इसका विशेष प्रभाव गर्मियों में पूर्वी तट पर 35° उत्तरी अक्षांश से उत्तर में बना रहता है।

(b) **ध्रुवीय प्रशान्त महासागरीय वायुराशि**—इसकी उत्पत्ति बेरिंग सागर व एल्यूशियन द्वीप के आस-पास स्थल व जल पर होती है। अत: यह अस्थिर वायुराशि है। पछुआ हवाओं के प्रभाव से पूर्वी सागरीय भागों पर बहती हुई यह नमी ग्रहण कर लेती है। यह रॉकीज से टकराकर सर्दियों में भारी हिम वर्षा एवं गर्मियों में हल्की वर्षा कर देती है। चिनूक हवा इसी का पूरब की ओर का संशोधित व शुष्क रूप है।

(iii) **उष्णकटिबन्धीय महासागरीय वायुराशियाँ**—यह भी दोनों ओर के महासागरीय भागों में विकसित होती हैं। अत: इन्हें अन्ध महासागरीय एवं प्रशान्त महासागरीय वायुराशि के नाम से जाना जाता है—

(a) **उष्णकटिबन्धीय अन्ध महासागरीय या खाड़ी की वायुराशि**—इस वायुराशि का विकास मुख्यत: मेक्सिको की खाड़ी एवं पूर्वी भाग के गर्म महासागरों में होता है। यह विशेष आर्द्र व उष्ण होती है। जब भी दक्षिणी व मध्य संयुक्त राज्य के विक्षोभमण्डल में ध्रुवीय वायुराशि की शीतलता बढ़ जाती है, तब संयुक्त राज्य के दक्षिणी तट एवं पश्चिमी द्वीप समूह में जबरदस्त वायु विक्षोभ की स्थिति एवं वाताग्र बनने से हरिकेन (उग्र उष्ण चक्रवात) चलते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नमी बढ़ने से यह वायुराशि विशेष अस्थिर एवं प्रभावी रहती है।

(b) **उष्णकटिबन्धीय प्रशान्त महासागरीय वायुराशि**—यद्यपि यह वायुराशि मेक्सिको एवं केलिफोर्निया से पश्चिमी तटीय सागरों में विकसित होती है, किन्तु ठण्डी केलिफोर्निया की धारा के प्रभाव से इसके तापमान विशेष ऊँचे नहीं रहते एवं आर्द्रता भी सामान्य ही रहती है। अत: यह वायुराशि ग्रीष्मकाल की अपेक्षा शीत ऋतु में अधिक प्रभावी रहती है, जबकि भूमि अधिक ठण्डी रहती है। इसके प्रभाव से तटीय भागों एवं पश्चिमी पर्वतीय ढालों पर वर्षा होती है।

(iv) इसके अतिरिक्त कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में दक्षिणी संयुक्त राज्य के मैदान व उत्तरी मेक्सिको पर उष्ण महाद्वीपीय वायुराशि का स्थानीय प्रभाव रहता है। इसका विकास टेक्सास, एरिजोना एवं उत्तरी मेक्सिको के संलग्न प्रदेशों में होता है।

TOUCH 'n' PASS

2. दक्षिणी अमेरिका की वायुराशियाँ (Airmasses of South America)

दक्षिणी अमेरिका की वायुराशियों का अध्ययन व्यापक आधार पर नहीं हो पाया है। फिर भी महाद्वीप का अधिकांश भाग उष्णकटिबन्ध में है। पश्चिम में एण्डीज व ठण्डी धारा प्रशान्त तटीय व सागरीय प्रभाव को रोकते हैं। यहाँ पर तीन वायुराशियों का प्रभाव उल्लेखनीय है—

(i) उष्णकटिबन्धीय अन्ध महासागरीय वायुराशि (उत्तरी-पूर्वी व मध्यवर्ती भाग)
(ii) उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय वायुराशि (मध्यवर्ती व पूर्वी भाग)
(iii) ध्रुवीय महासागरीय वायुराशि (दक्षिणवर्ती पूर्वी भाग)

3. यूरोप की वायुराशियाँ (Airmasses of Europe)

यूरोप वायुराशियों के विकास एवं अध्ययन का आदर्श प्रदेश है। यहाँ विशेष प्रकार की वायुराशियों का अभिसरण (Convergence) होता है। यह प्रदेश विविध गुणों वाले वाताग्रों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर विकसित या इस प्रदेश को प्रभावित करने वाली मुख्य वायुराशियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) **ध्रुवीय महासागरीय वायुराशि**—यह वायुराशि मुख्यतः बर्फीली शीत ऋतु में ग्रीनलैण्ड से उत्तरी नार्वे के मध्य के सागरीय भाग में विकसित होती है। कठोर सर्दी के कारण यह सर्दियों में स्थिर रहती है। इस समय एशिया महाद्वीप पर भी महाद्वीपीय वायुराशि के विकसित होने की उत्तम दशाएँ मिलती हैं। ग्रीष्म के आगमन के साथ ही यह वायुराशि अस्थिर होकर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी भाग की ओर आगे बढ़ती है, तब पर्वतीय भागों में उष्ण वायुराशि से टकराकर वर्षा करती है। ज्यों-ज्यों ग्रीष्म ऋतु में यह यूरोप की ओर बढ़ती है, इसमें संशोधन होता जाता है एवं अस्थिरता भी, परिवर्तन के कारण बनी रहती है।

(ii) **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशि**—यह वायुराशि उत्तरी एशिया की ध्रुवीय वायुराशि का ही विस्तार है। इसकी सीमा उत्तरी यूरोप व रूस के कठोर शीत वाले प्रदेश हैं। अधिक भारी, शुष्क एवं स्थिर होने से यह धीमी गति से मध्यवर्ती यूरोप की ओर बढ़ती है। यहाँ यह उष्ण महासागरीय गतिशील (अस्थिर) वायुराशि के सम्पर्क में आकर शीघ्र संशोधित होने लगती है।

उपरोक्त वायुराशियों का प्रभाव शीतकाल की कठोरता के कारण विशेष रहता है, इसी कारण उष्ण वायुराशियों से जब यह टकराती है तो विषमताएँ होने से चक्रवातों का तेजी से विकास होता है, सुविकसित वाताग्र बनते हैं एवं वर्षा भी अधिक हो जाती है। ग्रीष्म काल में यह अपने उत्पत्ति क्षेत्र से बाहर की ओर निरन्तर गतिशील होकर अस्थिर रहती है एवं संशोधित होकर प्रभावी बन जाती है। ग्रीष्मकाल उपर्युक्त वायुराशियों के विकास के लिए आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र नहीं बन पाते।

(iii) **उपोष्ण महासागरीय वायुराशि**—इन वायुराशियों का विकास अन्ध महासागर के उच्च भार वाले क्षेत्रों में होता है। यह पछुआ हवाओं के सहारे यूरोप महाद्वीप की ओर बढ़ती है। यह वायुराशि गल्फस्ट्रीम व उत्तरी अन्ध महासागरीय ड्रिफ्ट के प्रभाव से विशेष उष्ण, अधिक आर्द्र, ऊँचाई तक प्रभावी एवं विशेष गतिशील रहती है। फिर पछुआ हवाओं की गति भी यहाँ अपेक्षतया अधिक ही रहती है। शीतकाल में जब ध्रुवीय ठण्डी वायुराशियाँ बर्फीली पवनों से प्रभावित रहती हैं, तब इन दोनों वायुराशियों के मौलिक लक्षणों में बहुत अधिक अन्तर होने से इनकी मिलन रेखा पर शीघ्र व स्पष्ट वाताग्रों का निर्माण होता है। ग्रीष्मकाल में उपोष्ण वायुराशि तो सुविकसित रहती है, किन्तु ध्रुवीय वायुराशि काफी संशोधित होकर कमजोर पड़ती जाती है। इस कारण ग्रीष्मकाल में मौसम इतना उग्र या विशेष प्रभावशील नहीं रहता। इससे परिवर्तन का प्रभाव स्थानीय महत्त्व का एवं धीमा बना रहता है।

(iv) **भूमध्यसागरीय संशोधित वायुराशि**—भूमध्यसागरीय प्रदेश के उपोष्ण व आर्द्र स्वभाव वाले उत्पत्ति क्षेत्र में शीतकाल में संशोधित उष्ण वायुराशि प्रवाहित होती है। इस पर निकट के शीतल अरब प्रदेश का प्रभाव भी पड़ता है। सनातनी पवनों के दक्षिण की ओर खिसक जाने के कारण यहाँ पछुआ हवाओं का प्रभाव यहाँ रहता है। इसके अतिरिक्त मध्य एशियाई उच्च भार की दशाओं के कारण भूमध्यसागरीय प्रदेश की वायु राशि पछुआ हवाओं के प्रभाव से विकसित होने लगती है। यह पूरब की ओर प्रसारित होते समय वाताग्रों का भी निर्माण करती है। पूर्वी भाग में ध्रुवीय एवं मध्य एशियाई ठण्डी वायुराशियों की सीमा से मिलकर वाताग्र प्रभावशाली हो जाते हैं। इसी से संशोधित शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात विकसित होकर शीतकाल में टर्की से उत्तर-पश्चिमी भारत तक दूर-दूर तक वर्षा एवं हिमपात करते हैं। यह वायुराशि गतिशील, किन्तु ऊँचाई में छिछली होने से शीघ्र

संशोधित होने लगती है। अत: भूमध्यसागरीय क्षेत्र का प्रभाव भी उसी के अनुरूप सीमित रहता है। ग्रीष्म काल में यहाँ सहारा की उष्ण व शुष्क व्यापारिक पवनें चलने से यह वायुराशि प्रभावहीन हो जाती है।

4. एशिया महाद्वीप की वायुराशियाँ (Airmasses of Asia Continent)

एशिया महाद्वीप में वायुदाब की विशिष्ट एवं संशोधित व्यवस्था मौसम के अनुसार सुविकसित होती है। अत: इन वायुराशियों पर मानसूनी प्रभाव बना रहता है। यहाँ की मुख्य वायुराशियों की गतिशीलता एवं प्रभाव क्षेत्र पर नवीन खोज के अनुसार जेट स्ट्रीम के सीमान्तों एवं उनसे प्रभावी स्वरूप का विशेष असर बना रहता है। यहाँ की मुख्य वायुराशियाँ निम्न हैं—

(i) **ध्रुवीय महाद्वीपीय ठण्डी वायुराशि**—विश्व में एशिया महाद्वीप का आन्तरिक भाग शीतकाल में ठण्डी वायुराशियों का आदर्श प्रदेश है। यहाँ की कठोर सर्दियाँ, बर्फीला धरातल, उच्च वायुदाब, सामुद्रिक प्रभाव का अभाव आदि कारण मिलकर आदर्श प्रतिचक्रवातीय दशाएँ उत्पन्न करते हैं। अत: यहाँ पर विशाल पैमाने पर वृहद् ध्रुवीय महाद्वीपीय बर्फीली वायु राशि का विकास होता है। इसी के प्रभाव से हिमालय से उत्तर में केस्पियन सागर से चीन तक कई दिन तक कठोर बर्फीले तूफान चलते हैं। यहाँ की जलवायु में शुष्कता, अपवादस्वरूप बर्फ गिरना एवं स्वच्छ वायुमण्डल की विशेषताएँ पाई जाती हैं। कई बार दक्षिणी व पूर्वी भागों में तापमान अचानक कई-कई दिन तक हिमांक बिन्दु से भी नीचे पहुँच जाते हैं। इसे ध्रुवीय महाद्वीपीय ठण्डी वायुराशि कहते हैं। प्रारम्भ में यह स्थिर रहकर सुविकसित होती जाती है। बाद में समभार रेखाएँ पूर्वी तट के निकट पास-पास होने से यह अस्थिर होकर प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ती है। जापान, पीला सागर व पूर्वी चीन सागर के प्रभाव से इसमें पर्याप्त नमी भी आ जाती है, अत: यह संशोधित एवं अस्थिर व निचली परतों में गर्म बनकर संशोधित ध्रुवीय महाद्वीपीय हल्की गर्म (कोष्ण) अस्थिर वायुराशि (cPwu) वायुराशि बन जाती है। इसी कारण इसके प्रभाव से पश्चिमी जापान, तटीय द्वीपों एवं कमचटका व कोरियां प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग पर स्थानीय रूप से वर्षा या हिमपात हो जाता है। कभी-कभी इसका प्रभाव पूर्वी चीन के मध्यवर्ती भाग तक भी दिखाई देता है।

(ii) **उष्णकटिबन्धीय महासागरीय वायुराशियाँ**—इन्हें दो उपभागों में विभाजित किया जा सकता है—

(a) **प्रशान्त महासागरीय उष्ण वायुराशि**—हिन्देशिया एवं चीन सागर के मध्य गर्म क्यूरोसिवो धारा के प्रवाह क्षेत्र में इस वायुराशि का विकास होता है। एशिया महाद्वीप पर ग्रीष्मकाल में निम्न भार की दशाएँ विकसित होने से यह वायुराशि अस्थिर बनी रहकर सागर से महाद्वीप की ओर, तेजी से प्रवाहित रहती है। इसी के प्रभाव से ग्रीष्मकाल के प्रारम्भ में जब कभी महाद्वीप में विक्षोभमण्डल में शीतल प्रभाव बना रहता है तो चीनी तट पर तेजी से अस्थिरता बढ़ने से टाइफून (उत्पाती उष्ण चक्रवात) विकसित होते हैं। इनसे दक्षिणी चीन से जापान तट तक भयंकर तूफानी दशा पाई जाती है। टाइफून चक्रवात भी मेक्सिको की खाड़ी में विकसित हरिकेन की भाँति ही हानि पहुँचाने वाले होते हैं। यह वायुराशि सितम्बर के पश्चात् महाद्वीपीय वायुदाब दशा बदलने से कम प्रभावी होती जाती है। चीन में मानसूनी वर्षा इसी वायुराशि के प्रभाव से होती है।

(b) **हिन्द महासागरीय उष्ण मानसून वायुराशि**—दक्षिणी एशिया में उत्तरी भारत से सऊदी अरब तक ग्रीष्मकाल में तेजी से तापमान बढ़ने लगते हैं एवं यहाँ का वायुदाब गिरने लगता है। इसी समय भारत में वायुदाब विषुवत् रेखा से भी अधिक गिर जाता है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण हिन्द महासागर में उष्ण मानसूनी वायुराशि तेजी से विकसित होने लगती है। इस उष्ण वायुराशि की गतिशीलता एवं उत्तर की ओर प्रवाह पर जेट स्ट्रीम धारा की सीमा का विशेष प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर ज्यों-ज्यों उत्तरी जेट स्ट्रीम तिब्बत की ओर खिसकती जाती है त्यों-त्यों सागर की ओर से मानसूनी वायुराशि तेजी से भारतीय उपमहाद्वीप की ओर बढ़ती है। विषुवत् रेखा एवं विशाल सागरीय तल की ओर से प्रवाहित होकर आने से इस वायुराशि में भारी मात्रा में एवं अधिक ऊँचाई तक नमी पाई जाती है। इसी वायुराशि में बड़े पैमाने पर वायुमण्डलीय अगाध (Atmospheric trough) सुविकसित होते रहते हैं। यही मानसून के बदलने का मुख्य कारण है, जिसके प्रभाव से भारत में दूर-दूर तक मध्यम से भारी वर्षा हो जाती है। इसी अगाध के विकास के पहले एवं जेट स्ट्रीम के पुन: हिन्द महासागर की ओर खिसकते समय दक्षिणी बंगाल की खाड़ी में विशेष झंझावात की दशाएँ बन जाती हैं। इसी से प्रतिवर्ष अप्रैल-मई एवं नवम्बर माह से उत्पाती उष्ण चक्रवात चलते हैं। शीतकाल में विक्षोभ मण्डलीय दशा बदलने एवं उच्च वायुदाब व्यवस्था के पुन: विकास से यह वायुराशि समाप्त होकर निष्प्रभावी हो जाती है। यही वायुराशि इन दिनों संशोधित रूप में अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग की ओर प्रभाव डालती है।

5. अफ्रीका महाद्वीप की वायुराशियाँ (Airmasses of Africa Continent)

अफ्रीका महाद्वीप का अधिकांश भाग उष्ण एवं अर्द्धोष्ण कटिबन्ध में है, अत: यहाँ पर उष्ण वायुराशियों का ही विशेष प्रभाव पाया जाता है। यहाँ की मुख्य वायुराशियाँ निम्न हैं—

(i) **उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय वायुराशि**—इसका विकास सहारा एवं सूडान के अर्द्ध-शुष्क व शुष्क प्रदेशों में होता है। यह वायुराशि विशेष गर्म, अस्थिर, शुष्क, किन्तु छिछली होती है। ग्रीष्मकाल में एवं उसके उत्तरार्द्ध में यह उत्तर की ओर प्रवाहित होकर भूमध्यसागरीय वायुराशि को प्रभावहीन बनाती है। इसी के प्रभाव से दक्षिणी यूरोप में धूल भरी आंधियाँ एवं गर्म हवाओं के प्रभाव से बीच-बीच में तापमान बढ़ते जाते हैं। शुष्क व उष्ण वायुराशि होने से यह प्रभावित क्षेत्रों में वर्षा तो नहीं करती, किन्तु वाष्पीकरण की क्षमता अवश्य बढ़ा देती है। दक्षिणी अफ्रीका में उष्ण मरुस्थल बहुत सीमित क्षेत्र में फैला है। वहाँ अण्टार्कटिका की ओर से भी शीतल वायु एवं शीतल धाराओं का प्रभाव रहता है। अत: विषुवत् रेखा से दक्षिण में ऐसी वायुराशि विकसित नहीं हो पाती।

(ii) **उष्णकटिबन्धीय महासागरीय वायुराशियाँ**—इसके दो उपभेद पाये जाते हैं—

(a) **पूर्वी तटीय उष्ण महासागरीय मानसूनी वायुराशि**—पूर्वी अफ्रीका के तट एवं पूर्वी पठारी भाग की ओर मानसूनी वायुराशि प्रभावी रहती है। इस वायुराशि का विकास हिन्द महासागर में होता है। ग्रीष्मकाल में जब उत्तरी महाद्वीप गर्म होता है एवं व्यापारिक वायुराशियाँ उसके प्रभाव से विषुवत् रेखा पार कर आगे बढ़ती हैं तब यह पूर्वी अफ्रीका के तट पर कीनिया से लेकर मोजम्बिक के तट तक प्रभावशाली रहती है। इस ग्रीष्मकालीन मानसूनी वायुराशि के प्रभाव से सम्पूर्ण पूर्वी अफ्रीकी तट पर पर्याप्त वर्षा हो जाती है। वैसे सितम्बर से मार्च माह के मध्य यह वायुराशि दक्षिण भाग की ओर संशोधित रूप में मोजम्बिक के तट तक प्रभावशाली रहती है।

(b) **गिनी की खाड़ी उष्ण महासागरीय वायुराशि**—इस वायुराशि का उत्पत्ति क्षेत्र पश्चिमी अफ्रीका के गिनी की खाड़ी से दक्षिणवर्ती अन्ध महासागर का विशाल प्रदेश है। अत: यह विषुवत्रेखीय वायुराशि मानी जा सकती है। इसके प्रभाव से तटीय भागों पर वायु संवहन अधिक होता है। यह वायुराशि सूर्य की स्थिति बदलने के कारण बीच-बीच में अस्थिर बनी रहती है। इसका सबसे अधिक प्रभाव गेबोन से लेकर सम्पूर्ण खाड़ी तट पर बना रहता है। फिर भी इस पर संवहन का विशेष प्रभाव होने से यह स्थिर वायुराशि की भाँति ही प्रभावी रहती है।

(iii) **ध्रुवीय महासागरीय शीतल वायुराशि**—दक्षिणी अफ्रीका के दक्षिण में पछुआ हवाएँ अण्टार्कटिका के वृहद बर्फीले प्रदेश से संशोधित होकर कुछ शीतल रहती हैं। इसी प्रदेश की महासागरीय वायुराशि का प्रभाव दक्षिणी अफ्रीका के तटीय भागों पर सर्दियों में बना रहता है। यह वायुराशि शीतकाल में विशेष प्रभावी रहती है। इसमें पर्याप्त नमी होने से दक्षिणी अफ्रीका के तट व ऊँचे पठारी भागों पर अच्छी वर्षा हो जाती है।

6. आस्ट्रेलिया की वायुराशियाँ (Airmasses of Australia)

आस्ट्रेलिया पर निम्न दो वायुराशियों का प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा है—

(i) **उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय वायुराशि**—आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग उष्ण मरुस्थलीय है। इस प्रभाव से यह ग्रीष्मकाल में बहुत अधिक उष्ण व शुष्क बना रहता है। यही इस महाद्वीपीय वायुराशि का उद्गम क्षेत्र भी है। यह वायुराशि तापमान बढ़ाने में सहायक होती है। इसके कारण निम्न वायुदाब की दशा विकसित होने से नवम्बर से फरवरी माह के मध्य उत्तरी व पूर्वी आस्ट्रेलिया में पर्याप्त वर्षा हो जाती है। यहाँ भी उत्तरी तट पर संशोधित मानसूनी महासागरीय आर्द्र वायुराशि का प्रभाव बना रहता है। महाद्वीपीय वायुराशि ग्रीष्मकाल में सितम्बर से मार्च माह तक ही विशेष प्रभावी रहती है। शीतकाल में यहाँ पर स्थिर दशाएँ विकसित होने लगती हैं।

(ii) **ध्रुवीय महासागरीय वायुराशि**—आस्ट्रेलिया के दक्षिणी भाग में शीत ऋतु (जुलाई) में अण्टार्कटिका से उत्तर की ओर प्रवाहित पछुआ हवाएँ चलने लगती हैं। इस समय वायु पेटियों के उत्तर से खिसकने से यहाँ ध्रुवीय महासागरीय (आर्द्र) वायुराशि चलती है। इसमें पर्याप्त नमी भी रहती है। इसके चलने से पछुआ हवाओं का क्षेत्रीय प्रभाव अधिक विकसित हो जाता है। अत: इससे सारे दक्षिणी एवं पूर्वी आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड के तटीय व ऊँचे भागों पर अच्छी वर्षा हो जाती है।

प्र.6. वायुराशियों के वाताग्र की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है? इसके वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।

उत्तर

वायुराशियों के वाताग्र या सीमान्त
(Fronts of Air Masses)

वाताग्र या सीमान्त वह लहरदार एवं विशेष ढाल वाला तल होता है, जहाँ कि आमने-सामने से दो भिन्न-भिन्न भौतिक लक्षणों वाली वायुराशियाँ आकर मिलती हैं। **ब्लेयर** के शब्दों में, "जिस सतह या रेखा के सहारे वायुराशियाँ पृथक् रहती हैं उसे वाताग्र कहते हैं।" जबकि ट्रिवार्था का कहना है कि "वाताग्र कोई रेखा नहीं होती अपितु पर्याप्त चौड़ाई वाले (5 से 75 किमी) ऐसे क्षेत्र होते हैं जहाँ से भिन्न स्वभाव वाली वायुराशियाँ आमने-सामने से आकर अभिसरण (Converge) करती है।" इस प्रकार वाताग्र से आशय उस ढालू सीमा या सीमान्त से है जिसके सहारे दो विपरीत स्वभाव वाली हवायें मिलती हैं। वाताग्र न तो धरातल के ऊपर लम्बवत् होता है और न ही धरातल के समानान्तर क्षैतिज होता है। बल्कि वह कुछ कोण पर झुका हुआ होता है। जलवायु विज्ञान में वाताग्र का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि ये मौसम की विशिष्ट दशाओं को जन्म देते हैं, जिन्हें चक्रवात, प्रतिचक्रवात कहते हैं। इसीलिए वाताग्र को चक्रवातों व प्रतिचक्रवातों का पालना कहते हैं। वाताग्र की उत्पत्ति के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है—

1. **विपरीत तापमान**—वाताग्र की उत्पत्ति के लिए तापमान और आर्द्रता की दृष्टि से वायुराशियों में भिन्नता होनी चाहिये। अर्थात् यदि एक वायुराशि ठण्डी और शुष्क हो तो दूसरी गर्म एवं आर्द्र हो। गर्म व ठण्डी वायुराशियाँ मिलती है तो ठण्डी एवं भारी हवा गर्म तथा हल्की हवा को ऊपर उठा देती है तथा वाताग्र बन जाता है।
2. **वायुराशियों की विपरीत दिशा**—वाताग्र उत्पत्ति के लिए दो वायुराशियों के विपरीत तापमान के साथ ही विपरीत दिशाओं से आकर आमने-सामने मिलना भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही एक लहरनुमा वाताग्र का निर्माण होता है।

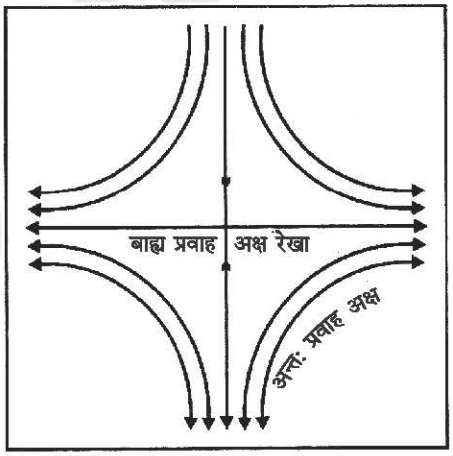

चित्र : विरूपणी पवन प्रवाह

पेटरसन ने चार प्रकार के 'पवन प्रवाह क्रम' का उल्लेख किया है—

(i) **स्थानान्तरणी प्रवाह**—इसमें हवाएँ क्षैतिज रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर एक ही दिशा में प्रवाहित होती है। तापमान व दिशा की समरुपता के कारण ऐसी स्थिति में वाताग्र नहीं बन सकता है।

(ii) **घूर्णन प्रवाह**—इसमें हवाएँ चक्रवातीय या प्रतिचक्रवातीय रूप में चलती है एवं तापमान के विपरीत दशा बन जाती है, किन्तु वाताग्र नहीं बन पाता है।

(iii) **अभिसरण तथा अपसरण**—अभिसरण में हवाएँ चारों ओर से आकर एक बिन्दु पर मिलती है, जबकि अपसरण में हवाएँ एक केन्द्र से चारों ओर प्रवाहित होती है। ये दोनों ही स्थितियाँ वाताग्र बनने के लिए उपयुक्त नहीं होती है। इस हेतु एक रेखा के सहारे विपरीत तापमान होना आवश्यक है।

(iv) **विरूपणी पवन प्रवाह**—इसमें दो विपरीत तापमान वाली हवाएँ एक-दूसरे से मिलने पर एक रेखा के सहारे क्षैतिज दशा में फैलती है, जिसे 'बाह्य प्रवाह अक्ष रेखा' कहते हैं। दूसरे अक्ष को **अन्तः प्रवाह** अक्ष कहते हैं। यह स्थिति वाताग्र निर्माण के लिए सर्वाधिक अनुकूल होती है।

वाताग्र का निर्माण—वाताग्र का निर्माण वहीं होता है, जहाँ चक्रवातीय वायु विस्थापन पाया जाता है। **ट्रिवार्था** के अनुसार, जब कभी आमने-सामने दो विविध भौतिक लक्षणों वाली वायुराशियों का अभिसरण (Convergence) होता है तो ऐसे क्षेत्र को वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र कहते हैं। विरूपणी प्रवाह में जब दो विपरीत तापक्रम वाली हवाएँ मिलती हैं, तो बाह्य प्रवाह अक्ष के सहारे क्षैतिज दिशा में फैलती है। ऐसी स्थिति में समताप रेखा तथा बाह्य प्रवाह अक्ष के बीच के कोण पर वाताग्र का बनना सम्भव होता है। वास्तव में यह तट रेखा की भाँति नहीं होकर 5-80 किमी की चौड़ी विविध आकार की पट्टी होती है। इस सम्पूर्ण तन्त्र की व्यवस्थित व्याख्या सर्वप्रथम **जर्कनीज** बन्धुओं ने की और ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त प्रतिपादित किया। बाद में इससे अधिक मान्य तरंग सिद्धान्त को **वीयरकेनस** नामक मौसमवेत्ता ने प्रस्तुत किया। उसने बताया कि वास्तव में शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति ऐसे

वाताग्रों से होती है जो कि लहरदार या तरंग जैसे होते हैं। यह कभी रेखावत् नहीं रह पाते। वाताग्र भूतल से 500 मीटर से 3,000 मीटर के मध्य ही विकसित पाये जाते हैं। अपवादस्वरूप ही यह इससे ऊँचे विकसित हो पाते हैं।

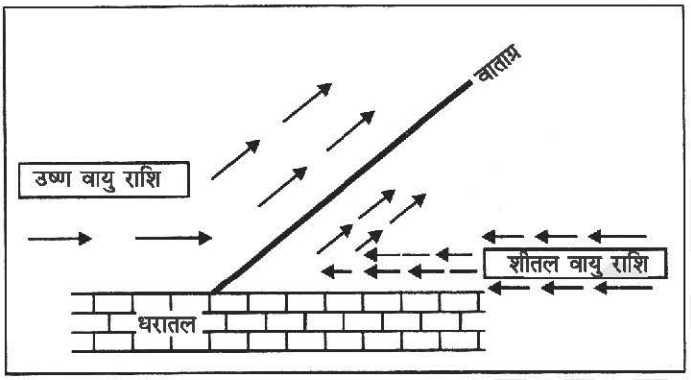

चित्र : वाताग्र की उत्पत्ति

वाताग्रों का वर्गीकरण (Classification of Fronts)

ताप और आर्द्रता की भिन्नता के आधार पर वाताग्रों के चार मुख्य प्रकार होते हैं—

1. **उष्ण वाताग्र** (Warm Front)—इस वाताग्र में उष्ण और हल्की वायुराशि अधिक आक्रामक होती है। यह शीघ्र धरातल को छोड़कर शीतल वायुराशि पर तीव्रता से चढ़ती जाती है। उष्ण वाताग्र का झुकाव न्यूनकोण पर होता है। इसमें शीतल हवा पीछे की ओर दबती जाती है।

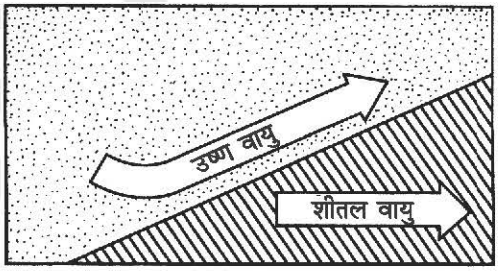

चित्र : उष्ण वाताग्र

2. **शीत वाताग्र** (Cold Front)—प्राय: चक्रवात के पृष्ठ भाग में ठण्डी और भारी वायुराशि आक्रामक रहती है। यहाँ यह गर्म एवं हल्की वायुराशि को ऊपर धकेल देती है। ऐसे में ठण्डी वायुराशि उन्नतोदर आकृति बनाकर गर्म राशि को ऊपर उठने को मजबूर कर देती है। इस प्रकार इस भाग में शीतल वायुराशि उष्ण वायुराशि को प्रतिस्थापित कर देती है, इससे वायुमण्डल में विक्षोभ (Disturbance) उत्पन्न होता है। गर्म वायु तेजी से 1 से 2 किमी तक ऊपर उठने एवं ठण्डी वायुराशि के प्रभाव से चक्रवात के पृष्ठ भाग में प्राय: हिमपात या ओलावृष्टि हो जाती है।

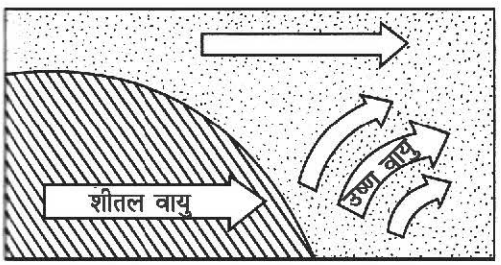

चित्र : शीत वाताग्र

3. **अवशिष्ट या संशोधित वाताग्र** (Occluded Front)—जब उष्ण वाताग्र निरन्तर हल्की व आर्द्र पवनों के प्रभाव से ऊपर उठता जाता है, तभी पीछे से निरन्तर आगे बढ़ती हुई ठण्डी वायुराशि तीव्र गति से गर्म वायुराशि को भूमि से पूरी तरह ऊपर उठा देती है। इससे भूमि पर तो ठण्डी वायुराशि फैल जाती है, किन्तु मध्य के भागों में भूमि से 50-100 मीटर की ऊँचाई पर गर्म पवनें प्रभावशील रहती हैं। इसे ही संशोधित वाताग्र कहते हैं। यह शीतोष्ण चक्रवातों की अन्तिम स्थिति होती है।
4. **स्थिर वाताग्र** (Stationary Front)—जब आमने-सामने बहने वाली वायुराशियाँ एक-दूसरे से प्राय: समानान्तर बहती हैं तब उनके बीच का वाताग्र स्थिर स्थिति में आ जाता है। ऐसा यद्यपि कुछ समय के लिए ही होता है। इसी दशा को स्थिर वाताग्र कहते हैं। शीघ्र ही यहाँ लहरदार वाताग्र बनने लगता है, क्योंकि गर्म व नम पछुआ पवनें ध्रुवीय भारी पवनों पर आक्रामक बनकर उन्हें पीछे धकेलकर उनमें प्रवेश करती हैं। इसी से वहाँ पुन: उष्ण वाताग्र बनने लगता है।

वाताग्र प्रदेश (Frontal Zone)

भूतल पर शीत व शीतोष्ण कटिबन्धों में निम्न प्रमुख वाताग्र प्रदेश विकसित होते हैं—

1. **ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश** (Polar Frontal Zone)—उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्ध के मध्य अक्षांशों (30°-40°) में विशेषकर शीतकाल में ध्रुवीय एवं उपोष्ण वायुराशियों का अभिसरण अधिक प्रभावी व गतिशील बना रहता है। इससे यहाँ पर लहरदार ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश का विकास होता है। यह विकास दो प्रदेशों में होता है—
   (i) अन्ध महासागरीय वाताग्र का विकास उत्तरी अन्ध महासागर में होता है।
   (ii) प्रशान्त महासागरीय वाताग्र का विकास उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी प्रशान्त में उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट से झील प्रदेश तक होता है। ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश जाड़े में अधिक सक्रिय होते हैं, किन्तु ग्रीष्मकाल में शिथिल पड़ जाते हैं, क्योंकि तब पछुआ एवं ध्रुवीय पवन के भौतिक गुणों में अन्तर सापेक्षत: कम होता जाता है।
2. **आर्कटिक वाताग्र प्रदेश** (Arctic Frontal Zone)—इस वाताग्र की उत्पत्ति अपेक्षाकृत संकरे क्षेत्र में उत्तरी ध्रुव प्रदेशों में होती है। यहाँ पर आर्कटिक महाद्वीपीय एवं आर्कटिक महासागरीय गतिशील वायुराशियों के मिलने से थोड़े समय के लिए सीमित आर्कटिक तटीय क्षेत्रों के निकट ऐसा वाताग्र विकसित होकर गतिशील रहता है। तापमानों में विशेष अन्तर नहीं होने के कारण ये वाताग्र अधिक सक्रिय नहीं होते हैं।
3. **भूमध्यसागरीय वाताग्र प्रदेश** (Mediterranean Frotnal Zone)—पछुआ वायुराशि की पेटी के शीतकाल में विषुवत रेखा की ओर खिसकने से भूमध्य सागर क्षेत्र में विशेष वाताग्र प्रदेश का विकास होता है। इसमें यूरोप व मध्य एशियायी कठोर, ठण्डी व शुष्क वायुराशि तथा भूमध्यसागरीय पट्टी की उत्तरी सीमा एवं फारस की खाड़ी के निकट की आर्द्र व उष्ण वायुराशि आपस में प्राय: आमने-सामने मिलती है। इन दोनों वायुराशियों के भौतिक लक्षणों में उच्चस्तरीय भिन्नता होने से इसका प्रभाव जाड़े में दक्षिणी-पूर्वी यूरोप एवं समस्त मध्य-पूर्व से उत्तरी भारत व पाकिस्तान तक के मौसम पर स्पष्ट दिखायी देता है।

प्र.7. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात को स्पष्ट करते हुए इसकी उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
(Temperate Cyclones)

शीतोष्ण या मध्य अक्षांशीय चक्रवात का प्रभाव क्षेत्र सामान्यत: 40° से 65° उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों के मध्य रहता है। शीतऋतु में वायुदाब पेटियों के विषुवत् रेखा की ओर खिसकने पर इनका प्रभाव क्षेत्र 30° उत्तरी व दक्षिणी अक्षांश तक बढ़ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में विशेषकर पश्चिमी यूरोप के उत्तरी भागों में चक्रवात 70° उत्तरी अक्षांश तक प्रभावी रहते हैं। इनका दिशा मार्ग प्राय: पछुआ हवाओं की पेटी के सहारे पश्चिम से पूरब की ओर रहता है।

आकृति एवं विस्तार (Shape and Extent)

शीतोष्ण चक्रवातों की आकृति दीर्घवृत्ताकार अथवा अण्डाकार होती है। यदि कोई वृत्ताकार उष्णकटिबन्धीय चक्रवात अपने सीमान्त प्रदेश से मध्य अक्षांशीय प्रदेश में प्रवेश कर भी जाता है तो वह भी वृत्ताकार से अण्डाकार आकृति धारण कर लेगा। सामान्यत: चक्रवात अपने पूरब-पश्चिम अक्ष मार्ग पर विशेष लम्बे एवं उत्तर-दक्षिण अक्ष पर संकरे होते हैं। इनकी लम्बाई पूरब-पश्चिम दिशा में 600 से 1,600 किमी तक हो सकती है। कुछ बड़े शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात सम्पूर्ण विश्व का चक्कर पूरा करने तक भी प्रभावी बने रह सकते हैं। अर्थात् कभी-कभी इनका क्षेत्रफल दस लाख वर्ग किमी तक भी होता है।

दिशा मार्ग (Direction Route)

शीतोष्ण चक्रवात निरन्तर गतिशील रहते हैं। यह पछुआ हवाओं के सहारे पश्चिम से पूरब की ओर चलते हैं। इनकी गति 30 से 45 किमी प्रति घण्टा रहती है, किन्तु इनके भीतर बहने वाली पवनों की गति इससे भी कम होती है। अत: यह चक्रवात उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की भाँति न तो घातक होते हैं न ही भारी विनाश पहुँचाते हैं।

वायुदाब व्यवस्था एवं पवनें (Atmosphere Pressure System and Winds)

शीतोष्ण चक्रवात के मध्यवर्ती भाग से कुछ पीछे के हिस्से में उसका वास्तविक केन्द्र या निम्न वायुदाब का क्षेत्र होता है। एक मध्यम आकार के शीतोष्ण चक्रवात को दो समभार रेखाएँ एवं बड़े चक्रवातों को चार-छ: समभार रेखाएँ चार मिलीबार के अन्तर

पर घेरे रह सकती है अर्थात् मध्य अक्षांशीय या शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में समभार रेखाएँ उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की अपेक्षा दूर-दूर होती हैं। सुविकसित शीतोष्ण चक्रवात उत्तरी-पूर्वी संयुक्त राज्य एवं उत्तरी सागर में पश्चिमी यूरोप के तटीय प्रदेश के आस-पास फैले होते हैं। शीतोष्ण चक्रवात में निम्न वायुदाब 980 से 1,002 मिलीबार के मध्य कुछ भी हो सकता है। इसमें उत्तरी गोलार्द्ध में पवनों की दिशा वामावर्त (Anti-clockwise) रहती है। इन पवनों का वेग 15 से 40 किमी के मध्य समभार रेखाओं के ढाल या प्रवणता के अनुसार रहता है। सामान्यत: पवनें समभार रेखाओं को 20° से 35° के कोण पर काटती हैं। कई बार गतिशील वाताग्र के दिशा मार्ग के अनुसार भी इनकी दिशा एवं गति पर प्रभाव पड़ सकता है। चक्रवात के दक्षिणी-पूर्वी खण्ड में पवनें पश्चिमी दिशा में, उत्तरी खण्ड में पूर्वी दिशा में, उत्तरी-पश्चिमी खण्ड में उत्तरी-पूर्वी दिशा में एवं दक्षिणी-पश्चिमी खण्ड में उत्तर-पश्चिम दिशा में चलती हैं।

चक्रवात का आगमन: मेघ एवं वर्षा (Arrival of Cyclone : Clouds and Rain)

शीतोष्ण चक्रवात के आगमन के साथ-साथ तापमान धीमी गति से बढ़ने लगते हैं तथा मन्द समीर चलती है। आकाश में हल्के पक्षाभ एवं स्तरी पक्षाभ बादल अधिक ऊँचाई पर हल्की आभा के रूप में फैले होते हैं। इससे सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर आभामण्डल या कुण्डली-सी बन सकती है। वायुदाब घटने एवं नमी व ताप बढ़ने से वायु की सहनशीलता मानव के लिए घटने लगती है। कुछ घण्टों बाद आकाश में काले कपासी व वर्षी मेघ भी छाने लगते हैं। यही चक्रवात का उष्ण खण्ड कहलाता है। आकाश में घने बादलों से सूर्य छिप जाता है एवं धीरे-धीरे वर्षा होने लगती है।

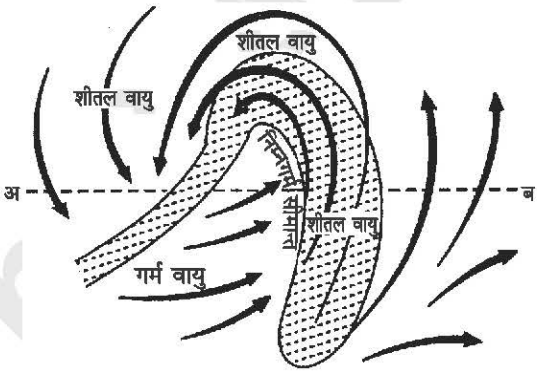

चित्र : विकसित शीतोष्ण चक्रवात में सीमान्त (वाताग्र) एवं वायुप्रवाह

वायु में अस्थिरता की दशा एवं वायुदाब प्रवणता अधिक रहने पर वर्षा अधिक तेज या भारी हो सकती है। इस भाग में उष्ण वाताग्र का एवं उष्ण पवनों का पूर्ण प्रभाव बना रहता है। उष्ण खण्ड के पश्चात् शीत वाताग्र का क्षेत्र आता है एवं इसके पश्चात् शीत खण्ड (Cold sector) या चक्रवात का पृष्ठ भाग आ जाता है। पृष्ठ भाग अथवा दक्षिणी-पश्चिमी चतुर्थांश भाग में ठण्डी वायु राशि का प्रभाव सबसे अधिक रहता है। अत: यहाँ शीत वाताग्र (Cold front) बनता है। इसका ढाल उन्नतोदर होता है। यहाँ गर्म हवाएँ तेजी से ऊपर उठनी हैं। इसी से यहाँ ग्रहों कपासी व कपासी वर्षी मेघ बनते हैं। तेजी से ठण्डी हवा के सम्पर्क में आने के कारण यहाँ हिमपात एवं ओलावृष्टि भी सम्भव है। तापमान में तेजी से गिरावट आने से पहले का हल्का गर्म मौसम कुछ ही घण्टों में ठण्ड में बदल सकता है। ऐसे परिवर्तन के कारण कई बार तूफानी दशाएँ बन सकती हैं, तेज स्थानीय हवाएँ चल सकती हैं। अत: चक्रवात में मौसम निरन्तर बदलता रहता है।

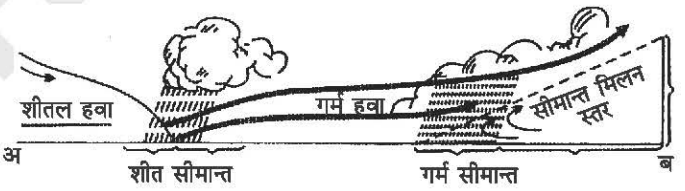

चित्र : चक्रवात का पार्श्व चित्र

यहाँ मौसम परिवर्तन से सम्बन्धित एक तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि जो स्थान चक्रवात की केन्द्रीय पूरब-पश्चिम अक्ष रेखा से उत्तर में स्थित है वहाँ ऊपर वर्णित अभूतपूर्व परिवर्तन नहीं आते, क्योंकि वहाँ पर गर्म सीमान्त पहले से ही भूमि से ऊपर उठा रहता है एवं पृष्ठ भाग में भूमि के निकट गर्म व ठण्डी हवाओं के मध्य इतना अधिक वायुदाब एवं ताप परिवर्तन नहीं होता। यहाँ वर्षा भी धीमी होती है। अत: जब दक्षिणवर्ती भागों से चक्रवात गुजर जाता है। तो शान्त, खुला, शीतल मौसम खिली धूप या उच्च वायुदाब से प्रभावित मौसम विशेष सुहावना पाया जाता है जबकि इस रेखा से उत्तरवर्ती भागों में मौसम धीमी व सम गति से बदलता है।

शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति (Origin of Temperate Cyclones)

चक्रवातों की उत्पत्ति के बारे में 20वीं सदी में बहुचर्चित ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त के विकास से पूर्व दो सिद्धान्त मुख्यत: प्रचलित थे—

1. **तापीय सिद्धान्त** (Thermal Theory)—इस विचारधारा के अनुसार, स्थानीय रूप से जिन भागों में गर्मी अधिक होती है या तापमान ऊँचे बने रहते हैं, वहाँ की वायु तेजी से गर्म होने लगती है। गर्म हवा हल्की होकर ऊपर उठती है एवं वहाँ निम्न वायुदाब की दशा विकसित होती जाती है। ऐसे में निकटवर्ती भागों में उत्तरी गोलार्द्ध में वामावर्त (Anti-clockwise) दिशा में पवनें भीतरी भागों की ओर चलती है। यही कारण मध्य अक्षांशीय या शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति का भी माना गया है। तापीय सिद्धान्त को संवहनी सिद्धान्त भी कहा गया है किन्तु वास्तव में यह पाया गया कि शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति ग्रीष्मकाल में कम एवं शीतकाल में अधिक होती है तथा महाद्वीपों की अपेक्षा महासागरों में अधिक होती है। अत: इसे उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता है।
2. **भंवर सिद्धान्त** (Eddy Theory)—कुछ विद्वानों ने सन् 1881 में बताया कि जिस प्रकार नदी में स्थानीय रूप से भंवर पड़ते हैं एवं कहीं-कहीं स्थानीय रूप से बवण्डर विकसित हो जाता है, उसी प्रकार वायुमण्डल की निचली परतों में विशेष कारण से स्थानीय भंवर पड़ने लगते हैं। इसी के प्रभाव से वहाँ पवनें हल्की हो जाती हैं एवं (शीतोष्ण प्रदेशों में) निम्न वायुदाब की दशा विकसित होती है। इसी कारण वहाँ का मौसम शीतोष्ण कटिबन्ध में भी परिवर्तनशील बना रहता है एवं वहाँ चक्रवात आते रहते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त भी वर्तमान में मान्य नहीं है।

ध्रुवीय वाताग्र तथा लहर सिद्धान्त (Polar Front and Wave Theory)

यद्यपि सन् 1863 में ही नार्वे के जलवायुवेत्ता **फिजरॉय** (Fitzroy) ने शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न विशेषताओं वाली वायुराशियों के प्रभाव को माना, किन्तु तब इस विचारधारा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इसके बाद जब 20वीं सदी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मौसम केन्द्र एवं उससे सम्बन्धित अनेक मौसम केन्द्रों की शृंखला पश्चिमी यूरोप के तटीय क्षेत्रों व द्वीपों पर स्थापित की गई तब ही यह सिद्धान्त अध्ययन का आधार बनने लगा। इस पर नार्वे के ही **बर्जरन** एवं **बर्कनीज** बन्धुओं ने जो ओसलो मौसम प्रेक्षण केन्द्र के मौसमवेत्ता भी थे, निरन्तर शोध एवं जांच के आधार पर प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक बाद अपना ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त प्रस्तुत किया। 1950 के दशक में **बियरकेनस** नामक मौसमवेत्ता ने लहर सिद्धान्त (Wave theory) प्रस्तुत की। इसमें ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त को पूरी मान्यता तो दी गई है, किन्तु वाताग्रों को लहरदार बताया गया है। इस पर जेट धारा के प्रभाव को भी समझाया गया है। जहाँ विभिन्न वायुराशियाँ मिलती है, उनके सीमान्तों पर चक्रवातों का जन्म लहर के रूप में होता है। इसका कारण इन प्रदेशों में ताप, आर्द्रता, वायु घनत्व आदि की प्रवणता (Gradient) सबसे तीव्र होना है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि दो वायुराशियाँ वास्तव में समान गुणों वाली होती हैं, किन्तु उनके वाताग्र प्रदेश असमान गुणों वाले होते हैं।

प्र.8. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों के विकास का आदर्श क्षेत्र किसे माना जाता है? इन चक्रवातों को कितने भागों में विभाजित किया गया है तथा इन चक्रवातों का मौसम पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर व्यापारिक हवाओं की पेटी एवं विषुवत्रेखीय शान्त खण्ड का मिलन क्षेत्र उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों के विकास का आदर्श प्रदेश माना जाता है। यहाँ के शान्त समुद्री क्षेत्रों में स्थानीय संवहन के समय धोंकनी की भाँति निरन्तर जलवाष्प ऊपर उठती है, अत: संवहन की आदर्श दशा होने पर इसमें तूफानी लक्षण आने लगते हैं। ऐसे ही स्थलों पर स्थानीय रूप से निरन्तर नमी का संतृप्त क्षेत्र बनने एवं वहाँ के ऊँचे तापमान के सम्मिलित प्रभाव से तेजी से वायुदाब भी गिरता जाता है। इससे समदाब रेखाओं का ऐसा वृत्ताकार घेरा बनता जाता है, जिसकी प्रवणता तीव्र बनी रहती है। ऐसे उष्ण चक्रवात प्राय: एक मौसम से दूसरे मौसम के परिवर्तन काल अथवा वायु भार की पेटियों के उत्तर या दक्षिण में खिसकने के समय अधिक विकसित होते हैं। कई बार यह उत्पत्ति स्थल (सागर) पर कई दिनों तक स्थिर प्राय: रहकर अधिक शक्तिशाली रूप धारण कर लेते हैं।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों के प्रकार
(Types of Tropical Cyclones)

तीव्रता के आधार पर उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

1. **उष्ण कटिबंधीय विक्षोभ** (Tropical Disturbance)—यह क्षीण चक्रवात होते हैं। इनमें हवायें मंद गति से केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है तथा यह मंद गति से ही आगे बढ़ते हैं। इनमें एक या दो घिरी हुई समदाब रेखायें होती हैं। भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब पेटी में मिलने वाले इन चक्रवातों को भूमध्यरेखीय गर्त (Equatorial trough) भी कहते हैं। इनमें हवायें पूरब से पश्चिम की ओर चलती हैं। इनका विस्तार बहुत व्यापक होता है। इनकी गति 10 से 25 किमी प्रति घंटा होती है।

2. **उष्ण कटिबंधीय अवदाब** (Tropical Depression)—छोटे आकार के उष्ण कटिबंधीय चक्रवात, जो कि एक से अधिक समदाब रेखाओं वाले होते हैं, को अवदाब कहते हैं। इनके अंदर हवायें 30-50 किमी प्रति घण्टे के वेग से चलती हैं। इनकी दिशा तथा गति अनियमित होती है जो चक्रवात भारत में बंगाल की खाड़ी के उत्तरी भाग में उत्पन्न होते हैं, उन्हें चक्रवात या साइक्लोन भी कहते हैं। आस्ट्रेलिया में उष्ण कटिबंधीय तूफान विली-विली के नाम से जाने जाते हैं। इन चक्रवातों से प्रभावित क्षेत्रों में भारी वर्षा होती है। जापान तथा चीन के दक्षिणी भागों को भी ये प्रभावित करते हैं।
3. **हरिकेन या टाइफून** (Hurricane or Typhoon)—ये विस्तृत उष्ण कटिबंधीय चक्रवात होते हैं, जिनमें कई समदाब रेखायें होती हैं। इन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका में हरिकेन तथा चीन में टाइफून कहते हैं। तीव्र दाब प्रवणता के कारण इनमें पवन बड़े वेग से केन्द्र की ओर चलती है। हवाओं की गति 120 से 200 किमी तक होती है। इनका व्यास 160 से 640 किमी तक हो सकता है। भूमध्य रेखा से दूर जाने पर इनका आकार बढ़ता जाता है। हरिकेन के साथ 3 से 6 मीटर ऊँची सागरीय तरंगें उठती हैं, जो तटीय भागों में प्रवेश कर जन-धन को अपार हानि पहुँचाती है। इसमें तापमान सम्बन्धी अन्तर नहीं होने के कारण विभिन्न वाताग्र नहीं पाये जाते हैं।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात में मौसम
(Weather in Tropical Cyclones)

उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के विकास के लिए वायुदाब, जलवाष्प एवं तापमान तीनों ही आधार-स्तम्भ हैं। भीतर की और सघन न्यून वायुदाब, सागर तल पर निरन्तर वाष्पीकरण तथा गुप्त ऊष्मा के प्रभाव से सघन न्यून भार की दशा बने रहना एक-दूसरे से जुड़े हुए पहलू हैं। एक विकसित हरिकेन या चक्रवाती तूफान की बाहरी समभार रेखा जहाँ 1,016 मिलीबार होती है, वहीं भीतरी मध्यवर्ती समभार रेखा 950 मिलीवार तक ही रह जाती है। इससे कई बार स्थानीय रूप से संवहन के साथ पानी की धार भी ऊपर उठने लगती है। इसी कारण ऐसे उत्पाती चक्रवातों में भारी वर्षा के समय मरे हुए छोटे जीव भी पाये जाते हैं। सामान्यत: सतह पर उष्ण चक्रवातों के तापमान ऊँचे बने रहते हैं, जो कि यह 27° से 31° सेण्टीग्रेड के मध्य होते हैं। यह पश्चिमी द्वीप समूह एवं चीन सागर में सितम्बर में, बंगाल की खाड़ी में मानसून दशा के कारण दो बार मानसून से पूर्व (अप्रैल-मई) एवं मानसून के पश्चात् (अक्टूबर-नवम्बर) में आते हैं। बंगाल की खाड़ी से मानसून काल में भी उष्ण चक्रवात विकसित होते रहते हैं।

एक सुविकसित उष्णकटिबन्धीय चक्रवात का क्षैतिज विस्तार 400 किमी के आस-पास रहता है। लम्बे समय तक सागर पर रहने से यह रौद्र तूफान का रूप धारण कर लेता है। इसमें 6 से 10 किमी की ऊँचाई तक जल वाष्प एवं गुप्त ऊष्मा के प्रभाव से एवं संवाहनिक गति होने से निरन्तर गर्जन-तर्जन एवं वायु विक्षोभ बना रहता है। उष्ण चक्रवात आने से कुछ घण्टे पूर्व ही आकाश में निम्न पक्षाभ व मिश्रित मेघ बड़े आकार में फैल जाते हैं। 30 से 60 किमी प्रति घण्टा की गति से पवनें चलने लगती हैं। चक्रवात के आगमन के साथ ही सारा वायुमण्डल घने व काले वर्षीले एवं ऊँचे कपासी मेघों से ढक जाता है। दिन में ही अंधेरा-सा हो जाता है तथा भीषण मूसलाधार वर्षा प्रारंभ हो जाती है। वर्षा का सामान्य औसत 10-25 सेमी होता है किन्तु कभी-कभी यह 75-100 सेमी भी हो सकती है। तेज गति से झंझावात चलता है। चक्रवात के प्रवेश के साथ ही पवनों की गति 100 से 200 किमी या उससे भी अधिक हो जाती है। समुद्र में खड़े जहाज लंगर तोड़कर भटक जाते या डूब जाते हैं। भारी वर्षा एवं रौद्र गति से चलने वाली हवाएं मिलकर सागर तट के निकट के भागों व द्वीपों पर प्रलय मचा देते हैं। चूँकि उष्ण चक्रवात की गति धीमी रहती है, अत: यह उत्पात कई घण्टों तक भी रह सकता है। जब मध्यवर्ती भाग निकट पहुँचता है तो यकायक हवा चलना बन्द हो जाती है, क्योंकि यह केन्द्रीय भाग चक्रवात की आंख होती है। यहाँ पर वास्तव में पवनें नीचे उतरती हैं। इसी दबाव व प्रभाव से वर्षा व पवन गति को रोक लग जाती है। यह नीचे उतरने वाली पवनें समुद्री सतह पर पुन: तापमान बढ़ते ही वाष्पीकरण करके चक्रवात को सजीव या ताकतवर बना देती है।

'चक्रवात की आंख एक प्रकार का धोखा है क्योंकि ऐसे समय में मानव सुखचैन की सांस लेने लगता है, वह समझता है कि चक्रवात चला गया। जबकि वास्तव में थोड़ी देर बाद वही रौद्र रूप लिए चक्रवात गर्जना व चमक के साथ दहाड़ने लगता है। मानव की असावधानी से ऐसे चक्रवात दुगुना व घातक प्रभाव डाल देते हैं। संयुक्त राज्य, दक्षिणी चीन, दक्षिणी जापान, बंगाल की खाड़ी के तट पर इससे भारी नुकसान होता रहता है। ऐसे चक्रवात मुख्य भूमि पर प्रवेश या लैण्डफॉल (Landfall) करने के पश्चात् शीघ्र कमजोर पड़ने लगते हैं। चक्रवातों के आगे निकल जाने पर बादल छंट जाते हैं तथा मौसम साफ हो जाता है।

❑

UNIT-VII

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सागर जल में पाई जाने वाली गतियाँ कौन-सी हैं? उनके नाम लिखिए।

उत्तर सागर का जल कभी स्थिर नहीं रहता है। अनेक कारणों से इसमें गति या संचलन होता रहता है। सागर जल में तीन प्रकार की गतियाँ पाई जाती हैं—(i) तरंगें, (ii) धाराएँ तथा (iii) ज्वार-भाटा।

प्र.2. लहरों का दोहन किसे कहते हैं?

उत्तर वायु की प्रवाह गति से सागरीय जल में तरंगें उत्पन्न होती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि जल आगे बढ़ रहा है, किन्तु वास्तव में तरंग द्वारा जल का स्थानान्तरण नहीं होता है। प्रयोग के तौर पर यदि इसमें एक कॉर्क का टुकड़ा डाल दिया जाए तो वह वहीं ऊँचा-नीचा होता रहेगा। इस प्रकार वायु के घर्षण से सागर तल पर तरंग उत्पन्न होती है, जिससे जल ऊपर-नीचे होता रहता है। इसे लहरों का दोलन (Oscillation) कहते हैं।

प्र.3. गर्त या द्रोणी (trough) से क्या तात्पर्य है?

उत्तर यह कहा जा सकता है कि तरंगें सागरीय जल की सतह के समानान्तर नहीं होती हैं वरन् उनका कुछ भाग ऊपर उठ जाता है तथा कुछ भाग नीचा हो जाता है। तरंग की आकृति सामान्यत: चक्रीय होती है, जिसका शीर्ष नुकीला होता है एवं गर्त गोलाई लिए होता है। इस प्रकार प्रत्येक तरंग के दो भाग होते हैं। तरंग का सर्वाधिक ऊँचा उठा भाग शृंग या शीर्ष (crest) तथा सबसे नीचा भाग गर्त या द्रोणी (trough) कहलाता है।

प्र.4. महासागरीय धाराएँ कितने प्रकार की होती हैं?

उत्तर महासागरीय धाराएँ उनके जल की प्रकृति या भौतिक गुणों के आधार पर दो प्रकार की होती हैं—

(i) **ठण्डे जल की धाराएँ** (Cold Currents)— ध्रुवीय क्षेत्रों से विषुवत् रेखा की ओर बहने वाली धाराए ठण्डे जल की धाराएँ होती हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति ठण्डे सागरों में होती है।

(ii) **गर्म जल की धाराएँ** (Warm Currents)—उष्ण कटिबंधीय महासागरों में सूर्यातप की मात्रा अधिक प्राप्त होने से जल गर्म हो जाता है। यह गर्म जल ध्रुवों की ओर प्रवाहित होता है। अत: गर्म जल की धाराएँ विषुवत रेखा से ध्रुवीय क्षेत्रों की ओर प्रवाहित होती हैं।

प्र.5. ज्वार-भाटा किसे कहते हैं?

उत्तर ज्वार-भाटा समुद्र जल की एक महत्त्वपूर्ण गति है। इसमें नियमित रूप से सागर में जल स्तर घटता-बढ़ता रहता है। महासागरीय जल सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से ऊपर उठता है और आगे की ओर बढ़ता है। इस अवस्था को ज्वार कहते हैं तथा जब जल नीचे उतरने अथवा पीछे हटने लगता है, उस अवस्था को भाटा कहते हैं। अथवा महासागरों एवं सागरों के जल-तल में चन्द्रमा तथा सूर्य के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न उतार-चढ़ाव को ज्वार-भाटा (Tides) कहते हैं।

प्र.6. ज्वार भित्ति किसे कहते हैं?

उत्तर ज्वार की लहर जब किसी नदी के संकरे मुहाने में प्रवेश करती है, तो उसे नदी के बहते हुए जल को पीछे की ओर धकेलना पड़ता है। अत: पानी की ऊँचाई काफी बढ़ जाती है और नदी का बहाव उलट जाता है। इससे नदी में जल की एक दीवार-सी बहाव के विपरीत जाती हुई दिखाई देती है, जिसे ज्वार भित्ति अथवा नदी जल भित्ति कहते हैं।

प्र.7. ज्वार रहित क्षेत्रों के नाम लिखिए।

उत्तर अलास्का का उत्तरी तट, प्रशान्त महासागर में पाइमरा व सोसायटी द्वीप, चुकची सागर, बाल्टिक सागर, भूमध्य सागर, काला सागर, कैस्पियन सागर आदि ऐसे क्षेत्र हैं जो ज्वार रहित हैं, किन्तु यहाँ भाटे का अनुभव किया जाता है।

प्र.8. उच्चतामितीय वक्र क्या है?

उत्तर सम्पूर्ण पृथ्वी के धरातल के सामान्य स्वरूप की रूपरेखा को उच्चतादर्शक वक्र द्वारा प्रदर्शित करते हैं। यदि हम स्थल की ऊँचाई और समुद्र की गहराई को एक ही रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित करें तो इसमें जो वक्र बनेगा वह उच्चतामितीय वक्र होगा। यह वक्र पृथ्वी के सर्वोच्च स्थान से लेकर महासागरों के सर्वाधिक गहरे भाग तक के क्रमिक ढाल को बताता है। इसमें औसत समुद्र तल से ऊँचाई एवं गहराई के सामान्य स्वरूप को महत्ता दी जाती है। महासागरों का तल स्थल के उभार से कहीं ज्यादा जटिल एवं गहरा है, अत: उच्चतादर्शक वक्र में इसे ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

प्र.9. महासागरीय नितल की सामान्य विशेषताएँ को बताते हुए उच्चावच को संक्षेप में लिखिए।

उत्तर स्थलखण्ड की भाँति महासागरीय तल भी विषम एवं जटिल है। यही नहीं, महासागरों की औसत एवं वास्तविक गहराई भू-खण्ड की औसत ऊँचाई से कहीं अधिक है। जहाँ स्थलखण्ड का सर्वोच्च शिखर माउण्ट एवरेस्ट 8,848 मीटर ऊँचा है, वहीं महासागरों की सबसे गहरी खाई मेरीना ट्रेन्च 11,035 मीटर गहरी है। इसी प्रकार जहाँ स्थलमण्डल की औसत ऊँचाई 866 मीटर है, वहीं महासागरों की औसत गहराई इससे कहीं अधिक 4,781 मीटर है। स्ट्रेहलर के अनुसार स्थलखण्ड का 3,000 मीटर से ऊँचा भाग कुल भूतल का मात्र 1.5 प्रतिशत है, जबकि महासागरों का 3,000 मीटर से अधिक गहरा भाग कुल भूतल का लगभग 52 प्रतिशत है। सर जॉन मरे के अनुसार 3,500 मीटर से अधिक ऊँचाई का भाग समस्त भूतल का केवल एक प्रतिशत है, जबकि महासागरों का 3,500 मीटर से अधिक गहरा भाग समस्त भूतल का 46 प्रतिशत है।

प्र.10. भारत का निमग्न तट कैसा है?

उत्तर पूर्वी तट पर निमग्न तट की औसत चौड़ाई 50 किमी है तथा पश्चिमी तट पर 150 किमी है। गंगा, महानदी, गोदावरी, कृष्णा व कावेरी नदियों के डेल्टा क्षेत्र में निमग्न तट अधिक चौड़ा है।

प्र.11. प्रशान्त महासागरीय खाइयाँ को परिभाषित कीजिए।

उत्तर प्रशान्त महासागर में सबसे लम्बी एवं गहरी खाइयाँ इसके पश्चिमी एवं दक्षिणी-पश्चिमी भाग में पाई जाती हैं, इन्हीं में कुछ अत्यधिक गहरे गर्त भी हैं। पश्चिम की ओर महासागर 9 से 10 हजार मीटर एवं इससे भी अधिक गहरा है। यहीं पर फिलीपीन्स-मेरियाना, मिण्डानाओ एवं टोंगा खाइयाँ स्थित हैं। पूर्वी भाग में पीरू-चिली खाई एवं मध्य अमरीकी खाई है जबकि उत्तरी-पश्चिमी प्रशान्त में एल्यूशियन, क्यूराइल एवं जापान द्वीपसमूह के निकट की खाइयाँ उल्लेखनीय है।

प्र.12. अन्ध महासागरीय श्रेणियों के बारे में आप क्या जानते हैं?

उत्तर अन्ध महासागर के मध्य कटक या श्रेणी के आकार में उत्तर-दक्षिण दिशा में फैली है। इसका उत्तरी भाग डाल्फिन श्रेणी और दक्षिणी भाग चेलेंजर श्रेणी के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर में न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट टेलीग्राफ पठार विस्तृत है। दक्षिणी अन्ध महासागर में मध्यवर्ती कटक से पूर्व में वालविश श्रेणी दक्षिणी अफ्रीका की ओर चली गई है। इसी भाँति पश्चिम में रायोग्राण्डे श्रेणी उत्तरी अर्जेण्टीना की ओर चली गई है। मुख्य श्रेणी सागर तल से सिर्फ 1,100 मीटर गहरी है। इसी श्रेणी के मध्य में केनेरी व अजोर्स द्वीप ऊपर उठे हुए हैं। अजोर्स द्वीपसमूह का पीको द्वीप मध्यवर्ती श्रेणी का सर्वोच्च भाग है।

प्र.13. हिन्द महासागरीय बेसिन से आप क्या समझते हैं?

उत्तर हिन्द महासागर के 75 प्रतिशत भाग में गम्भीर सागरीय मैदान (बेसिन) पाये जाते हैं, जो कि मुख्य श्रेणी के दोनों ओर एवं सहायक श्रेणियों के बीच फैले हुए हैं। पश्चिम की ओर सोमाली, अरेबियन, ओमान, नेटाल, मॉरीशस एवं अण्टार्कटिका बेसिन फैले हुए हैं। पूर्वी भाग में अण्डमान, पश्चिमी व दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया, कोकोस, कीलिंग एवं पूर्वी अण्टार्कटिका बेसिन फैले हुए हैं।

प्र.14. अन्ध महासागर के नितल के उच्चावच को परिभाषित कीजिए।

उत्तर अन्ध महासागर पश्चिम में उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका एवं पूर्व में यूरोप तथा अफ्रीका के मध्य S आकार में फैला हुआ है। इसका विस्तार उत्तरी सागर से लेकर दक्षिण में अण्टार्कटिका महाद्वीप तक है। इसकी तली या पेंदे के बारे में सबसे अधिक खोज होती रही है। इसका क्षेत्रफल 8 करोड़ 20 लाख वर्ग किमी है। इसकी सर्वाधिक चौड़ाई 35° उत्तरी अक्षांश के निकट लगभग 6,000 किमी है। विषुवत रेखा के निकट यह मात्र 2,500 किलोमीटर चौड़ा है।

प्र.15. प्रमुख महासागरों के गर्तों के नामों को संक्षिप्तता से लिखिए।

उत्तर प्रमुख गर्त एवं खाइयों के नाम निम्न प्रकार हैं—

क्र०सं०	गर्त का नाम	महासागर	गहराई (मीटर में)
1.	मेरियाना ट्रेन्च (चेलेन्जर डीप)	प्रशान्त महासागर	11035
2.	टोंगा ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	10882
3.	क्यूराइल ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	10543
4.	स्वायर ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	10475
5.	मिण्डकलाओ ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	10033
6.	करमाडेक ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	10003
7.	जापान ट्रेन्च	प्रशान्त महासागर	9800
8.	प्यूटोरा ट्रेन्च	अटलाण्टिक महासागर	9392
9.	साउथ सेण्डविच ट्रेन्च	अटलाण्टिक महासागर	8262
10.	सुण्डा ट्रेन्च	हिन्द महासागर	7450

प्र.16. लघु-ज्वार किसे कहते हैं?

उत्तर पूर्णमासी तथा अमावस्या के अतिरिक्त शुक्ल और कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति ऐसी होती है कि वे पृथ्वी पर समकोण बनाते हैं। इन दिनों में लघु ज्वार उत्पन्न होते हैं। इस समकोण स्थिति के कारण सूर्य और चन्द्रमा महासागरीय जल को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस कारण महासागरों में ज्वार की ऊँचाई पूर्णमासी अथवा अमावस्या की अपेक्षा कम रहती है, अत: इसे लघु ज्वार (neap tide) कहते हैं।
लघु ज्वार के दिन ज्वार एवं भाटे की ऊँचाई में अधिक अन्तर नहीं पाया जाता है। ज्वार की ऊँचाई 20 प्रतिशत कम होती है।

प्र.17. हिन्द महासागर के नितल के उच्चावच को समझाइए।

उत्तर यह महासागर दक्षिणी एशिया, पूर्वी अफ्रीका एवं पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के मध्य विस्तृत है। दक्षिण में यह अण्टार्कटिका महाद्वीप तक एवं दक्षिण-पश्चिम में अन्ध महासागर से जुड़ा हुआ है। इसका क्षेत्रफल 7 करोड़ 36 लाख वर्ग किलोमीटर है। इसकी औसत गहराई 4,000 मीटर है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. कणों की गति के अनुसार तरंगें कितने प्रकार की होती हैं? इनका उल्लेख कीजिए।

उत्तर कणों की गति के अनुसार तरंगें दो प्रकार की होती हैं—

1. **अनुप्रस्थ तरंगें** (Transverse Waves)—अनुप्रस्थ तरंगों में कण ऊपर-नीचे होते रहते हैं। इस प्रकार कण वृत्ताकार रूप में गतिशील होते हैं। इस तरंग में जल की गति अग्रभाग में नीचे की ओर, शीर्ष पर ऊपर की ओर, द्रोणी में पीछे की ओर तथा पृष्ठ भाग में नीचे की ओर होती है।

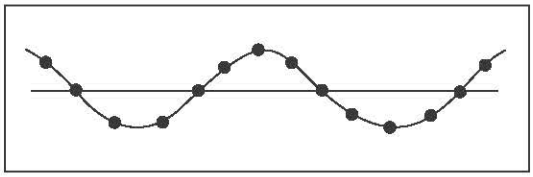

चित्र : अनुप्रस्थ तरंग से कणों का विस्थापन

2. **अनुदैर्घ्य तरंगें** (Longitudinal Waves)—अनुदैर्घ्य तरंगों में कण एक ही सीध में विस्थापित होते हैं एवं जल एक ही दिशा में गतिशील होता है।

चित्र : अनुदैर्घ्य तरंग में कणों का विस्थापन

जैसे-जैसे तरंगें तट की ओर अग्रसर होती हैं वैसे-वैसे सागर जल की गहराई कम होती जाती है और तरंग का निचला भाग तली से रगड़ खाना प्रारम्भ कर देता है। अत: तरंग की लम्बाई उसके शीर्ष की ऊँचाई के अनपात में कम हो जाती है। उनकी चाल धीमी हो जाती है, जिससे उनका शीर्ष मुड़ जाता है। ऐसी तरंगें जब किनारे पर पहुँचती हैं, तो उनका मुड़ा हुआ शीर्ष तट से टकराकर टूट जाता है। तटों पर इन टूटी हुई तरंगों को फेनिल तरंग (surf) कहा जाता है। ऐसी स्थिति में अब तरंग आगे नहीं बढ़ती है, किन्तु जल ही तट की ओर बढ़ता है। तट की ओर बढ़ते हुए जल को उद्धावन या हिल्लोलन (swash) कहते हैं। जब यह जल तट से टकराकर वापस सागर की ओर लौटता है, उसे जल का प्रतिधावन या पुन:गमन (backwash) कहते हैं।

प्र.2. धाराएँ क्या हैं? इनके विभिन्न रूपों को बताते हुए संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर

धाराएँ
(Currents)

जिस प्रकार धरातल पर सरिताएँ बहती हैं, उसी प्रकार महासागर में जल धाराएँ चला करती हैं। इसमें सागर का जल एक निश्चित दिशा में नदी के समान प्रवाहित होता है। तरंगों या लहरों में जल कभी अपना स्थान नहीं छोड़ता है, जबकि धाराओं में मंद गति से जल का प्रवाह आगे की ओर होता है। धाराओं में जल केवल सतह पर ही नहीं अपितु गहराई में भी चलता है। मोंकहाउस के शब्दों में, "समुद्री सतह की विशाल जलराशि के एक निश्चित दिशा में प्रवाहित होने वाली सामान्य गति को महासागरीय धारा कहते हैं।" ("The general movement of mass of surface water in a fairly defined direction is known as ocean current."—*F.J. Monkhouse*).

धाराओं की गति, विस्तार, सीमा, दिशा आदि में अन्तर हो जाने पर इनका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इस आधार पर धाराओं के निम्न रूप देखे जाते हैं—

1. **प्रवाह** (Drift)—जब समुद्र की सतह का जल पवन की दिशा व गति से प्रभावित होकर मन्द गति से आगे बढ़ता है, तो उसे प्रवाह कहते हैं। समुद्र जल की यह गति अदृश्य होती है। इसमें केवल ऊपरी जल ही गतिशील होता है। प्राय: इसकी गति 15-20 किमी प्रतिदिन होती है। इसकी उत्पत्ति जल के घनत्व, लवणता, तापमान व दाब की भिन्नता के कारण होती है। इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं होती है। उत्तर अटलाण्टिक प्रवाह इसका उदाहरण है।
2. **धारा** (Current)—समुद्र में निश्चित सीमा के अन्तर्गत निश्चित दिशा में तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली जलराशि को धारा कहते हैं। इसकी गति प्रवाह से अधिक होती है। धाराओं का वेग 25 से 40 किमी प्रति घण्टा होता है। इसका उदाहरण क्यूरोसीवो धारा है।
3. **विशाल धारा** (Stream)—समुद्रों में जल की प्रवाह गति जब नदी की भाँति बहुत ही सुनिश्चित सीमा में तथा अत्यधिक वेग से होती है, तो उसे विशाल धारा या स्ट्रीम कहते हैं। इसका वेग प्रवाह तथा धारा से अधिक होता है। इनकी गति 80 किमी प्रति घण्टा तक पाई जाती है। गल्फस्ट्रीम इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।
4. **सरकन** (Creep)—यह समुद्र जल के भीतर की गति है जो अदृश्य होती है। जल ठण्डा होने पर सिकुड़ता है और घनत्व बढ़ता है। ठण्डे और भारी जल के नीचे बैठने के कारण यह गति उत्पन्न होती है। ध्रुवीय भागों से बड़ी मात्रा में ठण्डा जल समुद्र की तली के साथ-साथ सरकन के रूप में विषुवत् रेखा की ओर प्रवाहित होता है।

प्र.3. ज्वार-भाटा की उत्पत्ति की व्याख्या संक्षेप में कीजिए।

उत्तर

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति
(Genesis of Febrile Reflux)

महासागरीय जल में सूर्य तथा चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियों के परिणामस्वरूप ही ज्वार की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का सतही भाग उसके केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से 6,400 किलोमीटर निकट रहता है। चन्द्रमा का केन्द्र पृथ्वी के केन्द्र से 3,84,000 किलोमीटर की दूरी पर स्थित रहता है और पृथ्वी का धरातल चन्द्रमा की धरातलीय सतह से 3,77,600 किलोमीटर दूर स्थित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रमा के समक्ष पृथ्वी की धरातलीय सतह वाले भाग के ठीक पीछे चन्द्रमा का धरातल 3,90,400 किलोमीटर की दूरी पर रहता है। अत: पृथ्वी का वह भाग जो चन्द्रमा के सामने पड़ता है, चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से सर्वाधिक प्रभावित होता है तथा उसके ठीक पीछे वाला भाग कम प्रभावित होता है। चन्द्रमा की इस आकर्षण शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी तल के सामने पड़ने वाले भाग का जल चन्द्रमा की ओर आकर्षित होकर ऊपर की ओर उठता है, जिससे सागर में उच्चतम ज्वार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी के इस भाग के बिल्कुल पीछे वाले भाग में भी पृथ्वी के केन्द्रोपसारी बल के कारण जल सामान्य

स्तर से कुछ ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार एक ही समय में पृथ्वी तल पर दो ज्वार उत्पन्न होते हैं। एक तो चन्द्रमा के सामने व दूसरा उसके ठीक पीछे के भाग में होता है। चन्द्रमा के सामने व उसके विपरीत भागों के बीच समकोण पर दो स्थान ऐसे भी होते हैं, जहाँ का जल सामान्य सतह से नीचा रहता है, इसे भाटा कहते हैं। पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण प्रत्येक स्थान पर चौबीस घण्टे में दो बार ज्वार एवं दो बार भाटा आता है।

केंद्रोपसारी बल (Centrifugal force) पृथ्वी के प्रत्येक अक्षांश पर गुरुत्वाकर्षण के ठीक विपरीत दिशा में प्रभाव डालता है।

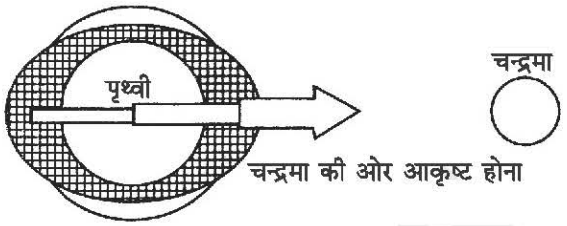

चित्र : चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से ज्वार की उत्पत्ति

प्र.4. ज्वार-भाटा का मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? समझाइए।

उत्तर

ज्वार-भाटा और मानव जीवन
(Febrile Reflux and Human Life)

ज्वार-भाटा मानव जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है—

1. ज्वार के कारण छिछले बन्दरगाहों में जल की गहराई बढ़ जाने से बड़े-बड़े जलयान बन्दरगाहों के भीतरी भाग तक प्रवेश कर लेते हैं तथा भाटा के साथ गहरे सागरों में वापस चले जाते हैं। इस प्रकार ज्वार-भाटा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुगम बनाए रखने में सहायता करता है।
2. भाटा अपने साथ नदियों के मुहाने पर एकत्रित कूड़ा-करकट बहाकर ले जाता है, जिससे बन्दरगाह साफ रहते हैं।
3. ज्वार तरंगों से विद्युत् भी उत्पन्न की जाती है।
4. ज्वार-भाटा के कारण महासागरों के जल में निरन्तर हलचल रहती है, जिससे शीतोष्ण प्रदेशों के बन्दरगाह शीतकाल में जम नहीं पाते हैं और वर्षपर्यन्त व्यापार के लिए खुले रहते हैं।
5. ज्वार तरंगों की चपेट में आने पर कभी-कभी जहाज नष्ट हो जाते हैं।
6. ज्वार-भाटा कभी-कभी समुद्री तटों पर कंकड़ और बालू के टीले जमा कर देता है, जिससे सागर की गहराई कम हो जाती है तथा जहाज नहीं आ सकते हैं।
7. ज्वार-भाटा समुद्रों में प्लेंक्टन व नेक्टन का वितरण करते हैं, जिससे मत्स्य व्यवसाय फलता-फूलता है।

प्र.5. अकार्बनिक निक्षेप से आप क्या समझते हैं? इसके अन्य विविध स्त्रोतों को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर

अकार्बनिक निक्षेप
(Inorganic Deposits)

अकार्बनिक निक्षेपों में मुख्यत: लाल मृत्तिका आती है—

लाल मृत्तिका (Red Clay)—इसका जमाव अधिकांशत: अगाध सागरों में नितल पर होता है। लाल मृत्तिका का निर्माण लोहे के ऑक्साइड और एलुमिनियम के सिलिकेटों द्वारा होता है, जिसमें लोहे के ऑक्साइडों की मात्रा अधिक होती है। लाल मृत्तिका का भौतिक स्वरूप बहुत कोमल, चिकना तथा लचीला होता है। सूखने पर यह भूरे रंग की लालिमा लिए हुए पाउडर बन जाती है। इसकी संरचना सागरीय जीवावशेष तथा ज्वालामुखी पदार्थों से होती है। यह गहरी महासागरीय तली पर 4,800 मीटर की गहराई तक पाई जाती है। इसका सर्वाधिक विस्तार प्रशान्त महासागर में 40° उत्तर से 40° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य एवं मध्य व पूर्वी हिन्द महासागर में पाया जाता है।

अन्य विविध स्त्रोतों वाले जमाव (Deposits from Other Sources)—इसके अन्तर्गत बाह्याकाश व वायुमण्डल से प्राप्त अन्य अकार्बनिक पदार्थ मुख्यत: आते हैं। उल्का धूल के कण, कॉस्मिक पदार्थ व अन्य प्रदूषक भी महासागरीय जल में प्रवेश कर सागर की तली पर जमा होते जाते हैं। घुलन क्रिया व रासायनिक परिवर्तनों के कारण इनकी पहचान आसानी से नहीं की जा सकती है। मानव ने अणु भट्टियों से निकलने वाले घातक परमाणु विकिरणयुक्त पदार्थों को भी गम्भीर महासागरों में विशेष सीसे के बक्सों में फेंकना प्रारम्भ कर दिया है। जहाजों व पनडुब्बियों के दुर्घटनाग्रस्त होने पर उनका मलवा भी सागरीय तली में जमा होता रहता है।

प्र.6. प्रवाल भित्तियों के वितरण का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रवाल भित्तियों का वितरण
(Distribution of Coral Reefs)

विश्व में विभिन्न महासागरों में प्रवाल भित्तियों का वितरण मुख्य: दो पेटियों में मिलता है—

1. **उष्ण कटिबन्धीय प्रवाल भित्तियाँ** (Tropical Coral Reefs)—उष्ण कटिबन्धीय प्रवाल भित्तियों का अक्षांशीय विस्तार 25° उत्तरी अक्षांश से 25° दक्षिणी अक्षांश तक है। इन अक्षांशों में प्रवाल भित्ति के विकास की आवश्यक भौतिक दशाएँ आसानी से मिल जाती हैं। प्रशान्त, अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर में महाद्वीपों के निकट तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों के पास प्रवाल भित्ति अधिक पायी जाती है। यहाँ भी महाद्वीपों के पूर्वी भाग में प्रवाल जीव अपनी भित्तियों को बनाने में अधिक सफल होते हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में प्राय: ठण्डी धाराएँ बहती हैं, जिनके कारण प्रवाल विकसित नहीं हो पाते। इसके विपरीत महाद्वीपों के पूर्वी तट के निकट गरम धाराओं के बहने एवं अनुकूल भौगोलिक दशाओं के कारण प्रवाल निरन्तर बढ़ते रहते हैं।
   विशेष ऊँचे तापमान, कम खारा पानी, भारी वर्षा एवं कम मात्रा में कैल्सियम के कारण ही विषुवत रेखीय भागों में प्रवाल जीवों का विकास नहीं हो पाता। प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तथा मध्य भाग के द्वीपों पर भित्तियाँ अधिक मिलती है। इन भागों में स्थित ज्वालामुखियों पर भी प्रवाल जीव अपनी भित्ति का निर्माण करते रहे हैं।
   भारत में प्रवाल रचनाओं का क्षेत्रीय विस्तार 18,000 वर्ग किमी में है। मुख्य रूप से अण्डमान तथा निकोबार द्वीप एवं लक्षदीप के चारों ओर प्रवालों के क्षेत्र या घरोंदे पाए जाते हैं। इसके अलावा मन्नार की खाड़ी तथा कच्छ की खाड़ी में छोटे-छोटे क्षेत्रों में प्रवाल भित्तियों का विकास हुआ है।
2. **सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल भित्तियाँ** (Marginal Coral Reefs)—सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल भित्तियों का अक्षांशीय विस्तार 25° से 35° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य है। यहाँ प्राचीन काल में प्रवाल श्रेणियाँ थीं, लेकिन प्लीस्टोसीन हिमयुग में समुद्र में जल की सतह नीची हो जाने से प्रवाल भित्तियाँ धीरे-धीरे नष्ट होती गईं। उन प्रवाल भित्तियों का आज महासागरों में बहुत पुराने टापुओं के रूप में अस्तित्त्व पाया जाता है। इनमें से बहुत-सी प्रवाल भित्तियाँ महासागरों के तल से कुछ ही नीचे काफी बड़े-बड़े चबूतरे के रूप में दिखाई पड़ती हैं। उदाहरण के लिए, बरमूडा, बहामा तथा हवाई द्वीप के चबूतरे स्पष्टत: प्राचीन प्रवाल के जमाव से बने हैं। किसी समय जब समुद्र का जल-तल बढ़ जाता है तो प्रवाल जीव इन चबूतरों पर अपनी भित्तियाँ बनाना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार की प्रवाल भित्तियाँ बहुत कम पायी जाती हैं। छोटी एण्टीलीज एवं बरमूडा की प्रवाल भित्तियाँ, इसका उदाहरण हैं।

प्र.7. प्रवाल विरंजन के लिए उत्तरदायी कारक कौन-कौन से हैं? अन्य कारकों का भी संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर

विरंजन के कारक
(Bleaching Agent)

प्रवाल विरंजन के लिए उत्तरदायी कारक निम्न हैं—

1. **ग्रीन हाउस प्रभाव व भूमण्डलीय ऊष्मन**—भूमण्डलीय ऊष्मन के कारण समुद्री जल के तापमान में वृद्धि प्रवाल विरंजन का प्रमुख कारण है। प्रवाल तापमान के प्रति अतिसंवेदनशील होते हैं। इनके लिए अनुकूल तापमान 20°C होता है, इसके मात्र 1°C की वृद्धि भी इनके जीवन के लिए खतरा बन जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की जलवायु परिवर्तन पर तैयार रिपोर्ट के अनुसार बढ़ते तापमान के कारण 2040 तक विश्व में प्रवाल की सबसे बड़ी संरचना 'ग्रेट बेरियर रीफ' मर सकती है। यह उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के निकट लगभग 2300 किमी लम्बा ऐसा पारिस्थितिक तन्त्र है, जिसमें 600 से भी अधिक प्रजातियों के प्रवाल से बनी हजारों मूंगा चट्टानें सम्मिलित हैं। अगर यह प्रवाल संरचना समाप्त हो गई, तो इनसे जुड़े जीवन के अनेक रंग भी गायब हो जाएँगे। 1997-98 में तापमान वृद्धि के कारण बहरीन, मालद्वीव, श्रीलंका, सिंगापुर आदि द्वीपों के निकट 95 प्रतिशत प्रवालों पर विरंजन का दुष्प्रभाव पड़ा। इसी अवधि में अण्डमान सागर के तापमान में 2°C तक की वृद्धि होने से अण्डमान-निकोबार कोरल रीफ के चतुर्दिक 30 से लेकर 70 प्रतिशत तक विरंजन हुआ। विरंजन होने पर सफेद व भूरे रंग के शैवाल समाप्त होने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप भोजन के अभाव में प्रवाल मरने लगते हैं। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) की रिपोर्ट के अनुसार 2016 में तापमान वृद्धि के कारण ग्रेट बेरियर

रीफ के किनारों पर 29 से 50 प्रतिशत तक प्रवाल मारे गए तथा 2017 में रीफ का मध्यवर्ती भाग भी प्रवाल विरंजन से प्रभावित हुआ। सामान्य विरंजन से प्रभावित प्रवालों के पुनर्जीवन की सम्भावना रहती है।

2. **अल-नीनो प्रभाव**—अल-नीनो के प्रभाव से प्रशान्त महासागरीय जल का तापमान सामान्य से 3°-4°C तक बढ़ जाता है। इसका प्रभाव सभी समुद्री जीवों पर पड़ता है। अल-नीनो की घटना मूल रूप से उष्णकटिबन्धीय प्रशान्त महासागर में भूमध्यरेखा के आस-पास घटती है, लेकिन यह पृथ्वी के लगभग सभी जलवायु चक्रों को प्रभावित करती है। अल-नीनो काल में प्रवाल विरंजन सर्वाधिक होने के प्रमाण मिले हैं।
3. **अम्लीयता में वृद्धि**—समुद्रों द्वारा अधिक कार्बन डाईऑक्साइड के अवशोषण से सागरीय जल की अम्लीयता में वृद्धि हो रही है। इससे सागरीय सतह पर सौर्यिक विकिरण के परावर्तन के मापक अल्वीडो में परिवर्तन आता है। सागरीय जल की अम्लीयता बढ़ने से शैवालों का रंग श्वेत होगा और उनसे आहार प्राप्त ना होने पर प्रवाल मर जाएंगे। इस प्रकार सागरीय अम्लीयता का प्रभाव प्रवाल विरंजन पर पड़ता है।
4. **संक्रामक रोग**—समुद्री जीवों में जब कोई संक्रामक रोग फैलकर महामारी का रूप ले लेता है, तो प्रवालों की भी व्यापक स्तर पर मृत्यु होती है। मात्र जीवित प्रवाल ही रंगीन होते है, मरने पर वे बदरंग या भूरे हो जाते हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में छिछले सागरों की प्रवाल भित्तियों पर बैक्टीरिया, फंजाई व प्रोटोजोआ जनित रोगों का अधिक प्रभाव देखने को मिला है। इन संक्रामक रोगों में एस्परजिलोसिस, व्हाइट पोक्स, डार्क स्पॉट, ब्लेक बैण्ड, व्हाइट बैण्ड, यलो बैण्ड आदि प्रमुख हैं।

अन्य कारक—इनके अलावा स्थल से आने वाले प्रवाही जल में अवसादों की मात्रा अधिक होना, औद्योगिक बहिस्राव व मलजल के कारण प्रदूषण, मछलियों का अत्यधिक दोहन, मेंग्रूव वनों का सफाया, नम भूमि को पाटना, प्रवाल भित्तियों की खुदाई आदि कारणों से प्रवाल विरंजन बढ़ता है। अध्ययनों से पता चला है कि विश्व के 58 प्रतिशत प्रवाल संकटापन्न स्थिति में है। सागरीय पारिस्थितिक तंत्र के लिए प्रवालों को विरंजन से बचाना आवश्यक है।

प्र.8. महासागरीय जल में लवणता के संघटन को प्रतिशत में दर्शाते हुए इसका संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर

महासागरीय जल का संघटन
(Composition of Oceanic Water)

महासागरीय जल एक सक्रिय घोलक होने के कारण इसमें अनेक प्रकार के लवण पाए जाते हैं, इनमें सोडियम क्लोराइड की मात्रा सबसे अधिक अर्थात् कुल लवणता की 77.8 प्रतिशत होती है, अत: आज भी लवणता के सापेक्ष निर्धारण सोडियम क्लोराइड की मात्रा के आधार पर किया जाता है। वैसे महासागरों में कुल सात प्रकार के लवण विभिन्न मात्रा में पाए जाते हैं—

समुद्री जल की लवणता

नमक	प्रति किग्रा पानी	कुल लवणता का प्रतिशत
सोडियम क्लोरइड (Sodium Chloride) (खाने का नमक)	27.213	77.75
मैग्नीशियम क्लोराइड (Magnesium Chloride)	3.807	10.88
मैग्नीशियम सल्फेट (Magnesium Sulphate)	1.658	4.74
कैल्सियम सल्फेट (Calcium Sulphate)	1.260	3.60
पोटैशियम सल्फेट (Potassium Sulphate)	0.863	2.46
कैल्सियम कार्बोनेट (Calcium Carbonate)	0.123	0.35
मैग्नीशियम ब्रोमाइड (Magnesium Bromide)	0.076	0.22
योग	**35.00 या 35%**	**100.00 प्रतिशत**

इस प्रकार समुद्री जल में सबसे कम मात्रा में मैग्नीशियम ब्रोमाइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में भूतल के सभी तत्त्व भी महासागरीय जल में अवश्य पाए जाते हैं। इसी कारण अनुकूल परिस्थिति में गहरे सागरों की तली पर संग्रथित धातु पिण्ड के सघन घोल भी पाए जाते है। डू पॉण्ट जैसी कई कम्पनियाँ महासागरीय जल के परिष्करण द्वारा अनेक प्रकार की दवाइयाँ, रसायन एवं अन्य अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त करती रही हैं। महासागरों में लवणता का उपर्युक्त प्रतिशत अर्थात् 35% मात्र औसत दशा है। कई खुले सागरों में इससे कुछ कम या अधिक मात्रा में भी लवणता पाई जाती है। इसी भाँति कई अधखुले सागरों व अन्तर्देशीय जलाशयों में इससे कई गुना कम अथवा कई गुना अधिक लवणता भी पाई जा सकती है। उदाहरणार्थ,

बाल्टिक सागर एवं नदियों के मुहानों के निकट लवणता 2% से 12% पाई जाती है, जबकि साल्ट लेक व मृत सागर में लवणता 200% से कहीं ऊँची पाई जाती है। इतना अवश्य है कि कुल लवणता में ऊपर वर्णित सातों प्रकार के लवणों का प्रतिशत लगभग उपर्युक्त ही रहता है।

प्र.9. प्रवाल विरंजन की संकल्पना का अर्थ व परिभाषा को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर

प्रवाल विरंजन की संकल्पना
(Concept of Coral Bleaching)

प्रवाल में एक जन्तु 'पॉलिप' और एक शैवाल 'बियोडीनियम' होती है। दोनों मिल-जुल कर रहते हैं और बड़ी-बडी झाड़ीनुमा कॉलोनियाँ बनाते हैं, जहाँ अनेक समुद्री जीवों को आश्रय मिलता है। ध्यातव्य है कि प्रवाल को 90 प्रतिशत पोषण शैवाल से मिलता है और बदले में प्रवाल (पॉलिप) शैवाल को सुरक्षित स्थान तथा कार्बन डाईऑक्साइड प्रदान करते हैं, ताकि वह प्रकाश संश्लेषण द्वारा अपना भोजन बना सके। अत: प्रवाल की वृद्धि व जीवन शैवालों की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता पर निर्भर करता है। प्रवाल अनेक रंगों के होते हैं; जैसे लाल, नारंगी, गुलाबी, पीले, बैंगनी, हरे आदि। प्रवाल विरंजन का सामान्य अर्थ है प्रवाल का बदरंग होना भूमण्डलीय तापवृद्धि तथा प्रदूषण के कारण प्रवाल के बदरंग होकर मरने की क्रिया को प्रवाल विरंजन कहते हैं। इसके कारण मूंगा या प्रवाल अपना प्राकृतिक रंग छोड़कर भूरा या सफेद हो जाता है। प्रवाल विरंजन से मूंगे की बस्तियाँ उजड़ जाती है, तो वहाँ आश्रय प्राप्त मछलियाँ, स्पंज, केकड़े, समुद्री कछुए, सांप आदि बेघर हो जाते हैं। इस प्रकार समुद्री पारिस्थितिक तन्त्र में प्रवालों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्र.10. सागरीय जल में लवणता का लम्बवत् वितरण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

लवणता का लम्बवत् वितरण
(Vertical Distribution of Salinity)

सागरों में गहराई की ओर लवणता के वितरण का कोई विशेष नियम नहीं है। सामान्यत: सागरीय सतह पर सर्वाधिक लवणता पाई जाती है तथा गहराई में यह निरन्तर कम होती जाती है, किन्तु उष्ण या शीतल जलराशियों की उपस्थिति में लवणता में यकायक अन्तर आ जाता है। सामान्यत: गहराई में लवणता की वृद्धि 2,000 मीटर तक होती है, बाद में लवणता कम होती जाती है। उच्च अक्षांशों में सतह पर लवणता कम पाई जाती है तथा गहराई में बढ़ती जाती है। मध्यवर्ती अक्षांशों में सतह से 400 मीटर की गहराई पर लवणता में वृद्धि होती है, इससे अधिक गहराई पर यह कम होती जाती है। विषुवत् रेखा पर स्वच्छ जल की अधिक प्राप्ति के कारण सागरीय सतह पर लवणता कम पाई जाती है, जो कि कुछ गहराई पर बढ़ जाती है तथा तली की ओर पुन: कम हो जाती है।

अक्षांशों के अनुसार सागरों की लवणता (जॉनस्टन के आधार पर)

अक्षांश	लवणता (प्रति हजार)
70°-50° उत्तर	30-31
55°-40° उत्तर	33-34
40°-15° उत्तर	35-36
15° उत्तर से 10° दक्षिण	34.5-35
10°-30° दक्षिण	35-36
30°-50° दक्षिण	34-35
50°-70° दक्षिण	33-34
विश्व	**35**

प्र.11. सागरीय जल में लवणता के प्रमुख स्त्रोतों को उल्लेखित कीजिए।

उत्तर

सागरीय जल में लवणता के स्त्रोत
(Sources of Salinity in Ocean Water)

महासागरों की लवणता वर्तमान स्थिति में किस विधि से पहुँची इस बारे में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि महासागर प्रारम्भ से ही लवण युक्त रहे होंगे, अर्थात् जब संघनन क्रिया के परिणामस्वरूप सागरों में जल संगृहीत होने लगा तो पृथ्वी की

प्राथमिक चट्टानों में ही लवणता के तत्त्व अधिक रहे होंगे। यही नहीं, तापमान ऊँचे रहने तथा नग्न भूमि होने से जल में अनेक प्रकार के भारी पदार्थों के साथ-साथ घुलनशील लवण अधिक तेजी से एकत्रित हुआ होगा। अत: जब महासागर बने तभी कुछ करोड़ वर्षों में ही उनकी लवणता का स्वरूप वर्तमान स्थिति में पहुँच गया होगा।

अन्य विद्वानों का मानना है कि महासागरीय जल में नदियों एवं अन्य माध्यमों से जो रसायन प्राप्त होते रहते हैं, उन्हीं के निरन्तर एकत्रित होते रहने से ही लवणता बढ़ती जा रही है। यह वृद्धि निरन्तर धीमी गति से जारी है। किन्तु बीसवीं सदी से ही वैज्ञानिकों द्वारा की जा रही सागरीय जल की नियमित जांच के अनुसार सागर जल की लवणता में विश्वव्यापी औसत वृद्धि का कहीं प्रमाण नहीं मिल सका है। महासागरीय जल की लवणता के प्रमुख स्रोत निम्न हैं—

1. **नदियाँ**—नदियों एवं भूमिगत जल नलिकाओं का अन्तिम प्रवाह महासागरों में होता है। नदियों के जल के द्वारा अनेक प्रकार के खनिज व रसायन पदार्थ प्रति वर्ष करोड़ों टन की मात्रा में समुद्र में एकत्रित किए जाते हैं। इसमें सबसे अधिक चूना एवं चूना मिश्रित लवण होते हैं, जबकि सागर जल में चूने का मिश्रण मात्र 0.12 ग्राम प्रति किग्रा ही है। अत: कैल्सियम की इस प्राप्ति से लवणता बढ़ने में विशेष सहायता नहीं मिलती है। फिर अधिकांश चूना तो प्रवाल एवं चूनामय पंक भी उपयोग करते रहते हैं। अत: उसकी भी सागर जल में अधिक वृद्धि नहीं हो पाती।
2. **समुद्री लहरें**—समुद्री लहरें तटवर्ती भागों एवं निमग्न तट पर फैली चट्टानों की बराबर काट-छाँट करती रहती हैं। ऐसा करते समय चट्टानों में पाए जाने वाले लवण, क्षार, चूना एवं अन्य घुलनशील पदार्थ पानी में घुलते जाते हैं। इस विधि से भी सागर जल में अनेक प्रकार की लवणता स्थानीय रूप से प्राप्त होती रहती है। अनेक चट्टानों में क्लोराइड, फॉस्फेट, सल्फेट, कार्बोनेट व अन्य यौगिक पाए जाते हैं, जो निरन्तर सागर जल में घुलते जाते हैं। तटीय लहरों के प्रभाव से सोडियम, कैल्सियम एवं सल्फेट यौगिकों की प्राप्ति अधिक होती है।
3. **अन्य**—इसके अतिरिक्त, पवनों द्वारा उड़ाकर लाई गई बालू भी सागर में मिलकर अनेक तत्त्वों के साथ लवणता भी बढा देती है। मरुस्थलीय प्रदेशों में तूफानी मौसम के समय अपार मात्रा में बालू का प्रवाह होता रहता है, तब सागरों को भी अधिक मात्रा में बालू प्राप्त होती है। इसी भाँति ज्वालामुखी विस्फोट द्वारा भी तटीय प्रदेशों, द्वीपों एवं सागर तली में अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते रहते हैं। ज्वालामुखी धूल, राख, मलवा एवं गैसों से भी लवणता प्राप्त होती है।

प्र.12. महाद्वीपीय निमग्न तट से क्या आशय है? संक्षेप में समझाइए।

उत्तर

महाद्वीपीय निमग्न तट
(Continental Submergent Coast)

महाद्वीपीय चबूतरा या निमग्न तट गहरे महासागरों एवं महाद्वीपीय तटों के मध्य की प्रथम सीढ़ी है। यह भाग यद्यपि समुद्र में डूबा हुआ होता है, किन्तु इसकी संरचना महाद्वीपों के समकक्ष ही है। यहाँ की गहराई बहुत कम (180 मीटर तक) एवं ढाल 3 से 5 मीटर प्रति किमी होता है। मानचित्रों में औसत रूप से 200 मीटर या 100 फैदम की समगम्भीरता रेखा द्वारा महाद्वीपीय मग्न तट का विस्तार दिखाया जाता है। मानचित्र पर खींची जाने वाली वह रेखा जो समुद्र तली पर समान गहराई वाले स्थानों को मिलाती है, को समगम्भीरता रेखा (Isobath) कहते हैं। विश्व में महाद्वीपीय चबूतरों या मग्न तटों का क्षेत्रफल वेगनर ने 30.6 मिलियन वर्ग किमी तथा किजिल ने 29.5 मिलियन वर्ग किमी बताया। इन्हीं भागों में महाद्वीपों द्वारा लाये गए पदार्थों का जमाव दूर-दूर तक होता है। यहाँ पर महासागरीय वनस्पति एवं जीवों की अनोखी दुनिया अपने पूर्ण विकसित रूप में पाई जाती है। महाद्वीपीय चबूतरे की चौड़ाई एवं विस्तार सभी महाद्वीपों के तट पर समान नहीं है। विश्व में इसकी औसत चौड़ाई 50 किमी है। महाद्वीपीय चबूतरे का विस्तार अन्ध महासागर में कुल क्षेत्रफल का 13.3 प्रतिशत, प्रशान्त महासागर में 5.7 प्रतिशत एवं हिन्द महासागर में 4.2 प्रतिशत है। इस प्रकार अन्ध महासागर में अपतटीय भाग अधिक चौड़े एवं कम गहरे हैं, अत: यहाँ के महाद्वीपीय चबूतरे काफी दूर तक फैले हुए हैं। उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर यह चौड़ाई 120 किमी है, जबकि आर्कटिक में बेरेण्ट्स सागर के निकट यह 500 किमी से भी अधिक चौड़ा है। इसके ठीक विपरीत उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर अल्पाइन काल के पर्वतों के तट तक विस्तृत होने के कारण महाद्वीपीय चबूतरे की चौड़ाई मात्र 10 से 16 किमी ही है। संयुक्त राज्य के पश्चिमी तट के महाद्वीपीय चबूतरे पर तो तटीय श्रेणियों का विस्तार मिलता है। सामान्य रूप से निमग्न तटों की औसत चौड़ाई 48 किमी मानी जाती है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि जिन तटों के किनारों पर पर्वत पाये जाते हैं अथवा जो तट विस्तृत भ्रंश एवं स्थानीय निमज्जन से प्रभावित हुए हैं, वहाँ तट संकरा मिलेगा। जिन तटीय भागों में नदियों के डेल्टा प्रदेश हैं अथवा जहाँ अपरदन से तटीय भाग में मैदानों का विकास हो गया है वहाँ चबूतरे अधिक चौड़े मिलेंगे।

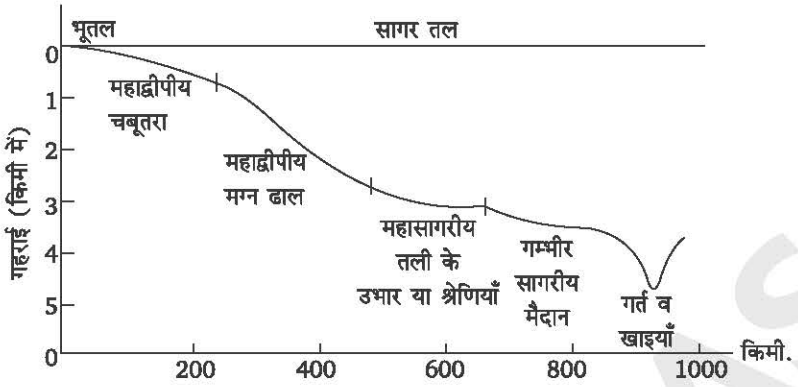

चित्र : महासागरीय तल का ढाल स्वरूप

प्र.13. महाद्वीपीय निमग्न ढाल का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

महाद्वीपीय निमग्न ढाल
(Continental Submergent Slope)

महाद्वीपीय चबूतरे के पश्चात् समुद्र की ओर लगभग 180-200 मीटर की गहराई के बाद सागर तल का ढाल बढ़ने लगता है। कुल महासागरीय क्षेत्र का 8.5 प्रतिशत भाग निमग्न ढालों का है। यहाँ तली का ढाल 5° से अधिक होने लगता है। कई स्थानों पर अपवादस्वरूप यह ढाल 60° से अधिक भी हो सकता है, जहाँ पर महासागरीय कन्दराएं पाई जाती हैं। अन्य स्थानों पर यह ढाल 3° से 15° के मध्य या सीढ़ीनुमा भी हो सकता है। द्वीपों के निकट महाद्वीपीय निमग्न ढाल बहुत खड़े होते हैं, जैसे सेण्ट हेलेना के निकट 40° तथा सेण्टपॉल के निकट 62 तक के ढाल मिलते हैं। निमग्न ढालों पर लहरों की क्रियाओं एवं सूर्य के प्रकाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी कारण यहाँ स्थलजात जमाव अथवा वनस्पति नहीं पाई जाती। इनकी गहराई 200 मीटर से लगभग 3,600 मीटर तक रहती है। यह प्रदेश मोटे तौर पर सियाल की निचली परत द्वारा बने होते हैं एवं आगे चलकर सिमा में मिल जाते हैं। यह भाग गम्भीर सागरीय मैदान एवं महाद्वीपीय चबूतरे के मध्य एक कड़ी का काम करते हैं। इन्हें महाद्वीपों को अन्तिम छोर या विस्तार भी कहा जाता है। इनकी चौड़ाई 250 से 400 किमी तक पायी जाती है। कहीं-कहीं इनमें कन्दराएँ भी पाई जाती हैं। यही नहीं, जिन महासागरों में जलमग्न कटक, पहाड़ियाँ या पठारी भाग पाये जाते हैं, वहाँ महाद्वीपीय ढाल का आगे का सिरा पुन: आस-पास के ढाल से ऊपर उठने लगता है और आगे के उभार (rise) या उठे हुए पहाड़ी भाग में मिलने लगता है। महाद्वीपीय निमग्न ढाल का सबसे अधिक क्षेत्रफल अन्ध महासागर में लगभग 15 प्रतिशत, प्रशान्त महासागर में 9.5 प्रतिशत एवं हिन्द महासागर में 8 प्रतिशत तक पाया जाता है।

महाद्वीपीय ढाल की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। भूविज्ञान-वेत्ताओं का विश्वास है कि इन ढालों का विकास भू-विवर्तनिक गतियों के कारण हुआ, जबकि अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि इनका विकास महाद्वीपीय प्रवाह एवं संवहनिक गतियों के समय अपनति (syncline) के विकास एवं लम्बे समय के ज्वालामुखी जमावों से हुआ है।

प्र.14. ज्वार-भाटा के प्रमुख प्रकारों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

उत्तर

ज्वार-भाटा के प्रकार
(Types of Febrile Reflux)

ज्वार-भाटा के कुछ प्रमुख प्रकार निम्न हैं—

1. **वृहत-ज्वार अथवा दीर्घ ज्वार** (Spring Tide)—ज्वार उत्पन्न करने में चन्द्रमा की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, परन्तु सूर्य का प्रभाव भी सहायता करता है। जब सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी तीनों एक ही सीध में होते हैं, तो सूर्य और चन्द्रमा की संयुक्त आकर्षण शक्ति से वृहत अथवा दीर्घ ज्वार उत्पन्न होता है। सूर्य का प्रभाव कम दिखाई देता है, क्योंकि सूर्य पृथ्वी से औसतन 14 करोड़ 85 लाख किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, जबकि चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट स्थित है। सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी एक सीधी रेखा में प्रत्येक पूर्णमासी तथा अमावस्या को होते हैं। इन दोनों दिन वृहत ज्वार की ऊँचाई सामान्य दिवसों की अपेक्षा 20 प्रतिशत अधिक होती है। यह स्थिति प्रत्येक महीने में दो बार होती है। इसी को वृहत अथवा दीर्घ ज्वार (Spring Tide) कहते हैं।

2. **भूमध्यरेखीय व अयनवृत्तीय ज्वार** (Equatorial & Tropical Tide)—सूर्य के समान ही चन्द्रमा की भी भूमध्य रेखा के सन्दर्भ में उत्तरायण व दक्षिणायण स्थितियाँ होती हैं। जहाँ सूर्य की यह स्थिति एक वर्ष में पूर्ण होती है, वहीं चन्द्रमाँ 27.5 दिन में ही पूर्ण कर लेता है। जब चन्द्रमा का उत्तर की ओर झुकाव होता है तो उसकी किरणें कर्क रेखा पर लम्बवत् पड़ती हैं। इससे वहाँ उच्च ज्वार आता है, जो कर्क रेखा के सहारे पश्चिम की ओर अग्रसर होता है। इसके विपरीत स्थित मकर रेखा के सहारे भी उच्च ज्वार आता है। इस प्रकार कर्क तथा मकर रेखाओं के निकट आने वाले क्रमिक ज्वार तथा भाटा असमान ऊँचाई वाले होते हैं अर्थात सामान्य ज्वार भाटे से अधिक ऊँचे व नीचे होते हैं। इसी प्रकार जब चन्द्रमा दक्षिणायण की स्थिति में होता है तो मकर रेखा पर उच्च ज्वार आते हैं। कर्क तथा मकर रेखाओं के पास आने वाले ऐसे ज्वार को अयनवृत्तीय ज्वार (tropical tide) कहते है। प्रत्येक माह में चन्द्रमा भूमध्य रेखा पर दो बार लम्बवत् चमकता है तब ज्वार और भाटे की दैनिक असमानता लुप्त हो जाती है, इसे भूमध्यरेखीय ज्वार (Equatorial tide) कहते हैं।
3. **समीपस्थ तथा दूरस्थ स्थिति ज्वार** (Perigean and Apogean Tide)—चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करते समय जब निकटतम दूरी (3,56,000 किमी) पर होता है, तो अधिक प्रभाव के कारण उच्च ज्वार उत्पन्न होता है, जो सामान्य से 20 प्रतिशत बड़ा होता है। इसे समीपस्थ स्थिति ज्वार (Perigean tide) कहते हैं। इसके विपरीत जब चन्द्रमा पृथ्वी से अधिकतम दूरी (4,07,000 किमी) पर होता है, उस समय ज्वारीय बल न्यूनतम होने से सामान्य से 20 प्रतिशत छोटा ज्वार उत्पन्न होता है। इसे दूरस्थ स्थिति ज्वार (Apogean tide) कहते हैं।
4. **दैनिक व अर्द्धदैनिक ज्वार** (Diurnal and Semidiurnal Tide)—किसी स्थान पर एक दिन में आने वाले एक ज्वार व एक भाटा को दैनिक ज्वार-भाटा कहते हैं। किसी स्थान पर प्रत्येक दिन आने वाले दो ज्वार व भाटे को अर्द्धदैनिक ज्वार कहते हैं। यह दो ज्वार केन्द्रों के कारण आता है।
5. **मिश्रित ज्वार** (Mixed Tide)—किसी स्थान पर आने वाले असमान अर्द्धदैनिक ज्वार को मिश्रित ज्वार कहते हैं, जिनमें दो ज्वार की ऊँचाई तथा भाटे की निम्नता में अन्तर होता है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के कारणों को बताते हुए विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के कारण
(Causes of Origin of Oceanic Currents)

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति व दिशा को प्रभावित करने वाले कारण निम्न हैं—

1. **तापमान में भिन्नता**—समुद्र की सतह पर तापमान में भिन्नता से सागरीय धाराओं की उत्पत्ति होती है। ध्रुवीय क्षेत्रों में ताप में कमी के कारण सागर का जल सिकुड़ता है और नीचे बैठने लगता है। इसकी पूर्ति के लिए विषुवत् रेखीय सागरों से उष्ण और हल्का जल सागरीय सतह पर बहकर ध्रुवों की ओर चलता है। ध्रुवीय क्षेत्रों का ठण्डा और भारी जल सागर की तली में होकर विषुवत् रेखा की ओर बहता है। इस प्रकार तापमान की भिन्नता से सागरीय जल में गति उत्पन्न होती है।
2. **लवणता में भिन्नता**—सागरीय जल की लवणता में भिन्नता के कारण घनत्व में अन्तर आ जाता है। अधिक खारे जल का घनत्व अधिक होने के कारण वह नीचे बैठता है। अत: कम लवणता वाला सागरीय जल अधिक लवणता व घनत्व वाले जल का स्थान लेने के लिए प्रवाहित होता है और महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति होती है। भूमध्य सागर का जल अन्ध महासागर की तुलना में अधिक लवण युक्त है। इसी कारण जिब्राल्टर जलडमरुमध्य से होकर अन्ध महासागर का जल निरन्तर भूमध्य सागर की ओर प्रवाहित होता है। इस प्रकार सागरीय जल के एक-दूसरे में निरन्तर आने-जाने से सागरीय धाराओं की उत्पत्ति होती है।
3. **सागरों में वर्षा और वाष्पीकरण**—जिन महासागरों में सूर्यातप की अधिकता के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है और जल की आपूर्ति कम होती है, उनका जल स्तर कम हो जाता है। इस कमी की पूर्ति के लिए निकट के उन महासागरों से जल की आपूर्ति होती है जहाँ या तो वाष्पीकरण कम होता है अथवा वाष्पीकरण की अपेक्षा जल की आपूर्ति अधिक होने से जल स्तर ऊँचा होता है। इस प्रकार धाराओं का जन्म होता है। भूमध्य सागर में अधिक वाष्पीकरण और कम वर्षा के कारण जल का स्तर निम्न होने से निरंतर अन्ध महासागर से जल की धारा भूमध्य सागर में बहती है।

4. **स्थायी पवनों का प्रभाव**—धरातल पर चलने वाली स्थायी पवनें भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धाराओं को उत्पन्न करने में सहायता करती हैं। विश्व की अधिकांश धाराएँ स्थायी पवनों का ही अनुसरण करती हैं। हिन्द महासागर में चलने वाली सागरीय धाराएँ प्रति चार माह पश्चात् मानसून पवनों की दिशा के अनुरूप अपनी दिशा में परिवर्तन कर लेती हैं। उष्ण कटिबन्ध में सनातन पवनें महासागरों में पश्चिम की ओर चलने वाली धाराएँ उत्पन्न करने में सहायता करती हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध में पछआ पवनें सागरीय जल को पूर्व की ओर प्रवाहित कर धाराएँ उत्पन्न करने में सहायक होती हैं।
5. **ऋतु परिवर्तन**—ऋतु परिवर्तन के कारण महासागरीय धाराओं के क्षेत्र तथा दिशा में परिवर्तन हो जाता है। जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है (ग्रीष्म ऋतु) तब सागरीय धाराओं का प्रवाह क्षेत्र कुछ उत्तर की ओर तथा जब सूर्य दक्षिणायन होता है (शीत ऋतु) तब धाराओं का प्रवाह क्षेत्र कुछ दक्षिण की ओर खिसक जाता है। मानसून पवनों की दिशा पर ऋतु परिवर्तन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म तथा शीत ऋतु में इनकी दिशाएँ बिलकुल विपरीत हो जाती हैं। यही कारण है कि हिन्द महासागर की धाराएँ भी इन ऋतुओं के अनुसार परिवर्तित हो जाती हैं।
6. **पृथ्वी का परिभ्रमण और धाराएँ**—पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा में अपनी अक्ष पर 24 घण्टे में एक चक्कर पूरा कर लेती है। यह परिभ्रमण धाराओं को दो प्रकार से प्रभावित करता है—
   (i) **फेरल के नियम** के अनुसार परिभ्रमण के कारण धाराओं के मार्ग में परिवर्तन हो जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में धाराएँ अपने दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अपने बाईं ओर मुड़ जाती हैं।
   (ii) **अपकेन्द्रीय बल** (Centrifugal Force)—महासागरीय जल अपकेन्द्रीय बल के कारण पृथ्वी के केन्द्र से दूर हटने का प्रयत्न करता है। विषुवत् रेखा पर यह बल ध्रुवों की अपेक्षा अधिक होता है, अत: विषुवत् रेखीय सागरों का जल ध्रुवों की ओर प्रवाहित होता है।
7. **तट रेखा की आकृति**—महाद्वीपों के तट सागरीय धाराओं के मार्ग को परिवर्तित करने में सहायता करते हैं तथा कभी-कभी सागरीय धाराओं की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट पर स्थित साओ रॉक अन्तरीप से दक्षिणी विषुवत् रेखीय धारा टकराकर दो भागों में विभक्त हो जाती है-एक भाग उत्तर की ओर बहकर ट्रिनिडाड के पास उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा से मिल जाता है, तथा दूसरा भाग दक्षिण की ओर पूर्वी ब्राजील तट के साथ-साथ बहता है और ब्राजील धारा की उत्पत्ति होती है।
8. **समुद्री तली की आकृति**—धाराओं की गति व प्रवाह की दिशा पर समुद्री तली की रचना का भी प्रभाव पड़ता है। मध्य अक्षांशों तथा उच्च अक्षांशों में तली का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। समुद्री कटकों या श्रेणियों को जब धाराएँ पार करती हैं तो इनकी दिशा में अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए, अण्टार्कटिक परिध्रुवीय धारा फॉकलैण्ड द्वीप के निकट स्थित अन्त:सागरीय श्रेणी को पार करती है तो तली की आकृति के अनुसार इसकी एक शाखा दक्षिण की ओर मुड़ जाती है।
9. **वायुदाब**—स्थल की भाँति समुद्री सतह पर भी वायुदाब का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वायु के भार से समुद्र जल की सतह दबती है। कम वायुदाब वाले समुद्री क्षेत्र में जल की सतह ऊँची तथा अधिक वायुदाब वाले समुद्री भागों में जल की सतह नीची होती है। फलस्वरूप ऊँची सतह वाले क्षेत्रों से जल नीची सतह वाले भागों की ओर प्रवाहित होता है।

वास्तव में धाराओं की उत्पत्ति व दिशा में परिवर्तन किसी एक कारण से नहीं होता है, अपितु यह विभिन्न कारणों के मिले-जुले प्रभाव का ही परिणाम है।

प्र.2. अन्ध महासागर की धाराओं की मुख्य विशेषताएँ बताते हुए विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

अन्ध महासागर की धाराएँ
(Currents of the Atlantic Ocean)

अन्ध महासागर की धाराओं की मुख्य विशेषता यह है कि विषुवत् रेखा के दोनों ओर (उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर) इन धाराओं का एक समान क्रम पाया जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर में धाराओं की दिशा भी लगभग समान ही पाई जाती है।

उत्तरी अन्ध महासागर की धाराएँ (Currents of the North Atlantic Ocean)

1. **उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा** (North Equatorial Current)—अन्ध महासागर में विषुवत् रेखा के उत्तर में उत्तरी-पूर्वी सनातन पवनों के द्वारा उष्ण जल की धारा पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। यह धारा केरेबियन सागर

में जाकर दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक शाखा पश्चिमी द्वीपसमूह के उत्तर में बहती हुई संयुक्त राज्य अमेरीका के पूर्वी तट पर गल्फस्ट्रीम में मिल जाती है तथा दूसरी शाखा पश्चिमी द्वीपसमूह के दक्षिण में प्रवाहित होकर मेक्सिको की खाड़ी में दक्षिणी संयुक्त राज्य तट का चक्कर लगाकर पूर्व में पुन: गल्फस्ट्रीम में मिल जाती हैं।

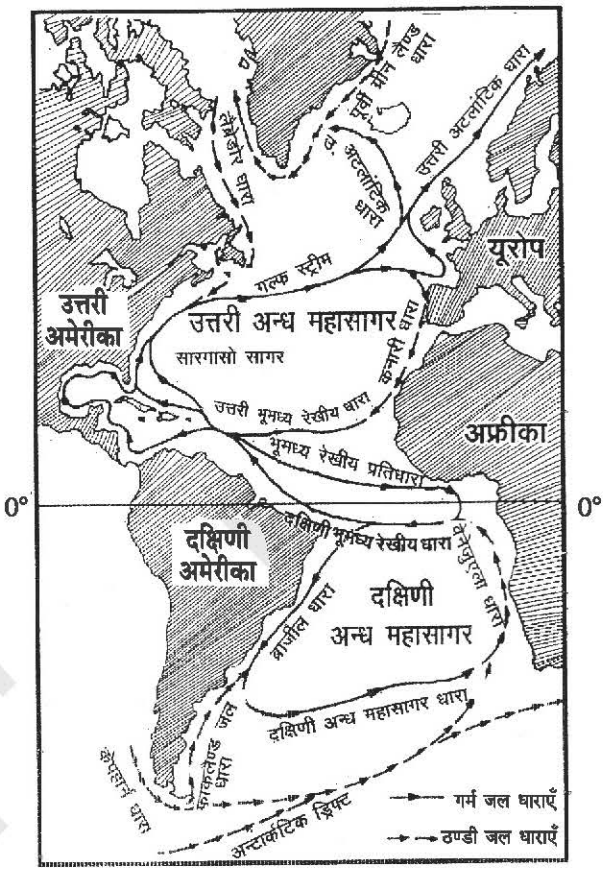

चित्र : अन्ध महासागर की धाराएँ

2. **गल्फस्ट्रीम** (Gulfstream)—इस धारा की उत्पत्ति मेक्सिको की खाड़ी में उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा के जल के पहुँचने से खाड़ी के जल स्तर में वृद्धि हो जाने से होती है। खाड़ी में उत्पत्ति होने के कारण इसे गल्फस्ट्रीम अथवा खाड़ी की धारा कहते हैं। खाड़ी में यह धारा लगभग 1 किलोमीटर गहरी और 48 किलोमीटर चौड़ी होती हैं। इसकी गति लगभग 5 किलोमीटर प्रति घण्टा तथा जल का तापमान 27°C रहता है। यह धारा फ्लोरिडा जल सन्धि से निकलकर संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट पर उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। यहाँ इसमें केरेबियन सागर की ओर से आने वाली धारा एवं दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा का भी जल मिल जाने से यह विश्व की सबसे शक्तिशाली गर्म धारा बन जाती है। कनाडा के पूर्वी तट पर स्थित हैलीफैक्स के दक्षिण में इस धारा का प्रवाह पूर्णत: पूर्व की ओर हो जाता है। यहाँ इस धारा के जल को पछुआ पवनें पूर्व की ओर प्रवाहित करने में सहायता करती हैं। पूर्व की ओर बहते हुए 45° पश्चिमी देशान्तर के निकट इसकी चौड़ाई बहुत अधिक हो जाती है, इस कारण यहाँ इसे उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह (North Atlantic Drift) कहा जाता है। यही प्रवाह उत्तर-पश्चिमी यूरोप के समुद्री तट पर होता हुआ नॉर्वे के तट पर पहुँचकर इसकी उत्तरी शाखा में विलीन हो जाता है। दक्षिणी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर ठण्डी धारा कहलाती है।

3. **कनारी धारा** (Canary Current)—उत्तरी अन्ध महासागर प्रवाह स्पेन के तट के निकट पहुँचकर दो धाराओं में विभक्त हो जाता है। एक शाखा उत्तर की ओर ग्रेट ब्रिटेन के पश्चिमी और उत्तरी तट पर बहती हुई उत्तरी ध्रुव सागर की ओर बढ़ जाती है, किन्तु दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर कनारी द्वीपों के निकट तथा अफ्रीका के पश्चिमी तट पर प्रवाहित होती हुई उत्तर-पूर्वी व्यापारिक पवनों के प्रभाव के कारण उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाती है। यह ठण्डे पानी की धारा है।

इस प्रकार पूर्व में कनारी धारा, पश्चिम में गल्फस्ट्रीम और दक्षिण में उत्तरी भूमध्यरेखीय धाराओं द्वारा एक चक्र निर्मित होता है, जिससे घिरा शान्त जल का क्षेत्र सारगासो सागर कहलाता है। सारगासो (Sargasso) पुर्तगाली भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'समुद्री घास' होता है। इस क्षेत्र में समुद्री घास इतनी अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाती है कि इसे भ्रम से स्थल भाग समझ लिया जाता है, जैसा कोलम्बस ने अपनी यात्रा के समय समझ लिया था।

4. **लेब्रेडोर धारा** (Labrador Current)—यह धारा उत्तरी ध्रुव सागर से आने के कारण ठण्डी जल धारा है, जो ग्रीनलैण्ड के पश्चिम में बेफिन की खाड़ी में होकर न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट गल्फस्ट्रीम में मिल जाती है। इन ठण्डी और गर्म धाराओं के मिलने से न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट गहरा कुहरा छाया रहता है। इस ठण्डी धारा में ग्रीनलैण्ड एवं बेफिन द्वीप से आकर मिलने वाली हिमशिलाएँ यहाँ के नौवहन पर बुरा प्रभाव डालती हैं।

दक्षिणी अन्ध महासागर की धाराएँ (Currents of the South Atlantic Ocean)

1. **दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा** (Southern Equatorial Current)—अन्ध महासागर की प्रमुख धाराओं में दक्षिणी भूमध्यरेखीय गर्म धारा भी है। यह उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा से अधिक प्रबल व स्थायी है। यह धारा दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक पवनों के कारण उत्पन्न होती है। इस धारा की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर रहती है। इसका वेग तीव्र है। यह केप साओ रॉक अन्तरीप पर दो भागों में बँट जाती है। उत्तरी पश्चिमी शाखा ट्रिनिडाड के पास उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा में मिल जाती है। दक्षिणवर्ती धारा ब्राजील की गर्म धारा कहलाती है।
2. **प्रति-विषुवत्रेखीय धारा** (Counter Equatorial Current)—उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्यरेखीय धाराएँ जब संयुक्त राज्य तथा दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तटों पर टकराती हैं तो इन धाराओं का कुछ जल पुन: विषुवत् रेखा के शान्तखण्ड में पूर्व की ओर अफ्रीका के गिनी तट की ओर प्रवाहित होता है, इसे ही विपरीत अथवा प्रति-भूमध्यरेखीय धारा कहते हैं। यह जल सन्तुलन का भी काम करती है। इसे मिनी धारा भी कहते हैं।
3. **ब्राजील की गर्म धारा** (Brazil Warm Current)—दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट पर साओ रॉक अन्तरीप से टकराकर दो भागों में विभाजित हो जाती है। एक शाखा तट के सहारे उत्तर की ओर चली जाती है तथा दूसरी ब्राजील के तट के सहारे दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। दक्षिण की ओर प्रवाहित होने वाली गर्म जल की धारा ही ब्राजील धारा कहलाती है। इस धारा का जल 40° दक्षिण अक्षांश के निकट पहुँचकर फॉकलैण्ड की धारा में मिल जाता है तथा यह प्रवाह के रूप में पश्चिम से पूर्व दिशा में बहने लगता है।
4. **फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा** (Falkland Cold Current)—यह दक्षिणी अन्ध महासागर में पश्चिम से पूर्व की ओर चलने वाली ठण्डी धारा है। दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी छोर से टकराने पर इसकी एक शाखा फॉकलैण्ड के पूर्व में अर्जेण्टीना के तट के सहारे उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। इस धारा को फॉकलैण्ड की धारा कहा जाता है। यह 30° दक्षिणी अक्षांश तक जाती है। अण्टार्कटिका प्रवाह का अंश होने के कारण इस धारा का जल अत्यन्त ठण्डा रहता है। दूसरी शाखा पछुआ पवन प्रवाह (वेस्टविण्ड ड्रिफ्ट) के नाम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है।
5. **बेंगुएला धारा** (Benguela Current)—दक्षिणी ध्रुव वृत्तीय धारा का कुछ जल पृथ्वी की दैनिक गति के कारण थोड़ा-सा उत्तर की ओर मुड़ जाता है। यह जल धारा दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट से टकराकर अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। इस धारा को बेंगुएला की ठण्डी धारा कहते हैं। इसमें ब्राजील की गर्म धारा तथा फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा के जल के मिल जाने से इसका जल न अधिक ठण्डा और न अधिक गर्म रहता है। उत्तर की ओर गिनी तट के निकट यह पश्चिम की ओर मुड़ जाती है और दक्षिण विषुवत् धारा में मिल जाती है।
6. **अण्टार्कटिका प्रवाह** (Antarctica Drift)—यह प्रवाह दक्षिणी ध्रुव सागर में पछुआ पवनों के कारण पश्चिम से पूर्व की ओर चलता है। इसे पछुआ पवन प्रवाह भी कहते हैं। यह ठण्डा प्रवाह है। यह स्थलखण्ड के अभाव में दहाड़ता पचासा पवनों के साथ बड़े वेग से बहता है। दक्षिणी भाग में इसमें हिमखण्ड भी बहते रहते हैं।

प्र.3. प्रशान्त महासागर की धाराओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर

प्रशान्त महासागर की धाराएँ
(Current of the Pacific Ocean)

अन्ध महासागर की तुलना में प्रशान्त महासागर का विस्तार अधिक होने तथा तटवर्ती प्रदेशों के आकार में भिन्नता के कारण इस महासागर की धाराओं के क्रम में भी भिन्नता पाई जाती है।

उत्तरी प्रशान्त महासागर की धाराएँ (Currents of the North Pacific Ocean)

1. **उत्तरी भूमध्य रेखीय गर्म धारा** (North Equatorial Warm Currents)—मध्य अमेरिका के पश्चिमी तट के सागरीय क्षेत्रों से पश्चिम की ओर पूर्वी द्वीपसमूह तक यह धारा प्रवाहित होती है। विषुवत्रेखीय प्रदेश में उत्पन्न होने और बहने के कारण यह गर्म जल की धारा है। उत्तर-पूर्वी व्यापारिक पवनों के प्रभाव में यह पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। फिलीपीन द्वीपसमूह के निकट यह दो भागों में विभाजित हो जाती है। इसकी एक शाखा उत्तर की ओर प्रवाहित होकर ताइवान द्वीप तक पहुँचती है, जो उत्तर की ओर आगे जाने पर क्यूरोसिवो धारा कहलाती है। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर अपनी दिशा पूर्व की ओर कर लेती है और यह प्रति-विषुवत्रेखीय धारा कहलाती है। पृथ्वी की वार्षिक गति तथा

सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायण होने से उत्तरी विषुवतरेखीय धारा की दक्षिणी सीमा में अक्षांशीय परिवर्तन होता है। शीतकाल में इसकी उत्तरी सीमा 5° उत्तरी अक्षांश तथा ग्रीष्म काल में 10° उत्तरी अक्षांश रहती है।

2. **क्यूरोसिवो धारा** (Kuroshivo Current)—यह एक गर्म जल की धारा है, जो अन्ध महासागर की गल्फस्ट्रीम धारा के अनुरूप एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट पर प्रवाहित होती है। उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा स्थायी पवनों के प्रवाह से जहाँ उत्तर की ओर मुड़ जाती है, वहीं से यह धारा उत्पन्न होती है। दक्षिणी मध्य चीन के तट के सहारे-सहारे प्रवाहित होती हुई रिक्यू द्वीपों के निकट पछुआ पवनों के प्रभाव क्षेत्र में आने से पूर्व ही यह धारा पूर्व की ओर मुड़ जाती है।
जब क्यूरोसिवो धारा जापान के निकट पहुँचती है तब इसका रंग गहरा नीला होने के कारण इसे जापानी लोग काली धारा (Black Stream of Japan) कहते हैं। जापान के दक्षिणी सागर में यह दो भागों में विभाजित हो जाती है। एक धारा जापान के पश्चिम में बहती है और दूसरी शाखा जापान के पूर्वी तट के सहारे बहती हुई क्यूराइल द्वीपों तक पहुँचती है। यहाँ से यह धारा पूर्व की ओर प्रवाहित होकर उत्तरी प्रशान्त प्रवाह कहलाती है। जापान के पश्चिमी तट पर बहने वाली शाखा को सुशिमा धारा कहते हैं, जो आगे चलकर क्यूराइल ठण्डे पानी की धारा से मिल जाती है।
उत्तरी प्रशान्त प्रवाह बेन्कूवर द्वीप के निकट दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक शाखा उत्तर की ओर अलास्का तट के सहारे-सहारे बहती हुई पुन: पश्चिम की ओर मुड़कर उत्तरी प्रशान्त प्रवाह में मिल जाती है। इस उत्तरी शाखा को अलास्का की गर्म धारा कहते हैं। दक्षिण की ओर बहने वाली दूसरी शाखा कैलिफोर्निया की ठण्डी धारा कहलाती है।
3. **क्यूराइल धारा** (Kurile Current)—जिस प्रकार उत्तरी अन्ध महासागर में लेब्रेडोर की धारा है, उसी प्रकार उत्तरी प्रशान्त महासागर में क्यूराइल की धारा है। यह धारा बेरिंग जलसन्धि से होकर प्रशान्त महासागर में साइबेरिया के पूर्वी तट पर प्रवाहित होती है। क्यूराइल द्वीपों के पूर्वी तट पर प्रवाहित होने के कारण इसे क्यूराइल की ठण्डी धारा कहते हैं। इसे ओयासीवो धारा (Oyashio Current) भी कहते हैं। जापान के पूर्व में जब यह क्यूरोसिवो धारा से मिलती है तो वहाँ घना कुहरा छा जाता है।
4. **कैलिफोर्निया की धारा** (California Current)—यह उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर उत्तर से दक्षिण की ओर चलने वाली ठण्डे जल की धारा है। यह धारा उत्तरी प्रशान्त प्रवाह का अधिकांश जल लेकर दक्षिण की ओर बहती हुई कैलिफोर्निया के तट तक जाती है, इसी कारण इस धारा को कैलिफोर्निया की ठण्डी धारा कहते हैं। यह विषुवत् रेखा के उत्तर में पश्चिम की ओर मुड़कर उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर की धाराएँ (Currents of the South Pacific Ocean)

1. **प्रति-भूमध्यरेखीय धारा** (Counter Equatorial Current)—अन्ध महासागर में जो स्थिति प्रति-भूमध्य रेखीय धारा की है उसी प्रकार की स्थिति प्रशान्त महासागर में इस धारा की है। यह धारा पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। प्रशान्त महासागर में इस धारा के चलने के दो कारण हो सकते हैं—
   (i) उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्यरेखीय धाराएँ जब पश्चिम की ओर प्रवाहित होती हैं तब फिलीपीन द्वीपसमूह और न्यूगिनी द्वीप से टकराकर अपने दाएँ और बाएँ घूम जाती है। दोनों धाराओं का अन्दर की ओर घूमा हुआ जल प्रति-भूमध्यरेखीय धारा के रूप में पूर्व की ओर बहता हुआ मध्य अमेरिका के तट तक पहुँचता है।
   (ii) स्थायी पवनों द्वारा एकत्रित जल पूर्व की ओर एक सामान्य ढाल की तरह प्रवाहित होने लगता है और मध्य अमेरिका के तट तक जाता है। इस प्रकार यह धारा जल सन्तुलन का काम करती है।
2. **दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा** (South Equatorial Current)—यह गर्म जल की धारा है जो दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक पवनों के कारण उत्पन्न होती है। यह धारा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट से पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। न्यूगिनी द्वीप के पूर्व में यह दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है। दक्षिण की शाखा ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर प्रवाहित होती है जिसे पूर्वी ऑस्ट्रेलियन धारा कहते हैं। उत्तरी शाखा घूमकर प्रति विषुवत्रेखीय-धारा में सम्मिलित हो जाती है।
3. **पूर्वी ऑस्ट्रेलियन धारा** (East Australian Current)—न्यूगिनी द्वीप के निकट दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा की एक शाखा दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है, इसी धारा को पूर्वी ऑस्ट्रेलियन धारा कहते हैं। यह ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर प्रवाहित होने वाली गर्म जल की धारा है जो 40° दक्षिणी अक्षांश के निकट पहुँचने पर पछुआ पवनों के प्रभाव से पूर्व की ओर मुड़कर वेस्ट विण्ड ड्रिफ्ट (पश्चिमी पवन प्रवाह) के साथ मिलकर दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट तक जाती है।
4. **हम्बोल्ट अथवा पीरू की धारा** (Hambolt or Peruvian Current)—अण्टार्कटिक धारा अथवा पश्चिमी पवन प्रवाह का जल दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर में विषुवत् रेखा तक बहकर जाता है और दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाता है। इस ठण्डी जल धारा का हम्बोल्ट ने विस्तृत अध्ययन किया था।

5. **अण्टार्कटिक प्रवाह** (Antractic Current)—प्रशान्त महासागर में अण्टार्कटिक सागर का ठण्डा जल पवनों की सहायता से पूर्व की ओर प्रवाहित होता है। यह प्रशान्त, अन्ध और हिन्द महासागर की सम्मिलित धारा है। पछुआ पवनों द्वारा उत्पन्न होने के कारण इस धारा को पछुआ पवन प्रवाह (West Wind Drift) भी कहते हैं।

प्र.4. ज्वार-भाटा की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं की समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा इसका विस्तृत वर्णन दीजिए।

उत्तर

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाएँ
(Hypotheses about the Origin of Febrile Reflux)

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक विद्धानों ने अपनी परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। वर्तमान में तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हैं—

1. **सन्तुलन सिद्धान्त** (Equilibrium Theory)—न्यूटन ने 1687 में अपने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के आधार पर सन्तुलन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अनुसार गतिशील पृथ्वी पर दो बल एक साथ कार्य करते हैं—गुरुत्वाकर्षण बल तथा केन्द्रोपसारी बल।

   पृथ्वी का चन्द्रमा के ठीक सामने वाला भाग केन्द्र की अपेक्षा 6,400 किमी तथा इसके विपरीत दिशा वाला भाग 12,800 किमी दूर स्थित होता है। जो भाग चन्द्रमा के निकट स्थित होता है, उस पर उसकी आकर्षण शक्ति का प्रभाव अधिक पड़ता है। स्थल एवं जल पर आकर्षण शक्ति का प्रभाव भिन्न होता है। पृथ्वी का जो भाग चन्द्रमा के सामने पड़ता है, उसका जल आकर्षण शक्ति के कारण ऊपर की ओर उठ जाता है। पृथ्वी के विपरीत भाग में भी इसी प्रकार जल ऊपर उठता है, किन्तु इसका कारण पृथ्वी का केन्द्रोपसारी बल होता है।

   केन्द्रोपसारी बल पृथ्वी के प्रत्येक भाग पर समान रूप से पड़ता है, किन्तु चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति का प्रभाव उसके निकटतम भाग पर सर्वाधिक पड़ता है। इसी कारण पृथ्वी पर चन्द्रमा के निकट वाले सागरों में सर्वाधिक ज्वार की उत्पत्ति होती है। चन्द्रमा के विमुख वाले पृथ्वी के भाग में केन्द्रोपसारी बल के कारण जल विपरीत दिशा में खिंचता है, किन्तु इसकी ऊँचाई कम होती है। इस प्रकार एक ही समय में पृथ्वी के तल पर दो ज्वार की उत्पत्ति होती है। एक ज्वार आकर्षण बल के अधिक होने तथा दूसरा केन्द्रोपसारी बल के कारण आता है, ताकि उनमें सन्तुलन बना रहे।

   आलोचना—(i) महासागरों में ज्वार एक लहर के रूप में उत्पन्न होता है और यदि पृथ्वी के धरातल पर जल ही जल होता तो इस सिद्धान्त के क्रियाशील होने की कल्पना की जा सकती थी, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। धरातल पर जल और थल का असमान वितरण है इसलिए ज्वार लहरें चन्द्रमा के साथ पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए प्रत्येक देशान्तर पर समान रूप से उत्पन्न नहीं होती। इन ज्वारीय लहरों के विस्तार एवं दिशा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

   (ii) सिद्धान्त में बताया गया है कि ज्वार के समय जल में जो लहरें उठती हैं, पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होती हैं। इस आधार पर प्रत्येक देशान्तर पर ज्वार का समय एक ही होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है।

   (iii) सागर की गहराई समस्त भागों में समान नहीं है, अत: गहराई में भिन्नता के कारण तथा मार्ग में बाधा आने के कारण ज्वारीय लहरों को पृथ्वी का पूरा चक्कर लगाने के लिये वांछित परिकलित समय से अधिक समय लग जाता है।

   (iv) समुद्रों में ज्वार-भाटा के अतिरिक्त अन्य कई गतियाँ होती है, जो ज्वारीय लहर की प्रगति में बाधक होती है।

   सिद्धान्त की कमियों को देखते हुये गुरुत्वाकर्षण बल के आधार पर ज्वार-भाटा की उत्पत्ति की व्याख्या त्रुटिपूर्ण मानी गई।

2. **प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त** (Progressive Wave Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन विलियम हेवेल ने 1833 में किया था। इसके अनुसार किसी भी देशान्तर के चन्द्रमा के सामने होने पर उस देशान्तर पर स्थित सभी स्थानों पर ज्वार का समय एक समान होना चाहिए। परन्तु वास्तविक रूप में ऐसा नहीं होता है, क्योंकि पृथ्वी पर समस्त भाग पर जल नहीं है, इसके बीच-बीच में स्थलखण्ड पाए जाते हैं। यदि सभी जगह जल होता तो चन्द्रमा द्वारा उत्पन्न की गई ज्वार लहर ठीक चन्द्रमा की गति के अनुरूप पूर्व से पश्चिम दिशा में निरन्तर चला करती। स्थलखण्डों के कारण जल की गति को अवरोध का सामना करना पड़ता है। दक्षिणी ध्रुव सागर में स्थल की कहीं रुकावट नहीं है, अतएव यहाँ चन्द्रमा का आकर्षण सर्वाधिक होता है। इस आकर्षण से सागर में जो ज्वार लहर उत्पन्न होती है वह ठीक चन्द्रमा की गति का अनुसरण करती है। लगभग 180 देशान्तर के समीप यह लहर दो भागों में विभाजित हो जाती है और चन्द्रमा के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती है। जब यह तरंगें उत्तमाशा अन्तरीप पर पहुँचती हैं, तो एक गौण तरंग उत्पन्न हो जाती है जो अन्ध महासागर के तट के साथ-साथ आगे बढ़ती है। अन्ध महासागर के तट पर ज्वार का निर्धारण इसी लहर द्वारा होता है। अन्ध महासागर तथा प्रशान्त महासागर में भी इसी प्रकार की लहरें बन जाती हैं जो बाद में ज्वार उत्पन्न

करती हैं। प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के अनुसार यही ज्वार लहरें अपनी प्रगति के साथ-साथ ज्वार-भाटा संसार के विभिन्न भागों तक ले जाती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से सागर में प्रधान ज्वार लहर की उत्पत्ति होती है, इससे निकलने वाली शाखाएँ गौण लहरें कहलाती हैं। प्रधान लहरों की गति चन्द्रमा के अनुसार होती है, किन्तु गौण लहरें स्वतन्त्र रूप से आगे की ओर बढ़ती हैं।

इस सिद्धान्त को प्रारंभ में काफी मान्यता दी गई, किन्तु कालान्तर में इसके सम्बन्ध में अनेक आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं—

(i) प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के अनुसार ज्वारीय तरंगें दक्षिणी महासागर में उत्पन्न होती हैं। वहाँ से अपनी गौण लहरें उत्तरी महासागरों को भेजती हैं, अत: ज्वार की आयु उत्तरी महासागरों में कम होनी चाहिए। वास्तविकता यह है कि ज्वार की आयु दक्षिणी सागरों से उत्तरी सागरों की ओर बढ़ती जाती है।

(ii) वृहत ज्वार का समय हार्न अन्तरीप से ग्रीनलैण्ड तक एक ही है, जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसमें ज्वार आने का समय दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ना चाहिए क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वार तरंगें दक्षिणी महासागर में जन्म लेती हैं और उत्तरी सागर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसा नहीं है।

(iii) ज्वार-भाटा के प्रकारों की भिन्नता के आधार पर भी इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है। उत्तरी अन्ध महासागर और उत्तरी प्रशान्त महासागर में एक ही अक्षांश पर दैनिक तथा अर्द्ध-दैनिक ज्वारीय तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं जबकि प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त में इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।

(iv) इस सिद्धान्त के विपरीत उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर में एक ही समय में दो-दो भागों पर उच्च ज्वार की उत्पत्ति देखी जाती है, इससे यह प्रकट होता है कि प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त अपने में पूर्ण नहीं है।

(v) ज्वार की उत्पत्ति को दक्षिणी सागर तक सीमित मान लेना तथा फिर ज्वार का उत्तर की ओर अग्रसर होना व्यावहारिक नहीं लगता है।

3. **स्थायी तरंग सिद्धान्त** (Stationary Wave Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान हैरिस ने किया है। इसके अनुसार ज्वारीय लहर स्थायी होती है और उसी के द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्वार आते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न सागरों में भिन्न-भिन्न स्थायी तरंगें होती हैं। स्थायी तरंग सिद्धान्त प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के विपरीत है। इसके अनुसार महासागरों में ज्वार-भाटा स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं। हैरिस ने इस सिद्धान्त को दोलन क्रिया के एक प्रयोग द्वारा स्पष्ट किया। यदि एक आयताकार बर्तन में जल भरकर उसके एक किनारे को हिला दिया जाए तो उसके एक ओर की जल की सतह ऊपर उठ जाएगी तथा दूसरी ओर की नीची हो जाएगी। इस कारण जल में दोलन प्रारम्भ हो जाएगा, जिसे स्थाई तरंग कहते हैं। बर्तन के मध्य में एक ऐसा केन्द्र होगा जहाँ पर जल तल में कोई अन्तर नहीं आएगा। इसे केन्द्रीय बिन्दु कहा गया। बर्तन के जल तल में परिवर्तन एक सीधी रेखा के सहारे होता है।

हैरिस ने बताया कि पृथ्वी पर विभिन्न महासागर जल से भरे हुए बर्तन के समान हैं। चन्द्रमा के ज्वारीय बल के कारण महासागरीय जल में दोलन प्रारम्भ होता है, किन्तु यह एक रेखा के सहारे न होकर केन्द्र के चारों ओर होता हैं। इस बिन्दु पर जल तल समान व शान्त होता है, किन्तु इसके चारों ओर कई तरंगे चक्कर लगाती हैं। ऐसी क्रिया सभी महासागरों में होती है। ऐसे भंवर बिन्दुओं से कई स्थाई तरंगें उठती हैं। जब ये तरंगे तट की ओर अग्रसर होती हैं तो द्वीप, प्रायद्वीप व खाड़ियों द्वारा अवरोध उत्पन्न होता है। इन तरंगों के तट पर पहुँचने पर शृंग के कारण ज्वार तथा द्रोणी के कारण भाटा आता है। हैरिस ने निष्कर्ष निकाला कि जितना अधिक गहरा महासागर होगा उतनी ही ऊँची स्थायी तरंग होगी। इसके विपरीत, कम गहराई वाले सागरों में स्थायी तरंग कम ऊँचाई वाली होगी। इस प्रकार हैरिस ने विभिन्न महासागरों में ज्वार तथा समय में भिन्नता को स्पष्ट किया है। प्रत्येक महासागर में चन्द्रमा और सूर्य की ज्वारीय शक्ति भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए ज्वार में भी जटिलताएँ एवं भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

प्र.5. महासागरीय निक्षेप को परिभाषित करते हुए महासागरों की विविध गहराइयों में पाए जाने वाले पदार्थों को स्रोत के आधार पर किन वर्गों में विभाजित किया गया है? इसका विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

महासागरीय निक्षेप
(Oceanic Deposits)

समुद्र तली पर एकत्रित होने वाले समस्त पदार्थों को सागरीय निक्षेप कहते हैं। ये प्राय: तलछट के रूप में होते हैं। समुद्री निक्षेप विभिन्न साधनों से प्राप्त होते हैं। इनमें नदियाँ, लहरें, पवन, हिमनद आदि अपरदनकारी शक्तियों द्वारा परिवहित करके लाए गए अवसाद, ज्वालामुखी उद्‌गार से निसृत पदार्थ, समुद्री प्राणी व वनस्पति अवशेष आदि प्रमुख हैं।

महासागरीय जल में जो भी पदार्थ आते हैं, वे अपने गुण के अनुसार डूबकर या घुलकर उसमें जमा होते रहते हैं। मोटे कंकड़-पत्थर व रोड़े शीघ्र लुढ़ककर या डूबकर सागर की पेंदी में व तट के निकट एवं बालू कुछ अधिक दूरी पर लहरों के प्रभाव से फैलकर जमा हो जाता है। इसी भाँति चिकनी मिट्टी, रसायन पदार्थ, गाद (silt) एवं अन्य घुले हुए तत्त्व सैकड़ों किमी की दूरी तक फैल जाते हैं। ऐसे पदार्थों की प्राप्ति मुख्यत: स्थल से होती है। जबकि गहरे महासागरों के तल पर असंख्य लघु जीवों के कार्बनिक अवशेषों के जमा होने से विशेष प्रकार के जमाव पाए जाते हैं। इसी भाँति महासागरीय तली पर, जल में विविध पदार्थों से होने वाली रासायनिक क्रिया, लोहा ऑक्साइड की गाद, ज्वालामुखी उदगार से प्राप्त विशेष मिट्टी आदि जमा होती रहती है। कहीं-कहीं बड़ी मछलियों एवं जल जीवों की कठोर हड्डियाँ एवं कॉस्मिक धूल जैसे पदार्थ भी महासागरों की तली में पाए जा सकते हैं। निक्षेपों का सर्वप्रथम अध्ययन सर जॉन मरे ने किया था।

महासागरों की विविध गहराइयों में पाए जाने वाले पदार्थों को स्रोत के आधार पर निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

1. **स्थलजात निक्षेप** (Terrigenous Deposits)—अनाच्छादन के साधनों (नदी, पवन, हिमानी, लहरें आदि) द्वारा भूमि से महासागरों के अपतटीय भागों में प्रति वर्ष अरबों टन पदार्थ जमा होता रहता है। स्थल से प्राप्त होने के कारण इसे स्थलजात पदार्थ कहते हैं। अकेले नदियों द्वारा ही प्रति वर्ष लगभग 4,000 करोड़ टन ठोस पदार्थ सागर तली पर जमा किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त इसका दस से बारहवाँ हिस्सा अर्थात् 300 से 400 करोड़ टन पदार्थ रासायनिक घोल की अवस्था में समुद्री जल में प्रवेश कर अन्तत: जमा होते रहते हैं। इन स्थलजात पदार्थों को उनके भारीपन व आकृति के अनुसार निम्न उपवर्गों में बाँट सकते हैं—
   (i) **गोलाश्म व बालू** (Sand and Boulders)—बालू या महीन रेत से लेकर 6-8 सेमी व्यास वाले गोलाश्म तट के निकट एवं लहरों के प्रभाव से 2-3 किमी की दूरी तक तथा कभी-कभी तूफानी लहरों के प्रभाव से 30 से 50 किमी की दूरी तक पाए जा सकते हैं। तट के निकट मोटे कण के पदार्थ या गोलाश्म (boulders) जमा होते हैं। शान्त तटीय सागरों में ऐसे जमावों की पेटियाँ लम्बवत् एवं अशान्त सागर में गतिशील जल के कारण क्षैतिज पाए जाते हैं। महीन बालू, चीका व अन्य रासायनिक गाद से मिलकर ये सभी पदार्थ दबाव व गर्मी बढ़ने के साथ-साथ कालान्तर में चट्टानों के रूप में बदलते जाते हैं।
   (ii) **गाद एवं मृत्तिका** (Silt and Clay)—यह मध्यम से महीन कण वाले पदार्थ होते हैं। इनके कणों की तुलना चिकनी एवं दोमट मिट्टी से की जा सकती है। इनका व्यास 1/32 मिमी से लेकर 1/8000 मिमी तक कुछ भी हो सकता है। महाद्वीपीय मग्न तट पर दूर-दूर तक इनके जमाव पाए जाते हैं। इनके साथ प्राय: रासायनिक पदार्थ भी घुल जाते हैं। अत: यह सागर तल पर चिकनी दलदली मिट्टी की भाँति जमा होते हैं। प्राय: ऐसे ही जमावों से परतों के रूप में अवसादी चट्टानें ठोस व कठोर रूप धारण करती रहती हैं। इनमें सिलिका, फेल्स्पार, क्वार्ट्ज, अभ्रक जैसी चट्टानों के महीन कण विशेष रूप से पाए जाते हैं।
   (iii) **रासायनिक यौगिक एवं पंक** (Chemical Compound and Mud)—नदियों में चूना, लवण, क्षार, लोहा, गन्धक व अन्य तत्त्वों के यौगिक घुली हुई अवस्था में महासागरीय जल में मिलते रहते हैं। भूतल के अनेक प्रकार के धातु व अधातु खनिजों के घोल भी थोड़ी-बहुत मात्रा में महासागरीय जल में घुले रहते हैं, यही रासायनिक घोल या यौगिक कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ महाद्वीपीय चबूतरे के साथ-साथ महाद्वीपीय ढालों पर भी 200 से 2,000 मीटर की गहराई तक पाए जा सकते हैं।

   इसके अतिरिक्त अत्यधिक महीन कण वाले रासायनिक पदार्थ सागर जल से रासायनिक क्रिया करके विविध रंगों वाली पंक का जमाव, सुदूर सागरों एवं अगाध सागरीय मैदानों में करते रहते हैं। इनमें अधिकतर चूना, सिलिकेट एवं लोहा ऑक्साइड के घुले हुए पदार्थ होते हैं। ऐसी पंक प्राय: नीले, लाल व हरे रंग में मिलती है—

   (अ) **नीला पंक**—यह अधिकतर ठण्डे सागरों में पायी जाती है। इसमें थोड़ी मात्रा में लोहे का सल्फाइड, स्फटिक, चूने के अंश, चीका एवं जैविक तत्त्वों के अपघटित पदार्थ पाए जाते हैं। इसका विस्तार दक्षिणवर्ती हिन्द महासागर, दक्षिणी अन्ध महासागर एवं आर्कटिक महासागर में तट से 200 से 800 किमी तक की दूरी पर पाया जाता है।

   (ब) **लाल पंक**—इसमें लोहे का ऑक्साइड अधिक होने से इसका रंग लाल होता है। इसके अतिरिक्त इसमें चूना भी मिलता है। इसका विस्तार मुख्यत: पीला सागर व ब्राजील तट के निकट तथा अन्ध महासागर में कहीं-कहीं पाया जाता है।

   (स) **हरा पंक**—नीले रंग की पंक का रासायनिक विघटन होने से यह पंक बनती है। यह पंक सिलिका, पोटैशियम, लौह ऑक्साइड, लौह सिलिकेट, चूना एवं अणुमय जीवांशों के अपघटित पदार्थों का जटिल यौगिक स्वरूप है। इस पंक

में संवेदनशीलता बहुत अधिक होती है। अत: तट से दूर शान्त सागरीय प्रदेशों में सागर की तली पर ही यह जमा हो पाती है। इसका जमाव उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त व अन्ध महासागरीय शान्त तटों पर, उत्तमाशा अन्तरीप एवं जापान सागर तथा पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया तट से कुछ दूरी पर पाया जाता है। तट के निकट अन्य स्थलजात जमावों की अधिकता के कारण भी हरा पंक प्राय: अदृश्य हो जाता है।

3. **ज्वालामुखी निक्षेप** (Volcanic Deposits)—महासागरीय तली में एवं तटवर्ती द्वीपों पर सक्रिय ज्वालामुखी उद्‌गारों से निकली धूल, राख एवं दलदल महासागरों को प्राप्त होते रहते हैं। ऐसे जमाव सभी सक्रिय ज्वालामुखी के निकटवर्ती सागरों में, पश्चिमी प्रशान्त में दूर-दूर तक, भूमध्य सागर एवं पश्चिमी व पूर्वी द्वीपसमूह में बीच-बीच में सागर तल पर पाए जाते हैं। इनका जमाव प्राय: भूरा या लाल रंग का होता है। कभी-कभी यह नीले पंक के समान भी पाए जा सकते हैं। अपघटित होने पर यह लाल मृत्तिका की भाँति भी पाए जाते हैं।
4. **धात्विक निक्षेप** (Metallic Deposits)—पिछले दशकों में महासागरों की तली एवं अगाध महासागरीय बेसिनों के विशेष जमावों की जो खोज अत्याधुनिक संवेदनशील तकनीक से की गई, उसी आधार पर सभी महासागरों के बेसिनों में कहीं-कहीं गाद के रूप में संग्रथित धात्विक जमाव (Nodular metallic deposits) पाए गए हैं। अर्द्धोष्ण एवं उष्ण सागरों के बेसिनों में ऐसे धात्विक जमाव अनेक बेसिनों की तली पर खोजे जा चुके हैं। इनका जमाव घनत्व साम्यता, धात्विक समरूपता व उसमें होने वाली समान रासायनिक क्रिया के आधार पर सागर तल पर होता रहता है। अभी तक ताँबा, सीसा, जस्ता, लोहा आदि के विशिष्ट स्थानिक जमाव केन्द्रों का पता चल सका है।
5. **कठोर जीवावशेष** (Niretic Deposits)—महासागरों की तली में विशालकाय ह्वेल, डाल्फिन, सील, वालरस व अन्य बड़े जीवों के मरने से उनके कठोर हिस्से दूर-दूर बिखरे पड़े मिलते हैं। यह सामान्यत: रीढ़ की हड्डी, खोपड़ी, दांत एवं इसी प्रकार के कठिनाई से घुलने वाले पदार्थ होते हैं। ऐसे हिस्से सागर जल में भी सरलता से नहीं घुल पाने के कारण हजारों वर्षों तक सुरक्षित रह सकते हैं। इनके जमाव सभी महासागरों में दूर-दूर तक बिखरे हुए पाए जा सकते हैं।
6. **गम्भीर सागरीय जमाव** (Pelagic Deposits)—यह जमाव अधिकांश महासागरीय बेसिनों एवं गहरे सागरों के तल पर दूर-दूर तक पाए जाते हैं। वास्तव में यह सागर जल की ऊपरी सतह पर विकसित असंख्य अणुमय या लघुरूप वाले जीवों के निरन्तर मरने के पश्चात् जमा होने वाले जीवावशेष एवं उनके अपघटित रूप हैं। अत: इन्हें कार्बनिक या जैविक (Organic or Biogenic) जमाव या ऊज (Ooze) भी कहते हैं। यह जमाव सागर तल पर हल्के दलदल की भाँति होते हैं, अत: इन्हें पंक कहा गया है। यह सभी गहरे सागरों की तली पर पाए जाते हैं। फिलिप लेक के अनुसार गम्भीर सागरीय जमाव निम्न प्रकार के होते हैं—

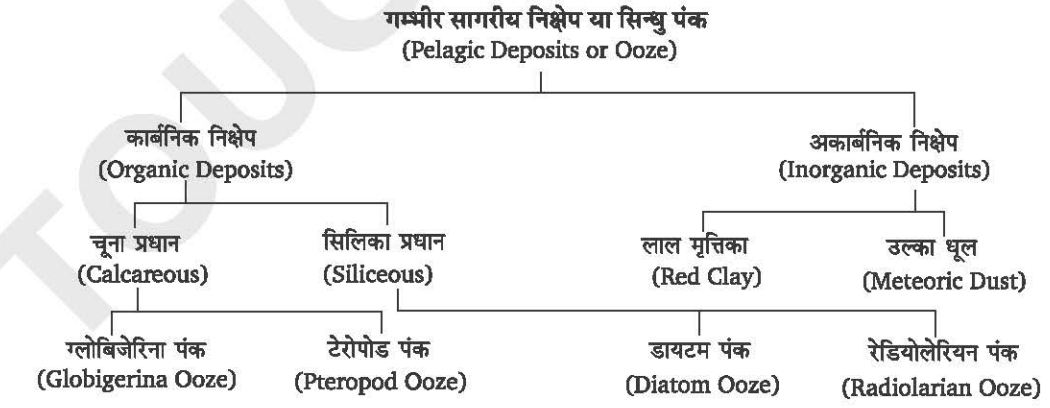

प्र.6. प्रवाल भित्तियाँ से आप क्या समझते हैं? विभिन्न प्रकार की प्रवाली रचनाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रवाल एवं प्रवाल भित्तियाँ
(Coral and Coral Reefs)

महासागर में पाई जाने वाली अनेक प्रकार की जैविक रचनाओं में प्रवाल (मूंगा) व प्रवाल भित्तियाँ विशिष्ट हैं। प्रवाल मुख्यत: चूना-प्रधान जीव है। यह विशेष प्रकार के कठोर रचना वाले प्याले या पॉलिप में विकसित मांसल या स्पंज जैसा मुलायम जीव

होता है। यह संगठित होकर रंग-बिरंगी टहनियों की भाँति अनुकूल दशाओं एवं अनुकूल क्षेत्रों वाले महाद्वीपीय व द्वीपीय तटों एवं छिछले चबूतरों पर विकसित होते रहते हैं। यह लाल, गुलाबी, सिन्दूरी, पीले, हरे, सफेद, बैंगनी आदि अनेक आकर्षक रंगों की आभाओं में पाए जाते हैं। प्रवाल की लगभग 10 लाख प्रजातियाँ पायी जाती है। यह जल के बाहर जीवित नहीं रह सकता है तथा समुद्री जल में पाये जाने वाले चूने पर निर्वाह करता है। मांसल कोरल या प्रवाल अपने चारों ओर विकसित सख्त चूने से बने प्यालेनुमा खोल या पॉलिप (Polyp) के भीतर ही सुरक्षित रहता है। ये जीव प्राय: समूह में रहते हैं। एक प्रवाल के मरने पर दूसरा उसी के शरीर पर एक कड़ी के रूप में विकसित होता जाता है। चूँकि प्रवाल की आकृति टहनियों जैसी होती है, अत: इसे कई बार 'समुद्री लकड़ी' भी कहते हैं। यह बहुत ही धीमी गति से विकसित होते रहते हैं। प्राय: प्रवाल दो प्रकार की रचना करते हैं—

1. **संयुक्त प्रवाल**—सामान्यत: प्रवाल झुण्डों में रहते हैं एवं अनगिनत प्रवाल मिलकर पॉलिप सहित प्रवाल भित्ति या प्रवाल द्वीप की रचना करते हैं। कई बार प्रवाल द्वारा बनाई गई रचनाओं के मध्य में खाली स्थानों में काई, शैवाल एवं अन्य समुद्री वनस्पति जमा होकर उसे भरती रहती हैं। ऐसी रचनाओं में हाइड्रोजोआ, एलगी, मोलस्का, फोरेमिनीफोरा आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।
2. **सरल या एकाकी प्रवाल**—यह कभी-कभी एक ही रंग या समूह में विशेष स्थल पर स्थानीय जमाव कर सकते हैं। ऐसा मध्यवर्ती प्रशान्त द्वीपों में कहीं-कहीं देखा जा सकता है। इन्हें ही सरल रचना वाले एकाकी प्रवाल भी कहते हैं। यह अनुतट एवं अवरोधक प्रवाली के रूप में पाया जाता है।

प्रवाल भित्तियों के प्रकार (Types of Coral Reefs)

मोटे तौर पर प्रवाल भित्तियों को उनकी आकृति एवं क्षेत्र विस्तार के आधार पर निम्न भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **अनुतट या तटीय प्रवाल भित्ति**—तटीय, तटवर्ती या अनुतट प्रवाल भित्ति महाद्वीपों के पूर्वी तट की ओर एवं द्वीपों के किनारों के निकट विकसित होती है। इनकी रचना निमग्न तट या छिछले सागर के चबूतरे से प्रारम्भ होती है। अत: तट एवं मुख्य प्रणाली के मध्य समुद्र तल पर छिछली जल की लैगून या संकरा गलियारा बन सकता है। अनूप झील या लैगून (Lagoon) मुख्य भूमि तथा प्रवाल भित्ति के मध्य समुद्री जल की एक छिछली झील होती है, जो समुद्र से अंशत: अथवा पूर्णतया एक संकरी पेटी द्वारा अलग होती है। इसका स्थल की ओर का ढाल धीमा एवं सागर की ओर का ढाल तीव्र रहता है। ऐसी भित्ति कम चौड़ी (प्राय: आधा से डेढ़ किमी) होती है। इसका विकास सागर की ओर होता रहता है। इसकी ऊपरी सतह असमान तथा ऊबड़-खाबड़ होती है। नदियों के मुहाने के निकट यह विकसित नहीं होती है। इसका उत्तम विकास संकरे प्रायद्वीप अथवा द्वीपों के सहारे अधिक होता है। फ्लोरिडा के तट, अण्डमान-निकोबार एवं लक्षद्वीप समूह, पूर्वी मलेशिया प्रायद्वीप एवं मध्यवर्ती प्रशान्त द्वीपों पर यह अधिक विकसित रूप में पाई जाती है।
2. **परातट या अवरोधक प्रवाल भित्ति**—ऐसी प्रवाल भित्ति महाद्वीपों एवं द्वीपों के तट से कुछ किमी दूरी पर तट से समानान्तर विकसित होती है। चूँकि ऐसी प्रवाल भित्ति तट एवं खुले सागर के मध्य सीधे सम्पर्क में एवं यातायात में अवरोध पैदा करती है, इसीलिए इसे परातट या अवरोधक प्रवाल भित्ति कहते हैं। ऐसी प्रवाली में तट एवं प्रवाल भित्ति के मध्य संकरी, किन्तु छिछली, खाड़ी या चैनल बन जाती है। यह आकार में लम्बी, अधिक चौड़ी व कम गहरी होती है। मध्यवर्ती चैनल में धीरे-धीरे मूंगे व अन्य जीवों एवं अवसादों का जमाव होते रहने से यह छिछली होती जाती है, अत: इसमें स्टीमर या जहाज नहीं आ-जा सकते। अधिक विस्तृत होने से तट की ओर से जहाँ भी नदियाँ गिरती हैं या अन्य कारणों से भी यह प्रवाल भित्ति जगह-जगह टूट जाती है। इसका बाहर की ओर का ढाल 25° से 45° के मध्य होता है। प्रवाल भित्ति जगह-जगह से टूट जाने व भीतरी लैगून का सम्बन्ध महासागरों से बना रहने से मछुआरे व मल्लाह अपनी नावें व मोटर बोट इनसे ला व ले जा सकते हैं। अत: ज्वार के समय ऐसे मार्गों से होकर तटीय बन्दरगाह तक छोटे जहाज आ सकते हैं एवं भाटे के समय लौट सकते हैं। ऐसी प्रवालियों का विकास कई स्थानों पर 100 मीटर या इससे अधिक गहराई में भी हुआ है। सम्भवत: ऐसी प्रवालियाँ हिमयुग से पहले की हैं, जबकि सागर तल आज से 60 मीटर नीचे था।
   ग्रेट बेरियर रीफ (Great Barrier Reef of Eastern Australia)—महान अवरोधक प्रवाल भित्ति या ग्रेट बेरियर रीफ विश्व की सबसे लम्बी प्रवाल भित्ति है। इसका विस्तार 9° से 24° दक्षिण अक्षांशों के मध्य 1,920 किमी की लम्बाई में है। ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के उत्तरी भाग में तट से 32 से 240 किमी के मध्य की दूरी पर यह प्राय: समानान्तर फैली हुई है। इसकी चौड़ाई 16 से 140 किमी के मध्य है। पूर्णिमा एवं अमावस्या के दीर्घ भाटे के समय सागर तल के कुछ नीचे चले जाने से थोड़े समय के लिए सागर तल से दीवार की भाँति दिखाई देती है। यह प्रवाल भित्ति यार्क प्रायद्वीप के मध्यपूर्वी

भाग में तट के काफी निकट आकर सबसे संकरी हो गई है। यह बीच-बीच में नदी मुहानों के निकट टूट भी गई है। इस प्रवाल भित्ति के बाहर की ओर कई शाखाएँ भी पाई जाती हैं।

इसी भाँति प्रशान्त द्वीपसमूहों में केरोलीना द्वीपसमूह, न्यू केलेडोनिया, सोसायटी द्वीपसमूह आदि पर अवरोधक प्रवाल भित्ति का अच्छा विकास हुआ है। इनका विस्तृत वर्णन डेविस एवं स्टीयर्स ने अपनी रचनाओं में किया है।

3. **वलयाकार प्रवाल भित्ति या एटॉल**—इस प्रकार की प्रवाल भित्ति का विकास द्वीपों के चारों ओर घोड़े के नाल की भाँति होता है। जब किसी द्वीप के अधिकांश भाग में परातट या अवरोधक प्रवाली फैल जाती है, तो उसकी आकृति वलयाकार हो जाती है। महाद्वीपीय निमग्न तट या महासागरों के चबूतरों पर जो उभार पाए जाते हैं, उनके चारों ओर अनेक बार घोड़े के प्रवाल नाल की भाँति रचना का विकास होने लगता है। इस वलयाकार प्रवाली के मध्य झील या लैगून होती है, जिसकी गहराई 30 से 60 मीटर तक की हो सकती है। प्राय: महासागरों के भीतर विकसित ज्वालामुखी जब सागर तल के कुछ नीचे रह जाते हैं तब उनके चारों ओर निरन्तर अवरोधक प्रवाली विकसित होकर सागर तल की ओर बढ़ती जाती है। इसी प्रकार से सागर तल के निकट वलयाकार प्रणाली का विकास होने लगता है।

   ऐसी प्रवाल भित्तियों के मध्य सामान्यत: द्वीप नहीं पाया जाता। कालान्तर में यदि मध्यवर्ती झील छिछली है तो वह भरती जाती है। इसके भीतर दलदल व बालू के जमाव मिलते हैं। ऐसी वलयाकार प्रवाल भित्ति लाल सागर, एण्टीलिस सागर, चीन सागर, हिन्देशिया सागर आदि में अनेक स्थानों पर पाई जाती है।

4. **प्रवाल द्वीप**—प्रवाल द्वीप वलयाकार प्रवाल भित्ति का ही विकसित रूप है। यह दो प्रकार से विकसित होता है—(i) जब किसी द्वीप के चारों ओर वलयाकार प्रवाली विकसित होती है तो मध्य में द्वीप होने एवं लैगून छिछली रहने से उसे प्रवाल द्वीप कह सकते हैं। (ii) जब वलयाकार प्रवाल भित्ति के मध्य छिछली लैगून होती है तो वह धीरे-धीरे बालू, प्रवाल भित्ति के टुकड़ों आदि से भरती जाती है। इससे वहाँ नवीन द्वीप बनता जाता है। यहाँ पक्षी या पवन के माध्यम से वनस्पति के बीज आ सकते हैं एवं वहाँ धीरे-धीरे हरियाली भी पैदा होने लगती है। ऐसे द्वीप प्राय: दलदली होते हैं। इनकी सागर तल से ऊँचाई बहुत कम होती है, अत: लहरें उठने पर सारा द्वीप जल से ढक जाता है। इस प्रकार के प्रवाल द्वीप निकोबार द्वीपसमूह, पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की महान अवरोधक प्रवाल भित्ति के पूर्व एवं उत्तर-पूर्व में पाए जाते हैं। यहाँ पर बालू का विस्तार अधिक होता है।

प्र.7. प्रवाल भित्तियों के विकास की अनुकूल दशाएँ बताते हुए हिम नियन्त्रण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

उत्तर

प्रवाल के विकास की अनुकूल दशाएँ
(Favourable Conditions for Coral Growth)

प्रवालों का विकास विशेष अनुकूल दशाओं में उष्ण कटिबंधीय महासागरों में भलीभाँति होता रहा है। ऐसे क्षेत्रों में लगभग 15 लाख वर्ग किमी क्षेत्रफल में अधिकांश प्रवाल रचनाएँ पाई जाती हैं। अपवादस्वरूप ही अर्द्धोष्ण क्षेत्रों से बाहर या सीमान्त प्रदेशों में कहीं-कहीं विशेष संगठित प्रवाल रचनाएँ पाई जाती हैं। प्रवाल के विकास के लिए निम्न दशाएँ आवश्यक हैं—

1. **तापमान**—प्रवाल के विकास के लिए वर्षभर सामान्यत: औसत तापमान 18°C से ऊपर एवं 22°C के आसपास रहना आवश्यक है। इसी कारण प्रवाल अर्द्धोष्ण प्रदेशों या 30° उत्तर से 30° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य ही छिछले चबूतरों पर, महाद्वीपों एवं द्वीपों के किनारों पर अनुकूल परिस्थिति में विकसित होते हैं।
2. **सागर जल की गहराई**—सामान्यत: प्रवाल सागर की उसी गहराई तक जीवित रह सकता है, जहाँ तक कि पानी में ऑक्सीजन व उष्णता रहे। अत: यह 20 से 60 मीटर की गहराई में ही अधिकांशत: विकसित होते हैं, क्योंकि इसके बाद ऑक्सीजन व तापमान निरन्तर घटते जाते हैं तथा चूने की प्राप्ति भी कम होने लगती है। विशेष अपवाद की दशा में ही यह अधिक गहराई पर मिलते हैं। गार्डिनर के अनुसार यह 250 से 300 मीटर की गहराई तक भी जीवित पाए जा सकते हैं, किन्तु ऐसा अपवादस्वरूप ही सम्भव है।
3. **सागर जल की लवणता**—औसत से अधिक खारे सागरों में एवं बन्द सागरों में प्रवाल विकसित नहीं हो पाते. क्योंकि चूना प्रवाल जीवों का प्रमुख भोजन होता है। इसकी मात्रा घटने पर प्रवाल नष्ट होने लगते हैं। इनके विकास के लिए 27% से 30% तक लवणता उपयुक्त रहती है। स्वच्छ, ताजा व मीठा जल इनके विकास में बाधक होता है। इसी कारण विषुवत् रेखीय प्रदेशों (अधिक वर्षा क्षेत्र) में प्रवाल विकसित नहीं हो पाते हैं।

4. **अवसादों की मात्रा**—जिन सागरों में नदियाँ गिरती हैं, वे अपने साथ लायी मिट्टी व अनेक रासायनिक अवसाद मुहाने के आसपास फैला देती हैं। इससे चारों ओर का पानी मटमैला बनता जाता है। ऐसे गंदले पानी से प्रवाल पॉलिप का छिद्र बन्द हो जाता है, इससे भीतर का प्रवाल या मूंगा मर जाता है। इसके साथ-साथ गंदले पानी के कारण प्रवाल सौर किरणों एवं ऑक्सीजन की प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं। इसी कारण मानसूनी प्रदेशों के तटीय भागों पर प्रवाल विकसित नहीं हो पाते। अत: प्रवालों की उत्पत्ति के लिए अवसादमुक्त जल होना चाहिए।
5. **सहजीवी वनस्पति**—प्रवाल के क्षेत्रों में शैवाल (Algae) सहजीवी वनस्पति (Symbiotic Plants) होती है। यह प्रवाल जीवों के श्वसन से मिली कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित कर उसे ऑक्सीजन में बदलती रहती है। यह वनस्पति प्लेंकटन की भाँति एककोषीय होती है। ऐसी सहजीवी वनस्पति के अभाव में प्रवाल का विकास सम्भव नहीं है।
6. **छिछले सागर एवं द्वीप**—प्रवाल के विकास के लिए बड़े-बड़े अन्त:सागरीय चबूतरे एवं उन पर ऊपर उठे द्वीप या ज्वालामुखी द्वीप आदर्श क्षेत्र माने जा सकते हैं। ऐसे चबूतरे 50 से 80 मीटर तक की गहराई पर हो सकते हैं। इन पर प्रवाल को आधार बनाना आसान होता है। ऐसे चबूतरों पर बने उभार या द्वीप के बाहरी भाग पर एवं चबूतरों से ऊपर की ओर प्रवाल बढ़ते जाते हैं।
7. **खुले सागरों की ओर विकास**—किसी द्वीप या तट के निकट या कुछ दूरी पर प्रवाल रचना अपना विकास निरन्तर खुले सागर की ओर करती जाती है, क्योंकि खुले सागर की ओर ही उसे स्वच्छ सागरीय जल, चूना एवं सौर ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते रहते हैं। खुले सागरों की ओर ही प्रवाल की सहजीवी वनस्पति मिलती है। तट एवं प्रवाल के मध्य की संकरी लैगून या चैनल में प्रवाल के मृत टुकड़े, बालू, तट से लाए पदार्थ आदि एकत्रित होते रहते हैं। अत: तट के निकट का या भीतरी क्षेत्र प्रवाल रचनाओं में सहायक नहीं होता।
8. **पवन की दिशा**—व्यापारिक पवनों के अक्षांशों में अधिकांश प्रवाल भित्तियों का विकास होता है। जब पवनें पश्चिमवर्ती तटों पर स्थल से जल की ओर चलती हैं, तो वहाँ का तटीय सागर शीतल होने लगता है। वैश्विक महासागरीय परिसंचरण (गरम व ठण्डी धाराओं का प्रवाह) के नियम के अनुसार भी इन अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर शीतल धाराएँ प्रवाहित होती हैं। इन्हीं सब कारणों से महाद्वीपों के पश्चिमी तट की ओर प्रवाल भित्तियों का विकास नहीं हो पाता। वहीं महाद्वीपों के पूर्वी तट की ओर अथवा ऐसे क्षेत्रों के खुले सागरों के द्वीपों के चारों ओर प्रवालों का विकास होता रहता है। पूर्वी तट पर निरन्तर मन्द समीर चलती रहने से भी प्रवालों को स्वच्छ व उष्ण जल निरन्तर प्राप्त होता रहता है।
9. **धाराएँ एवं लहरें**—जिस तट के सहारे गरम धाराएँ एवं मन्द समीर के प्रभाव से लहरें चलती रहती हैं, उस तट की ओर प्रवाल का विकास निरन्तर होता रहता है। इनके द्वारा प्रवालों के लिये भोजन लाया जाता है। यहाँ के तापमान, ऑक्सीजन, सहजीवी वनस्पति आदि की अनुकूलता से इनका विकास अधिक आसान हो जाता है। इस कारण भी तट से बाहर की ओर प्रवाल रचनाएँ तेजी से कई शाखाओं में विकसित होती जाती हैं। हानिकारक तरंगें व ज्वार-भाटे प्रवाल के विकास में बाधक होते हैं।

डेली का हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त
(Glacial Control Theory of Daly)

हवाई द्वीप में विकसित प्रवाल भित्तियों का 1909-10 में निकट से अध्ययन कर एवं विशेष प्रमाणों से प्रभावित होकर डेली ने 1915 में हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। डेली के अनुसार प्लीस्टोसीन हिम युग में महासागरों के तापमान काफी नीचे पहुँच जाने से प्रवाल जीव लगभग समाप्त हो गए। अत: वर्तमान प्रवाल रचनाएँ हिमयुग के बाद विकसित हुईं। यही स्थिति हवाई द्वीप की भी रही होगी। डेली के अनुसार उस समय सागर तल 60 से 70 मीटर तक नीचे चला गया, जिसमें 60-70 मीटर तक गहरे महाद्वीपीय चबूतरे के भाग भी सतह पर दिखाई देने लगे। इसी समय वहाँ प्रवाल जीवों के मरने से प्रवाल रचनाओं का विकास एवं नव-निर्माण रुक-सा गया। सागर तल से ऊपर उठी रचनाएँ लहरों व पवनों के कटाव से प्रभावित हुईं। इसी समय तट के निकट अपतटीय चबूतरों एवं सीढ़ीनुमा ढाल की भी रचना हुई। हिमयुग के पश्चात् तापमान बढ़ने से दो क्रियाएँ हुईं—(i) सागर तल निरन्तर ऊपर उठकर पुन: वर्तमान स्तर तक पहुँच गया एवं (ii) सागर जल के तापमान विश्व तापमान के साथ-साथ पुन: बढ़े। अत: हिमयुग में जो भी प्रवाल उष्ण प्रदेशों के अनुकूल भागों में जीवित रह गए, वे उपर्युक्त डूबे हुए अपतटीय चबूतरों पर पुन: प्रवाल रचनाओं का निर्माण करने लगे। तभी से पुन: प्रवाल रचनाएँ अधिकांश अर्द्धोष्ण सागर के अनुकूल प्रदेशों में फैलती गईं।

अन्ततः प्रवाल भित्तियों का आधार पूर्व में महासागरीय लहरों द्वारा निर्मित चबूतरों एवं वेदिकाओं का ही रहा। इस कारण विश्व की सभी प्रवाल रचनाओं की लैगून (अनूप) झीलों की गहराई भी 60 से 80 मीटर के आस-पास ही होती है। जलमग्न संकरे चबूतरों पर तटीय प्रवाल भित्ति तथा चौड़े चबूतरे पर अवरोधक प्रवाल भित्ति का निर्माण हुआ। एकाकी अन्तःसागरीय पठारों पर एटॉल का निर्माण हुआ।

पक्ष में प्रमाण (Evidences in Favour)

1. हिमयुग के समय होने वाले विश्वव्यापी सागर तल के परिवर्तन जैसे सर्वमान्य तथ्य पर आधारित यह सिद्धान्त विद्वानों को अधिक उचित प्रतीत हुआ। अतः प्रारम्भ में यह लोकप्रिय भी रहा एवं इसकी प्रशंसा भी की गई।
2. डेली का यह सिद्धान्त प्रारम्भ में विशेष प्रभावकारी रहा, क्योंकि इसके द्वारा हिमानियों के विस्तार काल में निचले तल के अपरदन (Low level abrasion) एवं हिम के कटाव व जमाव से बने चबूतरों जैसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सही रूप में समझाने का प्रयास किया गया है।
3. डेली ने प्रवाल रचनाओं के आधार-स्थल एवं लैगून की गहराई को प्रायः समान माना है। कुछ अपवादों को छोड़कर वास्तविक स्थिति भी यही है।

आलोचना (Criticism)

1. अनेक चबूतरे लहरों की कटाव क्षमता से कहीं अधिक विशाल हैं। ऐसे चबूतरे मालदीव के निकट, सुण्डा प्लेटफार्म पर एवं अन्य स्थानों पर पाए जाते हैं। मालदीव का चबूतरा ही 30 हजार वर्ग किमी से अधिक विशाल एवं सागर तल से 1,000 से 1,200 मीटर ऊँचा है।
2. हिम युग में निम्न सागर तल के समय के 60 से 80 मीटर गहराई पर तटों पर भृगु (क्लिफ) कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं, जबकि सिद्धान्त के अनुसार सर्वत्र मिलने चाहिए। यदि हिमकाल में 60-70 मीटर तक के सभी सागरीय भागों का अपरदन हो गया था, तो तट व प्रवाल भित्तियों के मध्य द्वीप नहीं मिलने चाहिए थे।
3. डेविस के अनुसार वलयाकार एवं अवरोधी प्रवाल भित्तियों की लैगूनों की गहराई कहीं-कहीं 80 से 180 मीटर तक है, जबकि डेली के अनुसार सभी लैगूनों की गहराई कम एवं समान लगभग 60-70 मीटर ही रहनी चाहिए।
4. इसी प्रकार डेली के अनुसार हिम युग में सागर का तापमान नीचा होने से पूर्व काल के अधिकांश प्रवाल समाप्त हो गए। इस बात को अन्य विद्वानों ने नहीं माना, क्योंकि उष्णकटिबन्धीय सागरों के तापमान की अत्यधिक गिरावट विश्वसनीय नहीं है।
5. आज यह बात सर्वमान्य है कि प्लीस्टोसीन हिमयुग में भी कम-से-कम तीन बार सागर तल ऊपर उठा व गिरा होगा। चौथी बार का ऊपर उठा सागर तल ही वर्तमान का है। अतः जब भी सागर तल नीचे गिरा (चार बार) तो प्रत्येक बार प्रवाल नष्ट हो जाने चाहिए एवं उनमें प्रत्येक बार पुनः तेजी से फिर से विकास होना चाहिए। डेविस एवं अन्य विद्वानों ने इसे भ्रमपूर्ण माना है।
6. डेली 100 मीटर से कहीं अधिक गहराई पर प्रशान्त के कई द्वीपों में मिलने वाली मृत प्रवाल रचनाओं की उपस्थिति के बारे में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं कर सके, जबकि अवतलन के द्वारा ही ऐसी स्थिति को आसानी से समझा जा सकता है।

प्र.8. महासागरीय जल के तापमानों को प्रभावित करने वाले कारकों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर

महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting Oceanic Water Temperature)

भूतल की भाँति महासागरीय सतह के तापमान का वितरण भी अनेक कारकों से प्रभावित रहता है। इसी कारण इसका क्षेत्रवार वितरण असमान एवं विषम रहता है। महासागरीय सतह के जल के तापमान को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक निम्न हैं—

1. **अक्षांश**—सागर तल सर्वत्र समरूपी है, अतः यहाँ पर धरातल की विषमता जैसे कारक प्रभावी नहीं रहते। इसी कारण सागर तल पर ताप प्राप्ति मुख्यतः अक्षांशवार रहती है। सबसे अधिक सौर ऊर्जा अयनवृत्तों के मध्य उष्ण कटिबन्ध को प्राप्त होती है। अतः उष्ण कटिबन्धों के सागर तल का तापमान सबसे ऊँचा रहता है। यही नहीं शीतोष्ण कटिबन्ध के तापमान भी उष्ण कटिबन्धीय ऊँचे तापमान वाले सागर जल से ही प्रभावित रहते हैं, क्योंकि उष्ण कटिबन्ध से गर्म धाराएँ

शीतोष्ण कटिबन्ध की ओर बहकर वहाँ के तापमान को अपने विशेष गुणों के अनुसार करती रहती हैं। विषुवत् रेखा के निकट सूर्यातप सबसे अधिक प्राप्त होने से औसत तापमान 27°C के आस-पास रहते हैं। अयनवृत्तों के मध्य स्थित उष्ण कटिबन्ध के औसत तापमान 22° से 26°C के मध्य रहते हैं। अयनवृत्तों से ध्रुवीय भागों की ओर के औसत तापमान 45° अक्षांश तक धीमी गति से गिरते हैं। अत: 45° उत्तर व 45° दक्षिण अक्षांशों के मध्य के औसत तापमान सामान्यत: 14°C से 22°C के मध्य रहते हैं। इसके पश्चात् सौर ऊर्जा प्राप्ति में तेजी से कमी, पृथ्वी की गोलाई का प्रभाव, वायुमण्डल की मोटाई, ठण्डी धाराओं के बढ़ते प्रभाव आदि कारणों से 55° अक्षांश के पश्चात् ध्रुवों की ओर के सागरों के तापमान में तेजी से कमी आने लगती है। ठण्डी धाराओं का प्रभाव क्षेत्र 50° अक्षांश तक तेजी से बढ़ता रहता है, अत: यहाँ के तापमान 4°C से 12°C के मध्य रहते हैं। शीत कटिबन्ध से ध्रुवों की ओर के तापमान हिमांक बिन्दु के आस-पास या उससे भी कम रहते हैं।

2. **सागर जल की विशिष्टता**—जल अपने अनेक गुणों के कारण सौर ऊर्जा ग्रहण करने व तापमान के वितरण में स्थल से पूर्णत: भिन्न प्रभाव डालता है, क्योंकि—
   (i) जल की ऊपरी सतह चमकीली होती है, अत: सौर ऊर्जा का एक भाग जलतल से परावर्तित हो जाता है।
   (ii) जो भी ऊर्जा जल सतह को प्राप्त होती है, वह भी लगभग 15 से 20 मीटर गहराई तक ही जल को गर्म कर पाती है।
   (iii) जल गतिशील रहता है, उसमें संवहनिक धाराएँ एवं क्षैतिज धाराएँ चलती है। अत: ऊष्मा का आदान-प्रदान होता रहता है।
   (iv) जल की गुप्त ऊष्मा स्थल से कहीं अधिक होती है।

   उक्त विशिष्ट गुणों के कारण महासागरीय जल निरन्तर एक-सी व धीमी गति से गर्म होता रहता है एवं धीमी गति से ही ठण्डा होता है। इसी कारण न तो जल के उच्चतम तापमान स्थल की भाँति 45°C तक या अधिक ऊँचे पहंच पाते हैं न ही न्यूनतम तापमान –40°C की भाँति बहुत नीचे रहते हैं। जल के तापमान 0°C से 27°-28°C तक रहते हैं, इससे अधिक या कम अपवादस्वरूप ही रह पाते हैं। लाल सागर एवं फारस की खाड़ी में तटीय मरुस्थलों के कारण स्थानीय रूप से तापमान 34°-35°C तक बढ़ सकते हैं।

3. **स्थल खण्डों का वितरण**—पृथ्वी पर उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्ड अधिक है, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थलखण्डों की कमी है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों की तुलना में उत्तरी गोलार्द्ध के महासागर गर्मियों में अधिक गर्म (15° से 30° उत्तरी अक्षांशों के मध्य) एवं शीतकाल में महाद्वीपों से चलने वाली बर्फीली हवाओं के प्रभाव से अधिक ठण्डे हो जाते हैं। इसके विपरीत, यद्यपि अण्टार्कटिका महाद्वीप बर्फ से ढका है फिर भी दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों का निरन्तर विस्तार रहने से वहाँ का तापमान ग्रीष्म काल में उत्तरी गोलार्द्ध से कम एवं शीतकाल में सम या शीतल रहता है। अत: यहाँ महासागरीय जल के तापमान में मौसमवार अन्तर कम पाया जाता है।

4. **समुद्री धाराएँ**—विषुवत्रेखीय एवं उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में निरन्तर तापमान ऊँचा रहने से सागर काफी गहराई तक गर्म हो जाते हैं। इससे पानी हल्का व गर्म होकर शीतोष्ण प्रदेशों की ओर प्रचलित स्थायी पवनों की दिशा एवं फेरल के नियमानुसार पूर्व से पश्चिम की ओर बहने लगता है। इसी के प्रभाव से उष्ण-शीतोष्ण प्रदेशों में महाद्वीपों के पूर्वी तट पर गर्म धाराएँ बहती हैं। यही गर्म धाराएँ आगे चलकर पछुआ पवनों के प्रभाव से शीत-शीतोष्ण प्रदेशों में महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर बहती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्ड अधिक होने से वहाँ यह प्रभाव अधिक स्पष्टता से दिखाई देता है। उत्तरी अमेरिका का अलास्का तट, दक्षिणी-पूर्वी ऑस्ट्रेलिया का तटीय भाग एवं उत्तरी न्यूजीलैण्ड उष्ण धाराओं के प्रभाव से शीतकाल में भी उष्ण बने रहते हैं। इसी भाँति ठण्डी धाराओं के प्रभाव से उष्ण मरुस्थलों के पश्चिमी तटवर्ती सागर जल शीतल रहता है। जब गर्म व ठण्डी धाराएँ तटीय भाग के निकट मिलती हैं, तो ऐसे सागर तल पर स्थानीय संघनन के प्रभाव से घना कोहरा छा जाता है। इससे दृश्यता घट जाती है व तापमानों में भी अचानक परिवर्तन आ जाते हैं। अत: जब गर्म धाराएँ ठण्डे सागरों की ओर एवं ठण्डी धाराएँ उष्ण सागरों की ओर बहती हैं तो इसका स्पष्ट प्रभाव स्थानीय एवं प्रादेशिक रूप से देखा जा सकता है।

5. **प्रचलित पवनें**—पवनों का प्रभाव सागर तल पर स्पष्टत: दिखाई देता है। पवनें न सिर्फ उष्ण कटिबन्धीय वायुमण्डल के ताप को शीतोष्ण वायुमण्डलीय प्रदेशों की ओर प्रवाहित करती हैं, वरन् जिस सागर तल पर प्रवाहित होती हैं, उसे भी उष्ण या शीतल बनाती हैं। पछुआ पवनें अयनवृत्तों का ताप शीतोष्ण सागरों की ओर वितरित करती हैं। ऐसे प्रभाव से न सिर्फ

सागर तल ही प्रभावित होता है, बल्कि विक्षोभमण्डल की संघनन क्रिया में शीतोष्ण प्रदेश में हिम वर्षा के स्थान पर जल वृष्टि का महत्त्व बढ़ जाता है। इससे भी सागर जल के तापमान कुछ ऊँचे बने रहते हैं। स्थायी पवनों की दिशा के अनुसार गर्म या ठण्डे जल की धाराएँ दिशा विशेष में बहती हुई महाद्वीपों के तटों को प्रभावित करती हैं। इसी भाँति जब पवनें स्थल से जल की ओर बहती हैं, तो महासागरीय सतह के तापमान कुछ गिर जाते हैं। ऐसे तटीय सागरों का तापमान कुछ नीचे ही रहता है।

6. **हिमशिलाओं का प्रभाव**—अण्टार्कटिका महाद्वीप एवं ग्रीनलैण्ड प्राय: बर्फ से ढके रहते हैं। यहाँ से टूटकर हिमखण्ड सागर तल पर दूर तक बहते रहते हैं। ऐसी हिम शैलों के प्रभाव से उनके आस-पास के सागर जल का तापमान काफी नीचे गिर जाता है। न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट, हडसन की खाड़ी में, पूर्वी साइबेरिया के तटीय भागों एवं सुदूर दक्षिणी ध्रुवीय सागरों के बर्फीले तापमान होने का एक मुख्य कारण हिमखण्डों का ध्रुवों से 50° से 60° अक्षांशों तक बहकर आना एवं पिघलना रहा है।
7. **भूगर्भिक ताप**—महासागरों की तली में कुछ भूगर्भिक ताप की भी प्राप्ति होती है। यद्यपि इसकी मात्रा सूर्यातप के एक हजारवें भाग से भी कम होती है, किन्तु सागरीय जल के तापमान पर इसके प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है।

महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले अन्य कारणों में स्थानीय रूप से तूफानी मौसम, तली में ऊँची श्रेणी का विस्तार, तटीय खाड़ियाँ एवं अधखुले सागरों की विशेष स्थिति मुख्य हैं।

क्षैतिज वितरण—सामान्य तौर पर महासागरों के तल का तापमान अक्षांशों के अनुसार वितरित है। फिर भी इस पर विशेष रूप से उपर्युक्त कारकों का प्रभाव क्षेत्रीय या प्रादेशिक रूप से स्पष्टत: दिखाई देता है। विषुवत् रेखा पर महासागरों की ऊपरी सतह का तापमान सामान्यत: 27°C अंकित किया जाता है। यहाँ से उत्तर या दक्षिण की ओर जाने पर तापमान में निरंतर गिरावट होती जाती है। दोनों गोलार्द्ध में विषुवत् रेखा से 30° अक्षांशों तक तापमान गिरावट की दर प्रत्येक अक्षांश पर चौथाई डिग्री सेन्टीग्रेड है। इसी कारण 20° अक्षांश के आस-पास तापमान 21°C एवं 45° अक्षांश पर 15°C तक रहते हैं। पछुआ पवनों एवं उष्ण धाराओं के प्रभाव से तापमान धीमी गति से गिरते हैं। इसी प्रभाव से ही 35° से 55° अक्षांशों के मध्य पश्चिमी तट की अपेक्षा पूर्वी-तटीय सागरों के तापमान 5°C से 8°C तक ऊँचे रहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकाल में यह अन्तर स्पष्टत: देखा जा सकता है। औसतन 45° के पश्चात् तापमान अधिक तेजी से गिरने लगते हैं एवं 65° तक तेजी से गिरकर 1°C से 4°C के आस-पास एवं ध्रुवों पर 0°C से –2°C के आस-पास पहुँच जाते हैं। यहाँ भी उत्तरी अटलाण्टिक एवं उत्तरी प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भागों के तापमान 50° अक्षांश तक काफी नीचे रहते हैं। यह 2°C से 6°C के मध्य रहते हैं, जबकि इन्हीं महासागरों के पूर्वी भागों के तापमान 5°C से 10°C के मध्य रहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों के तापमान जल की निरन्तरता एवं स्थल की कमी के कारण अक्षांशों का अनुसरण करते हुए ध्रुवों की ओर गिरते जाते हैं।

प्र.9. लवणता से क्या अभिप्राय है? इसे नियन्त्रित करने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।

उत्तर

महासागरीय जल का खारापन या लवणता
(Salinity of Oceanic Water)

महासागरीय जल का विशिष्ट या तीखा स्वाद ही उसका खारापन है। महासागरीय जल में पाए जाने वाले विविध लवणों के योग को ही 'खारापन' कहते हैं। स्वेरड्रुप के शब्दों में, "सागरीय जल के भार तथा उसमें घुले हुए पदार्थों के भार के अनुपात को लवणता कहते है।" (Salinity is commonly defined as the ratio between the weight of the dissolved material and weight of the sample of sea water.) यह खारापन ही उसे अन्य प्रकार के जल से भिन्न बनाता है। सामान्यत: सागरीय लवणता को प्रति हजार ग्राम जल में स्थित लवण की मात्रा के रूप में दर्शाया जाता है, जैसे 36 ग्राम प्रति 1000 ग्राम (36%)। महासागरीय लवणता से समुद्री जीव, वनस्पति, जल का घनत्व, तापमान, धाराएँ, हिमांक, क्वथनांक, वाष्पीकरण की दर आदि प्रभावित होते हैं।

समुद्री जल की लवणता को नियन्त्रित करने वाले कारक
(Factors Controlling Salinity of Oceanic Water)

यद्यपि सभी समुद्र खारे हैं, किन्तु उनमें लवणता की मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। कई बार एक ही अधखुले सागर के भिन्न-भिन्न भागों में भी लवणता समान नहीं पाई जाती। इसे प्रभावित या नियंत्रित करने वाले मुख्य कारक अग्र हैं—

1. **वाष्पीकरण** (Evaporation)—समुद्री जल में लवणता की वृद्धि में वाष्पीकरण की क्रिया का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके प्रभाव से शुद्ध जल में कमी आती है, और शेष जल में नमक की मात्रा बढ़ती रहती है। वाष्पीकरण उच्च तापमान, वायु की शुष्कता, वायु की तीव्र गति, आकाश की दशा, कोहरा आदि कारकों से प्रभावित होता है। अयनवृत्तीय प्रदेशों में जहाँ कि उपर्युक्त सभी दशाएँ आदर्श रूप में मिलती हैं, वाष्पीकरण भी सबसे ऊँची दर पर होता रहता है। इसी कारण कर्क रेखा तथा मकर रेखा के पास महासागरों में लवणता अधिक पायी जाती है, जबकि ध्रुवों के निकट वाष्पीकरण कम होने के कारण सबसे कम लवणता मिलती है। समस्त महासागरों से प्रति वर्ष 93 सेमी वाष्पीकरण होता है।
2. **हवाएँ** (Winds)—प्रतिचक्रवाती दशाएँ, हवाओं की शुष्कता एवं गति का समुद्री जल की लवणता पर प्रभाव पड़ता है। गर्म एवं शुष्क पवनें वाष्पीकरण अधिक करती हैं। अत: ऐसे सागरों के जल में लवणता की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। यदि गर्म व शुष्क पवन अधिक तेज गति से चल रही है, तो समुद्री जल से वाष्पीकरण अधिक होगा। कर्क और मकर रेखा के निकटवर्ती समुद्री भागों में गर्म एवं शुष्क पवनों के प्रभाव से लवणता में अधिकता मिलती है। इसी भाँति भूमि से सागर की ओर बहने वाली तेज पवनों से नीचे का कम लवणता वाला जल ऊपर आ जाता है, जिससे लवणता में स्थानीय रूप से कमी हो जाती है। व्यापारिक पवनों द्वारा महासागरों के पूर्वी भागों का जल पश्चिमी भागों में ले जाया जाता है, अत: पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में लवणता अधिक पायी जाती है।
3. **समुद्री धाराएँ** (Ocean Currents)—समुद्री धाराएँ भी समुद्री जल की लवणता को प्रभावित करती हैं। सामान्य रूप से समुद्री जल की ऊपरी सतह में नीचे की अपेक्षा अधिक लवणता होती है। समुद्री धाराएँ ऊपरी सतह को बहाकर ले जाती हैं, जिससे ऐसे स्थानों पर लवणता कम हो जाती है और यह धाराएँ जहाँ भी पहुँचती है वहाँ लवणता की मात्रा बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अन्ध महासागर के उत्तरी भाग से गल्फस्ट्रीम गर्म धारा लवण जल अपने साथ बहाकर उत्तरी महासागर में ले जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी अन्ध महासागर में लवणता में वृद्धि हो जाती है। ज्वारीय तरंगों व संवहनिक धाराओं से भी सागरों में लवणता बदलती है।
4. **स्वच्छ जल की आपूर्ति**—सागरों में वर्षा, हिमखण्ड व नदियों के माध्यम से स्वच्छ जल प्राप्त होता रहता है। विषुवत् रेखीय प्रदेशों में एवं महाद्वीपीय तटों पर जहाँ भी अधिक वर्षा होती है या बड़ी नदियाँ सागर में प्रवेश करती हैं, सागर जल की लवणता कम होने लगती है। यद्यपि नदियाँ अपने साथ लवण लाती है, किन्तु उनमें स्वच्छ जल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उनके मुहाने के पास समुद्री जल की लवणता कम हो जाती है। भूमध्यरेखीय प्रदेशों में उच्च तापमान एवं वाष्पीकरण होते हुए भी अत्यधिक वर्षा के कारण लवणता कम पायी जाती है। ध्रुवीय प्रदेशों से बाहर हिम शिलाओं के पिघलने से स्वच्छ जल प्राप्त होता है, अत: लवणता में स्थानीय रूप से कमी आती है।
5. **मौसमी परिवर्तन**—मौसम के परिवर्तन का भी सागरों की लवणता पर सामयिक प्रभाव पड़ता है। एक ही अक्षांश पर ग्रीष्म ऋतु में अधिक वाष्पीकरण के कारण लवणता अधिक हो जाती है, जबकि शीत ऋतु में कम तापमानों के कारण लवणता घट जाती है। उत्तरी गोलार्द्ध में जून में अधिकतम तथा दिसम्बर में न्यूनतम लवणता पायी जाती है।

प्र.10. महासागरीय जल में लवणता के वितरण को सविस्तार समझाइए।

उत्तर

समुद्री जल में लवणता का वितरण
(Distribution of Salinity in Ocean Water)

सागरीय जल में खारेपन या लवणता की मात्रा प्रति हजार ग्राम में व्यक्त करते हैं। महासागरों की औसत लवणता 35% अर्थात् 1,000 ग्राम जल में विभिन्न लवण पदार्थ की औसत मात्रा 35 ग्राम पायी जाती है, किन्तु प्रत्येक महासागर में लवणता की मात्रा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। लवणता में भिन्नता क्षैतिज तथा लम्बवत् दोनों रूपों में पाई जाती है।

लवणता का क्षैतिज वितरण
(Horizontal Distribution of Salinity)

सागरों में लवणता का क्षैतिज वितरण समलवण रेखाओं (isohalines) से दिखाते हैं। वह रेखा जो मानचित्र पर समान लवणता वाले समुद्री भागों को मिलाती है, उसे समलवणता रेखा कहते हैं। सागर जल में लवणता की औसत दशा के वितरण के अध्ययन से स्पष्ट है कि सबसे कम लवणता ध्रुवीय प्रदेशों में पाई जाती है। इसके बाद उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश आते हैं। सबसे अधिक लवणता कर्क रेखा और मकर रेखा के निकटवर्ती सागरों के पूर्वी भाग में समुद्री तल में मिलती है, जिसका कारण कम वर्षा, गर्म, शुष्क एवं तीव्र पवनों का प्रचलन, स्वच्छ आकाश एवं उच्च तापमान का मिलना है। लवणता का वितरण खुले महासागरों, अधखुले सागरों या स्थल से घिरे सागरों एवं अन्तर्देशीय जलाशयों में विषमरूपी है—

1. **खुले महासागरों में खारापन** (Salinity in the open seas)—खुले समुद्रों में सबसे अधिक लवणता उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा के आस-पास मिलती है। यहाँ समुद्री जल में खारेपन की मात्रा 36 ग्राम प्रति किग्रा (36%) से भी अधिक रहती है। इन दोनों क्षेत्रों से ध्रुवों एवं भूमध्य रेखा की ओर लवणता की मात्रा कम होती जाती है, लेकिन भूमध्य रेखा की अपेक्षा यह ध्रुवों पर अधिक कम होती है। विषुवत् रेखा के आस-पास के महासागरों में लवणता 34% रहती है, जो कि अयनवृत्तीय खुले सागरों से कम है। इसका प्रमुख कारण विषुवत् रेखीय प्रदेश में वर्षभर भारी वर्षा एवं सदावाहिनी विशाल नदियों (अमेजन, कांगो आदि) द्वारा भारी मात्रा में स्वच्छ जल की प्राप्ति रहा है। इसके साथ-साथ अधिक समय तक आकाश में बादल छाये रहने एवं वायुमण्डल में निरन्तर ऊँची नमी बने रहने से वाष्पीकरण भी सीमित ही हो पाता है। समुद्रों में सबसे कम औसत लवणता ध्रुवीय प्रदेशों में 30% तक पाई जाती है, क्योंकि यहाँ पर वाष्पीकरण नहीं के बराबर होता है तथा तापमान भी शून्य के आस-पास रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में सर्दियों में बर्फ जमी रहती है एवं गर्मियों में बर्फ पिघलने से नदियों के जल में अपेक्षाकृत स्वच्छ जल की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। इसी भाँति दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका से प्राप्त हिमशिलाओं के पिघलने से गर्मियों में भी लवणता नहीं बढ़ पाती।

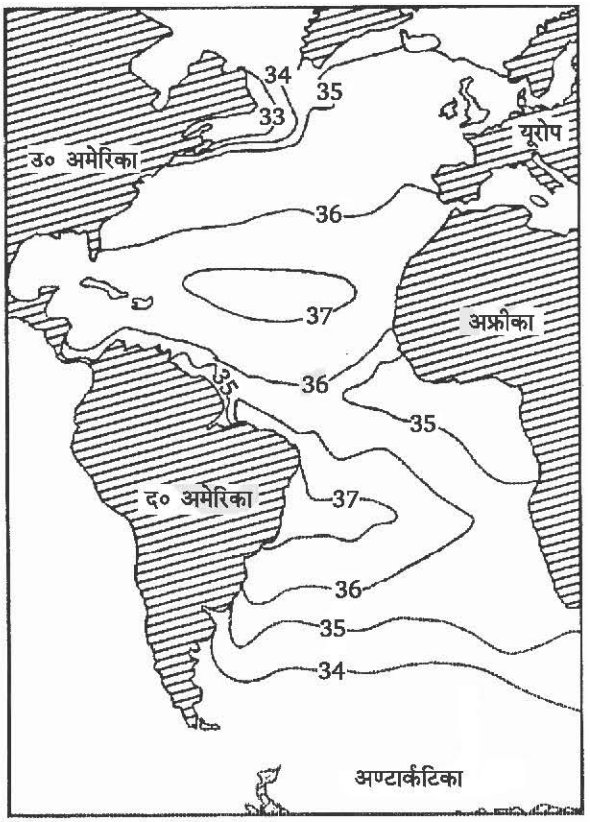

चित्र : अटलाण्टिक महासागर में लवणता का वितरण (%)

खुले महासागरों में उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में सारगोसा सागर व निकट के क्षेत्रों में विशेष शान्त स्थिति के कारण लवणता अधिक पाई जाती है। स्थानीय रूप से पायी जाने वाली सारगोसा घास के कारण सारगोसा सागर का जल निकट के अटलाण्टिक महासागर के जल से नहीं मिल पाता। यहाँ प्रतिचक्रवातीय दशाएँ भी पाई जाती हैं। यहाँ के तापमान ऊँचे, वायु शुष्क एवं आकाश प्राय: मेघरहित रहता है। ये सभी दशाएँ उच्च वाष्पीकरण व लवणता के विकास हेतु आदर्श दशाएँ हैं। अत: खुले सागरों में सबसे ऊँची लवणता सारगोसा सागर में 38% रहती है।

2. **अधखुले सागरों में लवणता** (Salinity in Partially enclosed seas)—ऐसे सागर जो कि महाद्वीपों से अधिकांश दिशा से घिरे रहते है एवं एक ओर से महासागरों से जुड़े रहते हैं, उनकी लवणता खुले सागरों की तुलना में पूर्णत: भिन्न होती है। ऐसे अधखुले सागर प्राय: जलडमरुमध्य द्वारा समुद्रों से जुड़े रहते हैं। सामान्यत: 10° से 40° अक्षांशों के मध्य के ऐसे सागरों की लवणता भी तापमान की भाँति ऊँची रहती है। ऊँची लवणता का आदर्श उदाहरण भूमध्य सागर, लाल सागर एवं फारस की खाड़ी हैं। पश्चिमी भूमध्य सागर की लवणता जहाँ 37% रहती है, वहीं पूर्वी भूमध्य सागर की लवणता 39% हो जाती है। काला सागर में अनेक नदियों के मिलने से अधिक मात्रा में स्वच्छ जल की प्राप्ति से लवणता 18% से 20% तक गिर जाती है। इसके दूसरी ओर हिन्द महासागर एवं स्वेज नहर के मध्य के शुष्क प्रदेश में स्थित लाल सागर की लवणता मरुभूमि से घिरे रहने से उत्तरी भाग में भूमध्य सागर से भी अधिक 41% हो जाती है, किन्तु दक्षिण की ओर अदन के निकट घटकर 37% तक पहुँच जाती है। अधखुले सागरों में सबसे अधिक लवणता यहीं पर उत्तरी हिन्द महासागर (अरब सागर) में स्थित फारस की खाड़ी में रहती है। यह प्रदेश भी कर्क रेखा के निकट है। यहाँ पर मरुस्थलीय दशाएँ पाई जाती हैं। इस प्रदेश में कोई बड़ी नदी भी नहीं मिलती है। अत: यहाँ की लवणता 48% तक

पहुँच जाती है। यहाँ का शान्त समुद्र, स्वच्छ आकाश, ऊँचे तापमान, निरन्तर वाष्पीकरण आदि कारक ऊँची लवणता की दशा के लिए आदर्श रहते हैं। इसी भाँति मेक्सिको की खाड़ी के दक्षिणवर्ती भाग की लवणता 38% रहती है, जबकि उत्तरी भाग में वर्षा होने व नदियाँ मिलने से 23% के आस-पास ही रहती है।

ध्रुवीय प्रदेशों की ओर से अधखुले सागरों में लवणता सामान्यत: नीची रहती है। इसका उत्तम उदाहरण बाल्टिक सागर है। बाल्टिक सागर के दक्षिणवर्ती भाग की लवणता 18% रहती है, वहीं उत्तरी बाल्टिक सागर या बोत्सनिया की खाड़ी की लवणता तेजी से गिरकर 6% तक एवं नदियों के मुहाने के निकट व रिया की खाड़ी में मात्र 2% रह जाती है। यहाँ का जल लगभग स्वच्छ जल जैसा लगता है। कनाडा में हडसन की खाड़ी व उत्तरी टापुओं की मध्यवर्ती खाड़ियों की लवणता भी काफी नीची रहती है।

3. **बन्द सागरों या जलाशयों की लवणता** (Salinity of enclosed or inland seas and water bodies)—आन्तरिक सागरों या झीलों की लवणता स्थानीय प्रदेशों की परिस्थिति के अनुसार कम-ज्यादा हो सकती है। शुष्क या मरुस्थलीय प्रदेशों एवं बड़ी व सदावाहिनी नदियों से विहीन आंतरिक सागरों में लवणता प्राय: ऊँची पाई जाती है। कई बार शुष्क प्रदेशों की बड़ी झील या सागर में दोहरी लवणता भी पाई जाती है। इसका उत्तम उदाहरण केस्पियन सागर है। इसके उत्तरी भाग में वोल्गा, यूराल, ऐम्बा आदि नदियाँ आकर मिलती हैं, अत: वहाँ की लवणता मात्र 12% से 14% ही रहती है, यह भाग अवसाद जमा होते रहने से छिछला भी है, जबकि दक्षिणवर्ती भाग में लवणता तेजी से बढ़कर 17% को भी पार कर जाती है। अन्तर्देशीय जलाशयों की लवणता विश्व में सबसे अधिक है। इजराइल एवं जोर्डन की सीमा पर स्थित मृत सागर की लवणता 337% पाई जाती है। ऐसे सागरों के जल का घनत्व भी अन्य सागरों से ऊँचा रहता है। यहाँ की लवणता विशेष ऊँची रहने का कारण शुष्क दशाएँ, ऊँचे तापमान, वाष्पीकरण एवं स्वच्छ जल की आपूर्ति नहीं होना है। इसी प्रकार विश्व की अन्य प्रसिद्ध खारी झीलों में पश्चिमी संयुक्त राज्य की साल्ट झील की लवणता 300% से कुछ अधिक पाई जाती है। मृत सागर की लवणता विशेष ऊँची रहने से इसमें मनुष्य आसानी से नहीं डूब पाता है।

विश्व में सर्वाधिक लवणता वाली झीलें

क्र०सं०	लवणता (प्रति 1000 ग्राम)	झील	स्थिति
1.	433	गेट ले जलाशय	इथियोपिया
2.	400	रेत्बा झील	सेनेगल
3.	350	वेन्डा झील	अन्टार्कटिका
4.	350	गराबोगेज्कॉल	तुर्कमेनिस्तान
5.	348	अस्सल झील	जिबुती
6.	337	मृत सागर	इस्रायल, जॉर्डन
7.	317	साल्ट लेक (उत्तर)	सं०रा० अमेरिका
8.	300	बास्कुन्चक झील	रूस
9.	280	लेक उर्मिया	ईरान
10.	230	वॉन लेक	टर्की

प्र.11. आर्कटिक महासागर के नितल के उच्चावच का वर्णन करते हुए महासागरीय कटक तथा महाद्वीपीय चबूतरे को परिभाषित कीजिए।

उत्तर

आर्कटिक महासागर के नितल का उच्चावच
(Relief Features of Arctic Ocean)

उत्तरी ध्रुव के चारों ओर विस्तृत वृत्ताकार आकृति के महासागर को आर्कटिक महासागर या उत्तरी ध्रुव महासागर कहते हैं। कुछ विद्वान इसे महासागर न मानकर विशाल परावृत्त सागर (Large mediterranean Sea) मानते हैं। यह प्राय: चारों ओर स्थल से आबद्ध है। इसका अधिकांश भाग सदैव हिम के रूप में जमा रहता है। इसका क्षेत्रफल लगभग 1 करोड़ 40 लाख वर्ग किमी है। इसका निमग्न तट 150 से 600 किमी चौड़ा है। इसकी औसत गहराई लगभग 1,300 मीटर है।

हिमाच्छादित रहने के कारण इसकी तली के बारे में बहुत कम जानकारी है। इसकी तली में 'यू' आकार की घाटियाँ पायी जाती हैं। आर्कटिक के आर-पार एशिया से उत्तरी अमेरिका के निमग्न तट तक एक मध्यवर्ती श्रेणी का विस्तार है, इसे लोमोनोसीव रिज

कहते हैं। यहाँ महाद्वीपों के निकट छिछले समुद्र पाये जाते हैं जिनमें ब्यूफोर्ट समुद्र, साइबेरियायी समुद्र, लेप्टेव समुद्र, कारा समुद्र, बेरेण्ट्स समुद्र प्रमुख हैं। यहाँ अनेक द्वीप भी पाये जाते हैं, जिनमें नोवायाजेम्ल्या, कैनेडियन द्वीप, स्पिट्सबर्जन आदि प्रमुख हैं।

कटक एवं पठार (Ridge and Plateau)

अपनी विशाल आकृति के कारण प्रशान्त महासागर मे कटक एवं पठारों का विस्तार व्यवस्थित रूप से नहीं पाया जाता है। यहाँ की महत्त्वपूर्ण श्रेणियाँ चापाकार आकृति में मध्य एवं दक्षिण प्रशान्त में फैली हुई हैं। प्रशान्त अण्टार्कटिक श्रेणी दक्षिण ऑस्ट्रेलिया में विस्तृत इण्डियन अण्टार्कटिका श्रेणी का ही पूर्वी विस्तार है। यह श्रेणी अमेरिका की ओर अनेक शाखाओं में बँटकर उत्तर-पश्चिम की ओर घूमती हुई फैली है। आगे यह ऑस्ट्रेलिया माउण्ट श्रेणी के नाम से दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर चली गई है। अमेरिका की ओर इसकी उपशाखाएँ नास्का श्रेणी, सान्तादि गोमेज श्रेणी, मध्य अमेरिका श्रेणी एवं उत्तर प्रशान्त श्रेणी के नाम से हैं। पूर्वी एशिया से पूर्व में भी अलग-अलग दिशाओं में श्रेणियाँ फैली हुई हैं। इनमें एम्परर सोमाउण्ट श्रेणी व मेरियाना बेसिन श्रेणी मुख्य हैं। मध्य प्रशान्त में हवाई श्रेणी एवं न्यू क्रिसमस श्रेणी मुख्य हैं। इसी भाँति ऑस्ट्रेलिया के पूर्व में न्यू केलेडोनिया एवं लॉर्ड हाक पठार विस्तृत है जबकि महासागर की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर दक्षिणी टसमानिया श्रेणी फैली है। जहाँ भी मुख्य श्रेणी से सहायक श्रेणी अलग होती है वहीं पठार जैसी आकृति बन जाती है। अधिकांश श्रेणियाँ महासागरीय बेसिन तल से 1,000 से 2,500 मीटर ऊँची हैं।

महाद्वीपीय चबूतरा (Continental Platform)

प्रशान्त महासागर का महाद्वीपीय चबूतरा पूर्वी भाग में विशेष संकरा है एवं पश्चिमी भाग में चीन सागर, जापान सागर एवं पूर्वी द्वीपसमूह के निकट विशेष रूप से अधिक चौड़ा है। यहाँ पर महाद्वीपीय मग्नतट 200 से 1,200 किमी तक चौड़ा है। पूर्वी द्वीपसमूह का सुण्डा चबूतरा विशेष छिछला एवं काफी बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। महाद्वीपीय ढाल की विशेषताएँ भी इसी भाँति हैं। यह सीधे बेसिन की ओर चले गये हैं। यहाँ एक विशेष बात यह है कि प्रशान्त महासागर में कन्दराएँ (कैनियन) महाद्वीपीय ढाल पर ही अधिक पाई जाती हैं। इनमें बेरिंग कैनियन, दक्षिणी कैलिफोर्निया कैनियन एवं जेमचुंग कैनियन उल्लेखनीय हैं। इसी भाँति सबसे अधिक द्वीपसमूह पश्चिमी एवं मध्यवर्ती भाग में फैले हुए हैं। पश्चिमी भाग में उत्तर से दक्षिण तक पूर्वी एशिया के सहारे मुख्य द्वीपसमूह चापाकार में फैले हुए हैं। एल्यूशियन, क्यूराइल, जापान, रिक्यू, फारमूसा, फिलीपीन एवं पूर्वी द्वीप समूह (इण्डोनेशिया) इनमें सम्मिलित हैं। ऐसा माना जाता है कि हिमयुग में ये द्वीप मुख्य महाद्वीप के ही हिस्से रहे होंगे। मध्यवर्ती प्रशान्त महासागर के अधिकांश द्वीपों की उत्पत्ति ज्वालामुखी उद्गारों एवं प्रवाल रचनाओं से हुई है। इनमें से अधिकांश द्वीप बहुत छोटे तथा 15° उत्तरी अक्षांश से 30° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य पूर्व-पश्चिम में फैले हैं। इनमें गुआम, मार्शल, केरोलिना, सोलोमन, फिजी, केलेडोनिया, न्यू हेब्राइड्स, टोंगा, हवाई, सोसायटी एवं क्रिसमस मुख्य हैं।

❑

UNIT-VIII

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. जीवोम से आप क्या समझते हैं?

उत्तर जीवोम या बायोम (Biome) शब्द ग्रीक भाषा के बायोस (Bios) से बना है, जिसका अभिप्राय होता है जीवन। सम्बन्धित प्राणियों एवं पादपों के वृहद एवं प्राकृतिक सहवास जो पृथ्वी पर दूर-दूर तक बसे क्षेत्रों में पाए जाते हैं, जीवोम कहलाते हैं। जीवोम में जलवायु की समानता के कारण ही वनस्पति प्राणी एवं उनका जीवन सामान्यत: समान होता है। प्रमुख वनस्पति समुदायों से सम्बन्धित होने के कारण ही पादप परिस्थितिकीविदों ने इन्हें जीवोम नाम दिया।

प्र.2. जन्तु विसरण को प्रभावित करने वाले कारण कौन-से हैं?

उत्तर जन्तु विसरण को प्रभावित करने वाले कारण निम्न हैं—

1. **भौतिक कारक**—जल-स्थल का वितरण, उच्चावच, जलवायु, भूगर्भिक हलचलें, वनस्पति आदि।
2. **जैविक कारक**—जीवों के आनुवंशिक गुण, पर्यावरण प्रतिक्रिया, प्रवास की प्रवृत्ति, गतिशीलता, मानवीय कारक आदि।

प्र.3. त्वरित विसरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर प्राणियों द्वारा आकस्मिक रूप से किया जाने वाला द्रुत प्रवसन त्वरित विसरण कहलाता है। टिड्डे, पतंगें, लैमिंग आदि त्वरित विसरण करने वाले प्राणी हैं। वनों में आग लग जाने, वनों की कटाई होने या ज्वालामुखी उद्‌गार होने पर भी विभिन्न जन्तु त्वरित विसरण करते हैं।

प्र.4. वन किसे कहते हैं?

उत्तर ऐसे पादप संघ को वन कहते हैं जिसमें वृक्षों एवं अन्य काष्ठिक (Woody) पादपों की प्रमुखता व बाहुल्य होता है अर्थात् यह प्राकृतिक वनस्पति का एक प्रकार है, जहाँ उच्चावच, मृदा तथा जलवायु की अनुकूल दशाओं के कारण वृक्षों की वृद्धि अधिक होती है। अन्य वनस्पति की अपेक्षा वृक्षों को सूर्य प्रकाश, उष्णता तथा नमी की अधिक आवश्यकता होती है। इन प्राकृतिक दशाओं में भिन्नता के कारण वनों में भी प्रादेशिक भिन्नता पायी जाती है।

प्र.5. घास के मैदान से क्या अभिप्राय है?

उत्तर पृथ्वी पर जिन भागों में अर्द्धशुष्क जलवायु दशाएँ पायी जाती हैं, वहाँ बड़े वृक्षों का विकास न होकर झाड़ व शाक वाले पादप अधिक उत्पन्न होते हैं। इनका विस्तृत भाग घास से आच्छादित होता है, अत: इन्हें घास स्थल या घास के मैदान कहते हैं। यद्यपि इनमें कुछ वृक्ष व झाड़ भी मिश्रित रूप से पाये जाते हैं। सामान्यत: 50 से 75 सेमी औसत वर्षा तथा उपजाऊ मृदाओं वाली अनुकूल दशाओं में उन्नत घास स्थल विकसित होते हैं। इनका विस्तार उष्ण कटिबंध से लेकर शीत कटिबंध तक पाया जाता है।

प्र.6. जीवमण्डल से आप क्या समझते हैं?

उत्तर जीवमण्डल शब्द का प्रयोग पृथ्वी के उस भाग के लिए किया जाता है, जो कि जीवन के विभिन्न स्वरूपों का आवास है तथा जीवमण्डल के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण क्षेत्र सम्मिलित है, जहाँ कार्बनिक जीवन मिलता है अर्थात् भूतल का वह सीमित क्षेत्र जहाँ स्थलमण्डल, वायुमण्डल और जलमण्डल एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तथा जिसमें सभी प्रकार के जीव रहते हैं, जीवमण्डल कहलाता है।

प्र.7. जीवमण्डल के विकास पर प्रकाश डालते हुए संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर पृथ्वी पर स्थल, वायु एवं जल तीनों ही मण्डल पाये जाने से जीवमण्डल का विकास सम्भव हो पाया है। पृथ्वी पर जीवमण्डल का अस्तित्त्व आज से लगभग 100 करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा जबकि महासागरों में प्रथम स्तरीय जीवों (अमीबा) की उत्पत्ति हुई। तब से लेकर आज तक जल व स्थल पर जीव-जन्तुओं तथा पादपों की लाखों प्रजातियों का विकास हो चुका है। भू-गर्भ में पाये जाने वाले कोयला व खनिज तेल भण्डार भी पुरा-वनस्पति व पुरा-जीवों के ही अवशेष हैं।

प्र.8. सागर तलीय जीवोम में सागर तली पर पाए जाने वाले पादपों तथा जन्तुओं को क्या कहते हैं?

उत्तर सागर तलीय जीवोम में सागर तली पर पाये जाने वाले पादपों तथा जन्तुओं को सम्मिलित करते हैं। इन्हें बेन्थस कहा जाता है। बेन्थस समुदाय के प्राणियों व पादपों की प्रजातियों में अत्यधिक विविधता पायी जाती है। पादपों में सी-वीड्स, लाइकेन, शैवाल व कच्छप घास तथा प्राणियों में शार्क, ऑक्टोपस, सी-कुकुम्बर आदि प्रमुख हैं।

प्र.9. इकोटोन किसे कहते हैं?

उत्तर जलीय जीवोम को लवणता के आधार पर ताजा जलीय जीवोम तथा समुद्री जीवोम में बाँटते हैं। दो विभिन्न जीवोम के मध्य विभाजन करने वाले संक्रमण क्षेत्र को संक्रमिका या इकोटोन (Ecotone) कहते हैं। यहाँ जीवों की जातियों की संख्या सर्वाधिक होती है।

प्र.10. जीवोम के विभिन्न प्रकारों को नामांकित कीजिए।

उत्तर

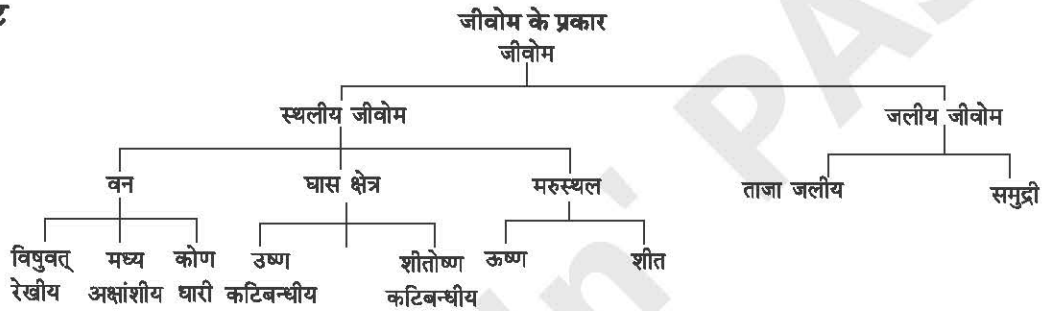

प्र.11. जीवमण्डल के विस्तार की सीमाएँ कहाँ तक विस्तृत हैं?

उत्तर जीवमण्डल की सीमाएँ अत्यधिक विस्तृत है। कई सूक्ष्म जीव तथा बीजाणु वायुमण्डल में हजारों मीटर ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार कई सूक्ष्म जीव भू-गर्भ में कई मीटर गहराई पर भी देखे गये हैं। अधिकांश विद्वानों के अनुसार धरातल से 10 किमी ऊँचाई तथा 5 किमी गहराई तक का भाग जीवमण्डल की बाहरी सीमा में आता है, किन्तु मोटे तौर पर 90 प्रतिशत प्राणी व वनस्पति मात्र 3 किमी की मोटाई में फैले हुए कटिबन्ध में पाये जाते हैं। यह कटिबन्ध भू-पृष्ठ से 1.5 किमी ऊपर तथा 1.5 किमी नीचे तक ही सीमित है। पृथ्वी की सतह से नीचे की ओर जाने पर ऑक्सीजन व प्रकाश की मात्रा तेजी से घटती जाती है तथा दाब एवं ताप बढ़ता जाता है। वायुमण्डल में जैसे-जैसे ऊपर की ओर जाते हैं, ऑक्सीजन, तापमान तथा वायुदाब घटता जाता है। जीवन वहीं पाया जाता है, जहाँ इसके लिए अनुकूल प्राकृतिक दशाएँ पायी जाती हैं। इस प्रकार, जीवमण्डल की सीमा उन प्राकृतिक तत्त्वों या दशाओं की उपस्थिति पर निर्भर करती है जो सजीवों के उत्पन्न होने तथा जीवित रहने के लिए आवश्यक होती है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पादप विसरण से आप क्या समझते हैं? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

पादप विसरण
(Dispersal of Plants)

पौधे अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं, उनमें जन्तुओं के समान गतिशीलता नहीं पाई जाती है। वर्तमान में भूमण्डल पर पादपों का वितरण व्यापक रूप में पाया जाता है। जीव वैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात होता है कि वर्तमान में अनेक क्षेत्रों में ऐसे पादप पाए जाते हैं, जिनका मूल स्थान वास्तव में अन्यत्र था। प्रश्न यह उठता है कि अपने उत्पत्ति स्थल से पादपों का फैलाव या विसरण कैसे हुआ? पौधों के विसरण के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है, जो इनके बीज या फलों को अन्यत्र ले जाए।

पौधों का फैलाव या विसरण मुख्यत: उनके बीजों तथा फलों के प्रकीर्णन (Dispersal of seeds and fruits) द्वारा होता है। बीजों के अपने मूल पादप से अन्यत्र बिखरने या वितरित होने को बीजों का प्रकीर्णन या विसरण कहते हैं। विसरण के कारण ही धरातल पर वनस्पतियों के वितरण में भिन्नता पाई जाती है। यदि किसी पौधे के सभी बीज झड़कर उसके आस-पास अंकुरित हो जाएँ तो उनकी समान आवश्यकताओं के कारण सीमित स्थान में जीवन के लिए संघर्ष होगा। इसके परिणामस्वरूप अनेक पौधे मर जाएँगे व शेष भी स्वस्थ वृद्धि नहीं कर पाएँगे। इस प्रकार पादपों की स्वस्थ वृद्धि तथा विभिन्न जातियों का अस्तित्त्व बनाए रखने के

TOUCH 'n' PASS

लिए प्रकीर्णन आवश्यक है। फलों तथा बीजों में विभिन्न प्रकार के अनुकूलन पाये जाने से ये विभिन्न कारकों द्वारा मातृ पौधे से दूर पहुँचा दिए जाते हैं। वहाँ अनुकूल दशाएँ मिलने पर ये अंकुरित होकर प्राकृतिक रूप से स्थापित हो जाते है। प्रकीर्णन का विभिन्न कारणों से बहुत महत्त्व है—

1. जीवन के लिए संघर्ष से बचने के लिए,
2. विभिन्न जातियों का अस्तित्त्व बनाए रखने के लिए,
3. पादप जातियों के व्यापक वितरण के लिए,
4. प्राकृतिक व मानवीय प्रकोपों से होने वाले विनाश से बचने के लिए,
5. नवीन जातियों की उत्पत्ति व पादप विकास के लिए आदि।

पौधों का विसरण बीजों व फलों द्वारा तथा स्वयं पौधों द्वारा भी होता है। सर्वाधिक विसरण बीजों द्वारा ही होता है, जो कि निम्न तथ्यों पर निर्भर करता है—

1. विसरित होने वाले बीजों की मात्रा,
2. बीजो की बनावट व आकार,
3. विसरण का माध्यम,
4. विसरण मार्ग की दूरी,
5. विसरण मार्ग में आने वाली बाधाएँ और
6. नवीन आवास में बीजों के अंकुरण तथा अनुकूलन की सामर्थ्य, आदि।

प्र.2. पृथ्वी पर प्राणियों का विसरण किन रूपों में देखने को मिलता है?

उत्तर

प्राणियों के विसरण के प्रकार
(Types of Dispersal of Animals)

पृथ्वी पर प्राणियों का विसरण या फैलाव अनेक रूपों में देखने को मिलता है। इनमें से कतिपय निम्न हैं—

1. **त्वरित विसरण**—प्राणियों द्वारा आकस्मिक रूप से किया जाने वाला द्रुत प्रवसन त्वरित विसरण कहलाता है। टिड्डे, पतंगे, लैमिंग आदि त्वरित विसरण करने वाले प्राणी हैं। वनों में आग लग जाने, वनों की कटाई होने या ज्वालामुखी उद्‌गार होने पर भी विभिन्न जन्तु त्वरित विसरण करते हैं।
2. **क्रमिक या दीर्घकालिक विसरण**—दीर्घकाल तक शनैः-शनैः होने वाले प्राणियों के प्रवसन को क्रमिक विसरण कहते हैं। यह प्रायः जलवायु परिवर्तन का परिणाम होता है।
3. **ऋत्विक विसरण**—प्रतिकूल मौसमी दशाओं से बचने के लिए या चारे एवं पानी की कमी वाले शुष्क मौसम में जन्तुओं द्वारा ऋत्विक प्रवास किया जाता है। ऋतु परिवर्तन होने पर या अनुकूल दशायें होने पर जन्तु पुनः अपने मूल आवासों में लौट आते हैं। साइबेरिया के पक्षियों द्वारा किया जाने वाला सैंकड़ों किमी का प्रवसन इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।
4. **मानव जनित विसरण**—मानव द्वारा अपने उपयोग की दृष्टि से बड़ी संख्या में जन्तुओं को पालतू बनाया गया। उसने अधिवास निर्माण, वनों की कटाई, कृषि भूमि का विस्तार, बाँध निर्माण, खनन, शिकार इत्यादि गतिविधियों से वन्य प्राणियों को स्थानान्तरण के लिए बाध्य किया। मानवीय क्रियाकलापों से होने वाला जन्तु विसरण जनसंख्या वृद्धि से अधिक प्रभावित हुआ है।

प्र.3. पादप अनुक्रमण को परिभाषित करते हुए इसके कारकों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

पादप अनुक्रमण
(Plant Sequencing)

क्लीमेण्ट्स के शब्दों में, "पादप अनुक्रमण वह प्राकृतिक प्रक्रम है, जिसके द्वारा पादप समुदायों के विभिन्न समूहों द्वारा क्रमिक रूप से एक ही क्षेत्र का उपनिवेशन (colonization) होता है।" किसी भी देश या काल का पादप समुदाय स्थायी नहीं होता है, बल्कि पर्यावरण के अनुरूप स्वयं को ढालने तक इसका अनुक्रमण होता रहता है। एक वनस्पतिविहीन ऊसर और अनुपजाऊ भूभाग पर सर्वप्रथम कोई पादप प्रजाति पनपने लगती है, तथा शनैः-शनैः वहाँ स्थापित हो जाती है। इस प्रक्रिया को पादप आक्रमण (plant invasion) कहते हैं। एक ही प्रजाति के पौधे वहाँ पनपने पर उनमें पोषण एवम स्थान की प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ होती है। पौधों द्वारा उनके आवास क्षेत्र में लाया गया परिवर्तन पादप प्रतिक्रिया कहलाता है। कालान्तर में प्रदेश विशेष में पादप समुदाय स्थायित्व प्राप्त करता है। स्थायित्व प्राप्ति की यह प्रक्रिया ही पादप अनुक्रमण कहलाती है। पादप अनुक्रमण के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारक अग्रलिखित हैं—

1. **जलवायु सम्बन्धी**—किसी क्षेत्र की जलवायु में अत्यधिक परिवर्तन हो जाने पर वनस्पति नष्ट हो जाती है तथा परिवर्तित जलवायु के अनुकूल नवीन पादप समुदाय का विकास होता है।
2. **भू-आकृतिक कारक**—अपरदनकारी शक्तियों द्वारा होने वाले अपरदन से मृदा की ऊपरी परत नष्ट हो जाती है तथा अनाच्छादित क्षेत्र में अनुक्रमण द्वारा नवीन पादप समुदाय का विकास होता है। विभिन्न अपरदनकारी शक्तियों द्वारा अपरदित मृदा के अन्यत्र निक्षेपण से पूर्व में उपस्थित पादप दब जाते हैं। अत: यहाँ भी अनुक्रमण से नए समुदाय विकसित होते हैं।
3. **आकस्मिक बल**—भूकम्प एवम् ज्वालामुखी जैसे आकस्मिक बलों से भू-भाग का उत्थान या अवतलन होता है। ज्वालामुखी उदगार से निकले पदार्थ प्रभावित क्षेत्र में जमा होकर पूर्व में स्थापित वनस्पति आवरण को नष्ट कर देते हैं। यहाँ अनुक्रमण से नए पादप समुदाय का विकास होता है।
4. **जैविक कारक**—वनों को जलाकर या काटकर मानव निरन्तर पादपविहीन क्षेत्रों का निर्माण करता है। पेड़-पौधों में विभिन्न प्रकार के रोग फैलने पर भी वे नष्ट हो जाते हैं। शाकाहारी पशुओं की संख्या अत्यधिक होने पर वे वनस्पति को समूल चर कर नष्ट कर देते हैं। ऐसे क्षेत्रों में अनुक्रमण द्वारा ही नवीन वनस्पति आवरण का विकास होता है।

प्र.4. पौधों व प्राणियों का विकास किस प्रकार हुआ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

पौधों व प्राणियों का विकास
(Evolution of Plants and Animals)

ज्ञात ब्रह्माण्ड में पृथ्वी ही एक मात्र ऐसा ग्रह है जहाँ जीवों का विकास हुआ है। विभिन्न प्राणियों और पादपों का जो स्वरूप हम आज देखते हैं, प्रारम्भ में ऐसा नहीं था। जीवों को वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने में अरबों-खरबों वर्ष लगे। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जीवों के स्वरूप में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। शनै:-शनै: परिवर्तन से जीवन के सरल रूप के जटिल रूप में निर्माण को जैविक विकास कहते है। जीवों का वर्तमान जटिल स्वरूप क्रमश: परिवर्तन का परिणाम है। यह प्रक्रिया आज भी सतत् रूप से जारी है।

पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव कब तथा किस प्रकार से हुआ? इसका सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए जीवविज्ञ सदैव प्रयत्नरत रहे हैं। जीवों द्वारा शैलों पर अंकित चिह्न या परिरक्षित अवशेष जीवाश्म (fossils) कहलाते हैं। जीवाश्मों के अध्ययन से पृथ्वी पर जीवों के विकास के अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं। जो कुछ हम जानते हैं, उसके अनुसार महाकल्पों (Eons) पूर्व इस धरती पर जीवित जीवद्रव्य विद्यमान था और इसकी उत्पत्ति समुद्रों में हुई थी, जो कि उस समय पृथ्वी के अधिकांश भाग पर फैले हुए थे। इस जीव द्रव्य की संरचना अत्यन्त सरल थी और इसकी सूक्ष्मता तथा आकारिकी वर्तमान जीवाणुओं व जलाशयी शैवालों के सदृश थी। अनेक जीव वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वी पर प्रथम जीव रसायन-संश्लेषी जीवाणु थे तथा इनसे आदिम हरे पादप विकसित हुए।

प्र.5. जन्तु विसरण के प्रमुख साधनों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर

जन्तु विसरण के साधन
(Means of Dispersal of Animals)

पृथ्वी पर जन्तुओं का विसरण या वितरण विभिन्न साधनों एवं विधियों द्वारा होता है, जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1. **स्थल सेतु** (Land Bridge)—दो बड़े स्थलीय भागों या महाद्वीपों को जोड़ने वाले संकरे स्थल उनके मध्य सेतु या संयोजक के रूप में होते हैं। स्थलीय जन्तु इनसे होकर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं किन्तु ये स्थल संयोजक जलीय जन्तुओं के गमन में अवरोधक का कार्य करते हैं। आदिकाल में एशिया व उत्तरी अमेरिका महाद्वीप संकीर्ण स्थल सेतु से जुड़े हुए थे। इससे होकर बड़ी संख्या में स्थलीय प्राणियों का आगमन और प्रवसन हुआ। आज भी प्राणियों के 150 सजीव वंश दोनों महाद्वीपों में समान मिलते हैं। इनके जीवाश्मों में भी काफी समानता देखने को मिलती है। कालान्तर में यह स्थल सेतु जलमग्न हो गया। वेरिंग जलडमरुमध्य के द्वीप इसके अवशेष हैं। इसी प्रकार का स्थल सेतु वर्तमान में उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका को जोड़ता है।

   ठीक इसी प्रकार समद्र के दो विस्तृत क्षेत्रों को जोड़ने वाले संकीर्ण समुद्री विस्तार या जल संयोजी (strait) भी जलीय प्राणियों के विसरण में सहायक होते हैं।
2. **प्राकृतिक राफ्ट** (Natural Raft)—प्राय: नदियों व समुद्रों में प्रवाहित होने वाले वृक्षों के तनों या लक्कड, घास, पत्तियों, बेलों व विसर्पी लताओं के उलझे रहने से प्राकृतिक राफ्ट का निर्माण हो जाता है। कभी-कभी इनमें मिट्टी के जमाव हो जाने से वनस्पति भी उग आती है। इन तैरते हुए प्राकृतिक राफ्ट पर बैठकर स्थलीय जन्तु कई किलोमीटर तक

की यात्रा करके अन्य स्थानों पर पहुँच जाते हैं। इन पर प्राय: बन्दर, बिल्ली, गिलहरी, सरीसृप आदि छोटे जन्तु बैठ जाते हैं। प्राकृतिक राफ्ट पर यात्रा के दौरान अनेक प्राणी काल कवलित हो जाते हैं। मुख्य भूमि से द्वीपों तक जन्तुओं का प्रवसन इसी विधि से होता है।

3. **वायु** (Wind)—उड्डयनशील प्राणियों के विसरण में वायु एक मुख्य साधन है। पक्षियों के अलावा पुटीकृत प्रोटोजोन्स, सूक्ष्म जीव, सूक्ष्म स्नेल, कृमि, उड़ने वाले कीट आदि वायु द्वारा सैकड़ों किलोमीटर दूर तक उड़ाकर ले जाए जाते हैं। टिड्डी दल वायु के प्रवाह की दिशा में बढ़ते जाते हैं। मुख्य भूमि से द्वीपों तक प्राणियों के विसरण में वायु द्वारा वाहित सूक्ष्म जीव बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं। पक्षियों के परों व पंजों से चिपककर भी अनेक सूक्ष्म जीव व उनके अण्डे एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं।
4. **मानव द्वारा** (By Man)—प्राणियों के पृथ्वी के विभिन्न भागों में वितरण व फैलाव में मानव भी महत्वपूर्ण साधन रहा है। मानव द्वारा नए स्थलों की खोज व यात्रा के दौरान ले जाए गये जन्तु नवीन क्षेत्रों में जाकर अपनी जाति को फैलाते हैं। ऑस्ट्रेलिया में सर्वप्रथम डिंगों जाति का कुत्ता यूरोपीय लोगों के साथ ही आया था। पालतू पशुओं के साथ ही वन्य प्राणियों के विसरण में भी मानव की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विलुप्त होते जा रहे वन्य प्राणियों के संरक्षण एवम् संवर्द्धन के लिए स्थापित वन्य जीव अभयारण्य व नेशनल पार्क इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

प्र.6. धरातल पर वनस्पति के वितरण को किस प्रकार दर्शाया गया है?

उत्तर

वनस्पति का वितरण
(Distribution of Vegetation)

भूमध्य रेखा से लेकर ध्रुवों तक वनस्पतिजगत में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। वनस्पतियों के वितरण में पायी जाने वाली असमानता, इसे प्रभावित करने वाले कारकों जैसे जलवायु, मृदा, जैविक कारक आदि के कारण है। वनस्पति जल व स्थल दोनों ही भागों में पायी जाती है। स्थलीय पादपों का वितरण पर्यावरण के साथ अनुकूलन, विकास, अनुक्रमण तथा प्रकीर्णन का परिणाम होता है। धरातल पर वनस्पति के वितरण को अनेक प्रकार से दर्शाया जाता है।

विश्व में वनस्पति का वितरण कहीं लगातार पेटी के रूप में है तो कहीं छितराये हुए रूप में है। संततता के आधार पर वनस्पतियों का वितरण प्रतिरूप दो प्रकार का होता है.संतत वितरण, असंतत वितरण।

1. **संतत वितरण** (Continuous Distribution)—सामान्यत: समान जलवायु प्रदेशों में व मृदा प्रदेशों में एक जैसे पादप पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों में पर्वत, समुद्र आदि धरातलीय अवरोध या जैविक कारक ही इनकी नियमितता.को तोड़ते हैं। विस्तार तथा स्थिति के आधार पर संतत वितरण के चार प्रतिरूप देखने को मिलते हैं—
   (i) **विश्वजनीन**—कुछ पादप प्राय: प्रत्येक स्थलखण्ड पर पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—समुद्रतट पर पायी जाने वाली सेण्डवर्ट वनस्पति लगभग सभी कटिबन्धों में पायी जाती है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की घासें भी लगभग सभी स्थलों पर पायी जाती हैं।
   (ii) **परिध्रुवीय**—कुछ पादप उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवीय क्षेत्रों में मुख्यत: आर्कटिक प्रदेश में फैले हुए हैं जो कि मध्यवर्ती भाग में नहीं पाये जाते हैं। उदाहरण—लाइकेन, मॉस तथा कुछ पुष्पीपादप।
   (iii) **मध्य अक्षांशीय**—कुछ पादपों का विस्तार उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्ध के मध्यवर्ती अक्षांशों में स्थित बोरियल व आस्ट्रल प्रदेशों में है। उदाहरण—गजबेरी, राइब आदि।
   (iv) **उष्ण कटिबंधीय**—कुछ पादप उष्ण व उपोष्ण कटिबंध में सर्वत्र पाये जाते हैं। उदाहरण—पाम, सेन्चरस घास आदि।
2. **असंतत वितरण** (Discontinuous Distribution)—कभी-कभी कुछ पादप दो या दो से अधिक क्षेत्रों में पाये जाते हैं, जिनके मध्य की दूरी बहुत अधिक होती है। ऐसा धरातलीय, जलवायवीय तथा मानवीय कारकों से हो सकता है। उदाहरण-मैग्नोलिया दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पूर्वोत्तर अमेरिका में पाया जाता है। इसी प्रकार टॉरी पाइन उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग, जापान व चीन के तटवर्ती भागों में पाया जाता है।
3. **विशेष क्षेत्रीय वितरण** (Endemic Distribution)—कुछ पादपों का वितरण किसी एक ही क्षेत्र में सीमित होता है। उदाहरण—सुगरमेपल पूर्वी अमेरिका में, यलोपाइन पश्चिमी अमेरिका में आदि।

प्राकृतिक आवास के आधार पर—पादपों का प्राकृतिक आवास जलवायु दशाओं से अत्यधिक प्रभावित होता है। प्राकृतिक आवास में परिवर्तन के साथ ही वनस्पति में भी परिवर्तन आ जाता है। प्राकृतिक आवास के आधार पर वनस्पति के वितरण को भौगोलिक वितरण भी कहते हैं, जो निम्नानुसार है—1. वन, 2. घास स्थल, 3. टुण्ड्रा वनस्पति, 4. मरुस्थलीय वनस्पति।

प्र.7. उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र से आप क्या समझते हैं?

उत्तर उष्ण कटिबंधीय जलवायु दशाओं में विषुवत रेखीय सघन वनों का क्षेत्र प्राणियों की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। इन क्षेत्रों में प्राणियों में अत्यधिक विविधता पायी जाती है। यहाँ स्तनधारियों की 650, पक्षियों की 2000, रेंगने वाले जन्तुओं की 624 तथा कीड़े-मकोड़ों की 2.5 लाख जातियां पायी जाती हैं। यहाँ धरातल पर प्रतिकूल दशाओं के कारण वृक्षवासी जन्तुओं की अधिकता है। इनमें लंगूर, वानर, वनमानुष, बबून, छिपकली, गिलहरी, पक्षी, सर्प आदि प्रमुख हैं। दलदल तथा अत्यधिक नमी के कारण मच्छर व असंख्य विषैले कीड़े-मकोड़े भी पाए जाते हैं। इनमें त्सी-त्सी मक्खी प्रमुख है। नदियों में घडियाल, मगरमच्छ व हिप्पोपोटेमस जैसे विशाल जलचर व अनेक प्रकार की मछलियाँ पाई जाती हैं।

उष्ण कटिबंधीय घास स्थलों में अनेक प्रकार के शाकाहारी व मांसाहारी जन्तु पाये जाते हैं। जेब्रा, जिराफ आदि इस क्षेत्र के विशिष्ट प्राणी हैं। शेर, चीता, तेंदुआ, सूअर, हाथी, हिरण, लोमड़ी, भेडिया, लकड़बग्गा, नीलगाय, जंगली बिलाव आदि प्रमुख जन्तु हैं। कीड़े-मकोड़ों की भी अनेक जातियां पाई जाती हैं। पक्षियों में तोता, मैना, गौरेया, शतुरमुर्ग आदि का वितरण उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र में अधिक है। उष्ण कटिबंधीय मरुस्थलों में वनस्पति बहुत कम होने के कारण जन्तु भी बहुत कम संख्या में पाए जाते हैं। इनमें गजैले, काला हिरण, सांप, बटेर, गोडावण, टिड्डा आदि प्रमुख हैं।

समुद्री जन्तुओं में मछलियाँ, प्रवाल आदि सम्मिलित हैं। 25° उत्तरी एवं दक्षिणी अक्षांशों के मध्य गर्म समुद्रों में प्रवाल भित्तियों का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ है। उष्ण कटिबंधीय समुद्रों में मछलियों के भोजन प्लेंकटन की मात्रा कम होने के कारण मछलियाँ अपेक्षत: कम पाई जाती हैं। इनमें शार्क, सेल, स्वॉर्डटेल, केटफिश, मॉली व उड़न मछलियाँ सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों में विषैली मछलियाँ भी पायी जाती हैं।

प्र.8. प्राणियों के विसरण या फैलाव से क्या आशय है? समझाइए।

उत्तर

प्राणियों का विसरण या फैलाव
(Dispersal of Animals)

धरातल पर आज जो जीव-जन्तुओं का वितरण पाया जाता है, प्रारम्भ में ऐसा नहीं था। विभिन्न प्रजाति के प्राणियों की उत्पत्ति क्षेत्र विशेष तक सीमित थी। फिर विभिन्न प्राणी दुनिया के विभिन्न भागों में कैसे पहुँचे? किसी क्षेत्र विशेष में प्राणियों का कोई अमुक वर्ग क्यों अनुपस्थित है? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर है, प्राणियों का प्रवसन या स्थानान्तरण। प्राणी विभिन्न विधियों व साधनों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में फैलते हैं। अपने उद्‌भव स्थल से प्राणियों का अन्य क्षेत्रों में गमन, प्रसरण, प्रवास या स्थानान्तरण जन्तु विसरण कहलाता है।

पादपों के विसरण के समान ही प्राणियों के फैलाव का जैविक विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। यदि संतति बढ़ने के उपरान्त भी किसी जाति के समस्त प्राणी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहेंगे तो खाद्य संसाधनों पर दबाव बढ़ जाएगा। समान आवश्यकताओं के कारण जीवन के लिए संघर्ष तेज होगा। परिणामस्वरूप अनेक जीव समाप्त हो जाएंगे। प्रकृति ने प्राणियों को गतिशीलता प्रदान की है, अत: प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर वे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन कर सकते हैं। इस प्रकार नवीन क्षेत्रों में अनुकूल दशाएँ मिलने पर प्राणी अपना वास बना लेते हैं एवं प्राणियों का फैलाव होता जाता है। जीवन के लिए संघर्ष से बचने, जातियों का अस्तित्त्व बनाए रखने, जनसंख्या वृद्धि व भोजन की कमी होने, प्राकृतिक व मानवीय प्रकोपों से बचने इत्यादि कारणों से प्राणियों का फैलाव आवश्यक हो जाता है।

वितरण के रोध—ऐसे कारण जो प्राणियों के फैलाव एवं वितरण को नियन्त्रित करते हैं या बाधा उत्पन्न करते हैं, प्राणियों के वितरण के रोध (Barriers of Dispersal) कहलाते हैं। इनमें भौतिक, जलवायु तथा जैविक बाधाएँ सम्मिलित हैं। ऊँची पर्वत शृंखलायें, महाद्वीप तथा महासागर, जलवायु की भिन्न दशाएँ, भोज्य पदार्थों के रूप में विशिष्ट वनस्पति या प्राणियों का अभाव आदि प्राणियों के स्थानान्तरण में आने वाली प्रमुख बाधाएँ हैं। स्वयं मानव तथा उसके क्रियाकलाप प्राणियों के फैलाव में आने वाला प्रमुख अवरोध हैं।

प्र.9. टुण्ड्रा वनस्पति के बारे में आप क्या जानते हैं? मरुस्थलीय वनस्पति के विषय में भी बातइए।

उत्तर

टुण्ड्रा वनस्पति
(Tundra Vegetation)

टुण्ड्रा प्रदेश का विस्तार 60° से 75° उत्तरी अक्षांश में है। सामान्यत: टुण्ड्रा प्रदेश में वह समस्त भाग सम्मिलित है जो आर्कटिक महासागर को घेरता है। शंकुधारी वन इसकी दक्षिणी सीमा बनाते हैं। यह अलास्का, उत्तरी कनाडा दक्षिणी ग्रीनलैण्ड के तटवर्ती

भाग, स्कैण्डिनेविया के उत्तरी भाग तथा साइबेरिया के उत्तरी भाग में फैला हुआ है। टुण्ड्रा प्रदेश में शीतकाल की अवधि बहुत लम्बी होने तथा हिमाच्छादित रहने के कारण मात्र ग्रीष्मकाल की लघु अवधि में ही कुछ वनस्पति पायी जाती है। वृक्षों के उगने के लिए अनुकूल दशाएँ न होने के कारण यह क्षेत्र वृक्ष रहित हैं।

मॉस, लाइकेन, रेण्डियर व आर्कटिक फर्न टुण्ड्रा प्रदेश की प्रमुख वनस्पति है। टैगा वनों की ओर घास एवं झाड़ीनुमा वनस्पति मिश्रित रूप में मिलती है। इनमें सेजबूश, सैक्सीफ्रेज, काउबेरी, बौने आकार की बर्च, विलो व स्कॉट पाइन सम्मिलित है। अपेक्षाकृत आर्द्रभागों में स्फेग्नम घास मिलती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में भी बहुत सीमित क्षेत्र में टुण्ड्रा वनस्पति पायी जाती है। इसका विस्तार दक्षिण अमेरिका में टियेरा डेल फ्यूगो व अण्टार्कटिका महाद्वीप के तटवर्ती द्वीपों पर है।

मरुस्थलीय वनस्पति (Desert Vegetation)

कम वर्षा तथा अधिक तापमान वाली शुष्क जलवायु दशाओं में पायी जाने वाली वनस्पति इसमें सम्मिलित है। विश्व के उष्ण मरुस्थलों में सहारा, ऑस्ट्रेलिया, तुर्किस्तान, अरब, थार, नामिब व कालाहारी प्रमुख हैं। इन क्षेत्रों में वर्षा का औसत 25 सेमी से कम रहता है अत: मरुदभिद् वनस्पति पायी जाती है। मरुस्थलीय भागों में वनस्पति बहुत ही कम तथा छितराई हुई होती है। वृक्षों का प्राय: अभाव होता है, किन्तु नखलिस्तानों के निकट खजूर के वृक्ष पाए जाते हैं। वनस्पति के नाम पर मुख्यत: कांटेदार झाड़ियां व कैक्टस पाये जाते हैं। वर्षा काल में कुछ घासें उग आती है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. जीवमण्डल की संकल्पना की परिभाषा देते हुए इसके प्रमुख घटकों का विवेचन कीजिए।

उत्तर

जीवमण्डल की संकल्पना
(Concept of Biosphere)

भूगोल भूतल तथा उसके निवासियों का विज्ञान है। यहाँ 'भू-तल' का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसमें पृथ्वी के समस्त स्थल खण्डों और महासागरों के ऊपरी तल के अलावा थोड़ी गहराई तक का वह भाग भी सम्मिलित है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव धरातल पर निवास करने वाले प्राणियों तथा वनस्पति पर पड़ता है एवं भूपृष्ठ के सम्पर्क में आने वाली वायुमण्डल की निचली परत का भाग भी इस अध्ययन में सम्मिलित है। भूगोल में भौतिक वातावरण का अध्ययन परम्परागत रूप से तीन मण्डल में बाँटकर किया जाता रहा है—स्थलमण्डल, जलमण्डल तथा वायुमण्डल। बीसवीं शताब्दी से ही पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी विज्ञान के विकास के फलस्वरूप प्राणी एवं वनस्पति समुदाय का अध्ययन व्यापक स्तर पर जीवमण्डल के अन्तर्गत किया जाने लगा। रूसी जीवविज्ञानी वर्नाडस्की ने 1919 में जीवमण्डल (Biosphere) शब्द का प्रथम बार व्यापक स्तर पर प्रयोग किया। कोल ने समस्त पृथ्वी को एक पारिस्थितिकी तन्त्र के रूप में दर्शाते हुए इस हेतु पारिस्थितिकी मण्डल (Ecosphere) शब्द का प्रयोग किया।

जीवमण्डल के घटक
(Components of Biosphere)

सामान्यत: जीवमण्डल से अभिप्राय प्राणी एवं वनस्पति जगत एवं उसके आवास से लिया जाता है, किन्तु जीवमण्डल के संघटन में भौतिक पर्यावरण के सभी तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पृथ्वी के जीव जगत तथा पर्यावरण के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। इसके अन्तर्गत समस्त जीवधारी तथा भौतिक पर्यावरण दोनों ही आते हैं। भौतिक पर्यावरण में जल, वायु, स्थल तथा सजीव सम्मिलित हैं।

सभी प्रकार के सजीवों की उत्पत्ति, विकास, आवास तथा उनके जीवन चक्र को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व ही जीवमण्डल के घटक कहलाते हैं। जीवमण्डल के प्रमुख घटक निम्न हैं—(1) वायुमण्डल, (2) जलमण्डल, (3) स्थलमण्डल तथा (4) सजीव या जीव जगत।

1. **वायुमण्डल**—पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वायुमण्डल सदैव पृथ्वी के साथ जुड़ा रहता है। वायुमण्डल के अभाव में सजीवों के अस्तित्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि समस्त प्राणियों एवं पादपों को प्राणवायु वायुमण्डल से ही प्राप्त होती है। पृथ्वी तथा वायुमण्डल के बीच स्थल, जल, वायु तथा जीवों के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया अनवरत रूप से होती रहती है। उदाहरणार्थ, चट्टानों के अपक्षय, ईंधन के जलने तथा प्राणियों की श्वसन क्रिया में ऑक्सीजन व्यय होती है, जबकि पादपों में कार्बनडाई-ऑक्साइड की उपस्थिति में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया होती है। नाइट्रोजन का जटिल चक्र भूमि से वायु तक विभिन्न जैविक प्रक्रमों के माध्यम से चलता रहता है।

पृथ्वी की सतह के निकट वायू सघन होती है, ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं, विरल होती जाती है। इसलिए धरातल से 5 किमी तक की ऊँचाई वाले भाग में ही वायुमण्डल की कुल वायु राशि का 50 प्रतिशत (भार या मात्रा) भाग पाया जाता है।

वायुमण्डलीय संघटन में विभिन्न गैसों के साथ-साथ जल वाष्प तथा धूल कणों का योगदान भी रहता है। वायुमण्डल अनेक गैसों का सम्मिश्रण है जिसमें विभिन्न गैसें एक निश्चित अनुपात में पायी जाती हैं। इनमें नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, आर्गन, कार्बन डाइऑक्साइड एवं हाइड्रोजन की मात्रा 99.99 प्रतिशत होती है। सामान्यत: भारी गैसें वायुमण्डल के निचले स्तरों में तथा हल्की गैसें ऊपरी स्तरों में मिलती हैं, जैसे कार्बन डाइ-ऑक्साइड 20 किमी तक तथा ऑक्सीजन व नाइट्रोजन 100 किमी की ऊँचाई तक मिलती हैं। इसके पश्चात् अधिक ऊँचाई में हाइड्रोजन, हीलियम, क्रिप्टॉन, नियॉन, ओजोन आदि हल्की गैसें पायी जाती हैं। वायुमण्डल की निचली परत में जल वाष्प व धूल कण भी पाये जाते हैं, जिनके कारण वायु विक्षोभ एवं संघनन की क्रिया प्रभावी होती है।

ऊँचाई के साथ-साथ वायुमण्डल के तापमान और वायुदाब एवं उसके लक्षणों में परिवर्तन होता जाता है। इस आधार पर वायुमण्डल को विभिन्न परतों में विभक्त किया जाता है. क्षोभमण्डल मध्य स्तर, समतापमण्डल, ओजोनमण्डल, आयनमण्डल तथा बाह्यमण्डल।

2. **जलमण्डल**—भू-पृष्ठ का जल से ढका हुआ भाग ही जलमण्डल कहलाता है। धरातल पर 36.10 करोड़ वर्ग किमी अर्थात 70.8 प्रतिशत क्षेत्र पर जल का विस्तार है। इसी कारण पृथ्वी को जलीय ग्रह भी कहा गया है। जल की उपलब्धता पृथ्वी को सौरमण्डल के अन्य ग्रहों से विशिष्टता प्रदान करती है। भूतल पर पाये जाने वाले समस्त प्राणियों तथा पादपों के जीवन का आधार जल ही है। विभिन्न प्राणियों के शरीर में 50 से लेकर 80 प्रतिशत तथा पादपों में 60 से 98 प्रतिशत तक जल का अंश पाया जाता है। जीवद्रव्य जो कि सभी सजीवों में जीवन का आधार है, में 85 से 95 प्रतिशत जल की मात्रा होती है। जीवधारियों में समस्त जैविक अभिक्रियाएँ जल की उपस्थिति में ही होती हैं, अत: जलमण्डल जीवमण्डल का एक महत्वपूर्ण घटक है। मेक्सवेल के शब्दों में, "जल आर्थिक, सांस्कृतिक और जैविक दृष्टि से पृथ्वी का अत्यधिक उपयोगी संसाधन है।"

जलमण्डल में समस्त महासागर, आन्तरिक एवं सीमान्त सागर, झीलें, खाड़ियां आदि सम्मिलित हैं। पृथ्वी के स्थल भाग पर पाये जाने वाले समस्त जल स्रोतों नदी, तालाब, झील, झरने, कुएं आदि का आधार भी महासागर ही है। सभी रूपों में जल की आपूर्ति वहीं से जल चक्र द्वारा होती है। धरातल पर तापमान के सन्तुलन को बनाये रखने में भी महासागरों का बड़ा योगदान है। पृथ्वी पर जल तथा स्थल का वितरण अत्यधिक असमान है। दक्षिणी गोलार्द्ध में 81 प्रतिशत तथा उत्तरी गोलार्द्ध में 40 प्रतिशत जल है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की प्रधानता के कारण इसे जलीय गोलार्द्ध भी कहते हैं।

भू-पृष्ठ पर पाये जाने वाले विभिन्न तत्त्वों का प्रतिशत

	तत्त्व	प्रतिशत
1.	ऑक्सीजन	46.71
2.	सिलीकन	27.69
3.	एलुमिनियम	8.07
4.	लोहा	5.07
5.	कैल्सियम	3.65
6.	सोडियम	2.75
7.	पोटैशियम	2.58
8.	मैग्नीशियम	2.08
9.	अन्य	1.42

3. **स्थलमण्डल**—भू-पर्पटी (crust) का कठोर भाग जो पृथ्वी की सतह से लगभग 65 किमी नीचे तक फैला हुआ है, स्थलमण्डल कहलाता है। भूमण्डल पर यह एक ऐसी परत के रूप में है, जिसमें मुख्यत: सियाल एवं कहीं-कहीं ऊपरी मेण्टल या ऊपरी सीमा परत शामिल हैं। इस परत की ऊपरी सतह पर अवसादों का एक आवरण पाया जाता है। स्थलमण्डल में भूमि के शुष्क भागों के अतिरिक्त सागरीय तली वाले भाग भी सम्मिलित हैं। जिन पदार्थों से स्थलमण्डल की रचना हुई है उसे शैल या चट्टान कहा जाता है। भूगोल में चट्टान शब्द का प्रयोग बालू, कंकड़, पत्थर, मिट्टी, कीचड, आदि सभी पदार्थों के लिए समान रूप से होता है।

भू-पृष्ठ की रचना में जिन तत्त्वों का समावेश होता है, उनमें ऑक्सीजन, सिलीकन, एलुमिनियम, लोहा, कैल्शियम, सोडियम, पोटैशियम व मैग्नीशियम प्रमुख हैं। विभिन्न स्थानों पर पायी जाने वाली मृदाओं में इन तत्त्वों की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है।

जीवमण्डल में मृदा या मिट्टी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मृदा का प्रत्यक्ष प्रभाव वनस्पति की उत्पत्ति तथा वितरण पर पड़ता है। वनस्पति अपने पोषण के लिए आवश्यक पदार्थ मृदा से ही प्राप्त करती है। वृक्षों की जड़ें काफी गहराई तक मृदा में जाती हैं। विभिन्न जीव जन्तु प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से वनस्पति पर निर्भर होते हैं। सामान्यत: मृदा में 40 प्रतिशत खनिज पदार्थ, 25 प्रतिशत जल, 25 प्रतिशत वायु तथा 10 प्रतिशत कार्बनिक पदार्थ मिले हुए होते हैं। मृदा के कार्बनिक पदार्थ सूक्ष्म जीवों को भोजन उपलब्ध कराते हैं। कुछ ऑक्सीजन की मात्रा भी मृदा में होती है, जिसका उपयोग वनस्पति तथा मृदा में पाये जाने वाले जीव करते हैं।

4. **सजीव या जीव जगत (जीवमण्डल)**—जीवमण्डल में उपस्थित सजीवों में मानव, जन्तु, वनस्पति तथा सूक्ष्म जीव सम्मिलित हैं। इन्हें जीवमण्डल के जैविक (Biotic Components) संघटक कहते हैं। स्थलमण्डल, जलमण्डल तथा वायुमण्डल तीनों में ही विभिन्न जीवों की उपस्थिति पायी जाती है। सभी जीवधारी भौतिक पर्यावरण की उपज है। सजीवों तथा पर्यावरण के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। समस्त जैविक तत्त्व परस्पर सह-सम्बन्धित हैं, जैसे मानव अपना भोजन पादपों व जन्तुओं से प्राप्त करता है, जन्तु अन्य प्राणियों या वनस्पति पर निर्भर होते हैं, तथा पादप मृदा की उपज है। जन्तुओं के उत्सर्जित पदार्थ, मृत जन्तुओं व पादपों के अंश तथा सूक्ष्मजीवी बैक्टीरिया मृदा की उर्वरता बढ़ाते है। पादप अपने परागण के लिए कीट पतंगों पर निर्भर होते हैं। किसी स्थान पर उगने वाले पादप एक-दूसरे पर भी प्रभाव डालते हैं। इसी प्रकार जन्तु भी एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

बुद्धि बल से सम्पन्न होने के कारण मानव समस्त जीवधारियों से अलग है। जीवमण्डल के प्रमुख कारक के रूप में मानव ने पर्यावरण के सभी घटकों को प्रभावित किया है। वर्नाडस्की ने जीवमण्डल को तीन प्रमुख घटकों—जीवभार (Biomass), जीवजनित पदार्थ (Biogenic matter) तथा जीव कास्निक पदार्थ (Biocosnic matter) में बाँटते हुए मानव को जीवमण्डल का विशिष्ट घटक बताया। मानव ने बौद्धिक विकास से तकनीकी विकास किया। वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राकृतिक पर्यावरण में रूपान्तरण करता है, जैसे कृषि भूमि के लिए वनों को साफ करना, जन्तुओं को पालतू बनाकर पशु पालन करना आदि। उसने जीवों के विकास, नस्ल तथा जीवनचक्र को भी प्रभावित किया है। मानव निरन्तर नवीन प्राविधिकी (Technology) को विकसित करने में संलग्न है।

प्र.2. जैविक अनुक्रमण के अर्थ को समझाते हुए इसके प्रकारों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर

जैविक अनुक्रमण
(Biotic Succession)

अनुक्रमण या सक्सेशन (Succession) शब्द मूल रूप से लैटिन भाषा के सक्सिओ (Successio) से बना है, जिसका अभिप्राय है दूसरे की जगह आना। एक क्षेत्र के पादप एवम् जन्तुओं को सम्मिलित रूप से एक समुदाय (community) कहते हैं। एक जैविक समुदाय में पायी जाने वाली वनस्पति व प्राणी परिवर्तनशील होते हैं। इसी प्रकार वहाँ का पर्यावरण भी गतिशील होता है, जो समय व स्थान के अनुसार बदलता रहता है। किसी एक ही स्थान पर होने वाला दीर्घकालीन एकदिशीय समुदाय परिवर्तन ही अनुक्रमण कहलाता है। ओडम ने परिस्थितिक अनुक्रमण में तीन तथ्यों को सम्मिलित किया है—(i) अनुक्रमण समुदाय विकास का एक क्रमबद्ध प्रक्रम है, (ii) भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप समुदाय अनुक्रमण होता है, (iii) अनुक्रमण के अन्त में स्थायी पारिस्थितिक-तन्त्र का विकास होता है। जैविक अनुक्रमण को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पादप अनुक्रमण तथा जन्तु अनुक्रमण।

पादप अनुक्रमण के प्रकार (Types of Plant Succession)

अनाच्छादित क्षेत्र की प्रकृति के आधार पर पादप अनुक्रमण के दो प्रकार पाए जाते हैं—

1. **प्राथमिक अनुक्रमण**—नग्न चट्टानों, रेतीले टीलों, नए द्वीपों, हिमानी के पीछे खिसकने से प्राप्त क्षेत्रों, कोरल से निर्मित स्थलों आदि पूर्णत: वनस्पति रहित रहे क्षेत्रों पर होने वाला अनुक्रमण इस श्रेणी में आता है।
2. **द्वितीयक अनुक्रमण**—ऐसे क्षेत्र जहाँ पूर्व में वनस्पति आवरण था किन्तु किन्हीं कारणों से वहाँ की वनस्पति नष्ट हो गयी। इन क्षेत्रों में पुन: वनस्पति स्थापित होने की प्रक्रिया को द्वितीयक अनुक्रमण कहते हैं।

आवासीय क्षेत्रों के आधार पर अनुक्रमण के दो मुख्य प्रकार होते हैं—

(i) **जलारम्भी अनुक्रमण**—जलीय आवासों में होने वाला अनुक्रमण।

(ii) **शुष्कतारंभी अनुक्रमण**—जल की कमी वाले शुष्क आवासों में सम्पन्न होने वाला अनुक्रमण।

प्राणी-जातीय अनुक्रमण (Succession of Animal Species)

जन्तु समुदायों के अनुक्रमण को प्राणी-जातीय अनुक्रमण कहते हैं। प्राणी जातीय अनक्रमण के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारक अग्र हैं—

1. जलवायु में अत्यधिक परिवर्तन होने पर वहाँ का प्राणी समुदाय या तो नष्ट हो जाता है या अन्यत्र गमन कर जाता है। ऐसी दशा में परिवर्तित जलवायु के अनुकूल नवीन प्राणी-समुदाय का विकास होता है।
2. भूगर्भिक हलचलों के परिणामस्वरूप उत्थित समुद्रतटीय भागों या नवीन द्वीपों पर प्राणी समुदाय का विकास होता है।
3. भूकम्प, ज्वालामुखी, बाढ़ आदि आकस्मिक कारकों से प्रभावित क्षेत्रों में अधिकांश प्राणी समुदाय के नष्ट हो जाने पर नवीन प्राणी समुदाय विकसित होते हैं।
4. प्राणियों की भोज्य सामग्री के नष्ट हो जाने या अभाव होने, महामारी के फैलने, प्राकृतिक या मानवीय कारणों से प्राकृतिक वास क्षेत्रों के नष्ट हो जाने, आखेट आदि कारणों से किसी क्षेत्र का प्राणी समुदाय नष्ट हो जाने या पलायन से उस क्षेत्र में नए सिरे से प्राणी समुदाय विकसित होता है।

प्राणी अनुक्रमण के प्रकार (Types of Animal Succession)

प्राणियों की उत्पत्ति तथा क्षेत्र की प्रकृति के आधार पर दो प्रकार का अनुक्रमण होता है—

1. **प्राथमिक अनुक्रमण**—ऐसे जलीय या स्थलीय क्षेत्र जहाँ पूर्व में कोई प्राणी समुदाय विकसित नहीं था, वहाँ प्राणियों के विकास को प्राथमिक अनुक्रमण कहते हैं। यहाँ विकसित होने वाले प्राणी समुदाय को पुरोगामी समुदाय (Pioneer Community) कहते हैं।
2. **द्वितीयक अनुक्रमण**—प्राकृतिक या मानवीय कारणों से किसी प्रदेश में प्राणी समुदायों की विलुप्ति के बाद पुन: वहाँ जन्तु समुदाय के स्थापित होने को द्वितीयक अनुक्रमण कहते हैं।

प्राणियों के आवास क्षेत्रों के अनुसार अनुक्रमण के निम्न प्रकार होते हैं—

1. **जलारम्भी अनुक्रमण**—जलीय क्षेत्रों व दलदली भागों में होने वाला अनुक्रमण जिसमें मछलियाँ, घोंघे, कीट आदि जीव विकसित होते हैं। इसे भी अलवण जलीय तथा लवण जलीय दो भागों में बाँटा जाता है।
2. **शुष्कतारम्भी अनुक्रमण**—जल व आर्द्रता की कमी वाले शुष्क क्षेत्रों जैसे मरुस्थल, शैल सतह आदि पर यह अनुक्रमण विकसित होता है।
3. **लघु अनुक्रमण**—लघु आवासों में होने वाला अनुक्रमण, जैसे वनों में गिरे हुए वृक्षों के तनों पर अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीवों का स्थापित हो जाना।

इस प्रकार अनुक्रमण एक ऐसी प्राकृतिक प्रक्रिया है, जो जैविक विकास के क्रम को दर्शाती है। किसी भी क्षेत्र के जीव समुदाय में उत्तरोत्तर क्रमिक विकास तब तक होता रहता है, जब तक कि तुलनात्मक स्थायी समुदाय उस क्षेत्र में प्रमुखत: स्थापित नहीं हो जाता है। जीव समुदाय की इस अन्तिम स्थिर अवस्था को चरम अवस्था (Climax Stage) कहते हैं। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए प्राणी या पादप की सक्षम जाति को अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं तथा विभिन्न गतिरोधों का सामना करना पड़ता है।

प्र.3. पादप विसरण के प्रमुख साधनों व विधियों पर प्रकाश डालते हुए विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

पादप विसरण या प्रकीर्णन के साधन (Means of Dispersal of Plants)

प्रकीर्णन के लिए बीजों व फलों को कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। क्योंकि परागकणों की भाँति ही बीजों तथा फलों में भी स्वत: गतियाँ नहीं पाई जाती हैं। फलों व बीजों में विभिन्न प्रकार के अनुकूलन या विशिष्ट संरचनाएँ पाई जाती हैं, जो किसी साधन विशेष द्वारा होने वाले प्रकीर्णन में सहायक होती है। प्रकृति में फलों तथा बीजों का विसरण मुख्यत: अग्र साधनों व विधियों द्वारा होता है—

1. **वायु द्वारा प्रकीर्णन** (Dispersal by Wind)—बीजों तथा फलों के प्रकीर्णन के लिए वायु एक प्रमुख व प्रबल माध्यम है। विभिन्न बीजों तथा बीजाणुओं (spores) को वायु काफी दूर तक उड़ाकर ले जाती है। वायु में प्लवन या उड़ने के लिए फल तथा बीजों में निम्नांकित अनुकूलताएँ पाई जाती हैं—
   (i) **सूक्ष्म एवं हल्के बीज**—अनेक पौधों के बीज अत्यन्त छोटे व हल्के होते हैं, अत: धूल कणों की भाँति आसानी से वायु में उड़ सकते हैं। इनकी संख्या भी एक फल में हजारों में होती है। आर्किड के एक फल में सूक्ष्म बीजों की संख्या 2 लाख 50 हजार प्रति ग्राम (एक बीज 0.004 मिग्रा) होती है।
   (ii) **पंखयुक्त बीज तथा फल**—कई पौधों के बीजों व फलों पर पक्ष या पंख (wing) के समान फैली हुई पतली या चपटी संरचना मिलती है। इनकी सहायता से हल्के बीज व फल वायु में आसानी से तैरकर दूर तक चले जाते हैं। मेपल, एस्कलेपिआस, साल, हापिया, शीशम आदि में सपक्ष फल मिलते हैं। इसी प्रकार सिनकोना, चीड़, मोरिंगा आदि में सपक्ष बीज मिलते हैं।

(iii) **पैराशूट या अवतरण विधि**—कुछ पौधों के फलों अथवा बीजों के एक या दोनों सिरों पर रोम युक्त रचना पाई जाती है, जो कि पैराशूट के रूप में कार्य करती है। इसकी सहायता से रोमिलबीज अथवा फल लम्बे समय तक वायु में इधर-उधर तैरते रहते हैं तथा अन्ततः मातृ पादप से दूर प्रकीर्णित हो जाते हैं। क्लीमेटिस, नारवेलिया आदि पौधों के फल तथा कपास, सूर्यमुखी, डेण्डेलियोन, आक आदि के बीज इसके उदाहरण हैं।

(iv) **दोलक्षेप विधि**—वायु के झोंकों के प्रभाव से जब पौधे या पौधे के किसी भाग में गति होती है, तो उसके बीज दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। प्रकीर्णन की इस विधि को दोलक्षेप विधि (censer mechanism) कहते हैं। अफीम, हंसलता, सत्यानाशी आदि में फल स्फुटित होकर ऊपरी सिरे के निकट कई छिद्र बना लेते हैं। जब तेज वायु से फल हिलता है, तो कुछ बीज बाहर निकलते हैं और दूर-दूर तक छिटक जाते हैं। कुछ पौधे परिपक्व होने पर वायु के वेग से या तो जड़ सहित उखड़ जाते हैं अथवा फल व बीजों से लदी हुई शाखाएँ मातृ पौधे से अलग होकर वायु के साथ लुढ़कती हुई दूर तक बीजों को बिखेर देती है। पोली, लाना आदि इसी प्रकार के पौधे हैं।

2. **जल व हिमानी द्वारा प्रकीर्णन** (Dispersal by Water and Glacier)—पृथ्वी पर प्रारम्भ में जलीय जीवन का ही विकास हुआ था, अतः तब जल ही विसरण का एक मात्र साधन था। जलीय पौधों तथा जलराशियों के समीप उगने वाले पौधों के बीजों तथा फलों का प्रकीर्णन जल द्वारा ही दूर-दूर तक होता है। इन पौधों के फलों व बीजों के जल में तैरने के लिए विशेष संरचना पाई जाती है। इनके स्पंजी अथवा रेशेमय आवरण में वायुकोष होते हैं, जो इनको हल्का बना देते हैं। अतः जल पर तैरते हुए ये फल या बीज दूर-दूर तक चले जाते है। इसके अलावा इनकी भित्तियाँ कठोर होती हैं, ताकि जल के निरन्तर सम्पर्क में रहने पर भी ये सड़े व गले नहीं। समुद्री लहरों, धाराओं व नदियों द्वारा बड़े पैमाने पर प्रकीर्णन होता है। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में समुद्री लहरों के कारण हिन्द महासागर व प्रशान्त महासागर के द्वीपों पर नारियल का विस्तार हुआ। कमल का प्रकीर्णन भी जल द्वारा ही होता है।
हिमानी तथा जल व हिम के द्वारा भी पादपों का प्रकीर्णन होता है। शीतोष्ण प्रदेशों में पिघलते हिम व जल के कारण माउण्टेन सोरेल, मॉस कैम्पियन आदि का प्रकीर्णन होता है। होलोसीन व प्लिस्टोसीन हिम युग में हिमानी के कारण बीजों का फैलाव वृहद् स्तर पर हुआ। यूरोप व उत्तरी अमेरिका में हेमलॉक, एल्डर, स्प्रूस, एम, पाइन, बीच आदि का बहुत बड़े क्षेत्र पर फैलाव इसी काल में हुआ।

3. **जन्तुओं द्वारा प्रकीर्णन** (Dispersal by Animals)—अनेक फल व बीज पशु-पक्षियों द्वारा विभिन्न विधियों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जाते हैं। जन्तुओं द्वारा प्रकीर्णन निम्न रूपों में होता है—

(i) **उलझने वाले फल व बीज**—अनेक बीजों या फलों की भित्ति पर प्रायः अंकुश, शूल, कड़े व नुकीले रोम आदि मिलते हैं। ये जन्तुओं के बालों, खुरों व शरीर के अन्य भागों के साथ उलझ या अटक जाते हैं तथा जन्तुओं के साथ-साथ दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं। गोखरू, बाघनखी, जैन्थियम आदि इसके उदाहरण हैं।

(ii) **चिपकने वाले फल व बीज**—अनेक फल तथा उनके बीजों में पाई जाने वाली ग्रन्थियां चिपचिपे पदार्थ का स्राव करती हैं। इन फलों के छोटे-छोटे बीज पक्षियों की चोंच व अन्य जन्तुओं के मुँह पर चिपक जाते हैं और अनायास ही ये प्राणी उन्हें दूर-दूर तक पहुँचा देते हैं। क्लीओम, बेल, गूंदा आदि के बीज चिपचिपे होते हैं।

(iii) **खाने योग्य फल व बीज**—प्राणियों द्वारा अनेक सरस फलों को बड़े चाव से खाया जाता है। जन्तुओं में चयापचय की क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। कठोर व बिना पचे हुए बीज मल के साथ बाहर आ जाते हैं व अन्यत्र उग जाते हैं। कद्दू, ककड़ी, टमाटर, मिर्च, अमरूद, बरगद, पीपल आदि के बीज इसका उदाहरण हैं। चींटियों द्वारा भी कुछ बीजों को घसीट कर दूर तक ले जाया जाता है। पक्षियों द्वारा लाए गए बीजों से मुख्य भूमि से सैकड़ों किमी दूर स्थित द्वीपों पर भी पौधों का फैलाव होता है। भवनों की खडी दीवारों पर पीपल के पौधे पक्षियों की बीट से ही उगते हैं।

4. **स्वयं स्फुटन द्वारा प्रकीर्णन** (Dispersal by Self Explosion)—अनेक पादपों के फल शुष्क व स्फुटनशील होते है जो तेज वायु, शुष्कता, स्पर्श इत्यादि कारणों से तेजी से फटते हैं, जिससे इनके बीज कई मीटर दूर जाकर गिरते हैं। फुहार खीरा, चुटपुटिया, सेण्ड बॉक्स, गुल मेंहदी, जिरेनियम आदि इसके उदाहरण हैं। फुहार खीरा में प्रस्फुटन बड़े रोचक ढंग से होता है। फल के डंठल से अलग होते ही एक पिचकारी की तरह रस की धार फल से निकल कर कई फीट दूर तक गिरती है। उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका में सेन्डबॉक्स वृक्ष अपने बीजों को चालीस फीट दूर तक फेंकता है।

5. **मानव द्वारा प्रकीर्णन** (Dispersal by Man)—फलों तथा बीजों के प्रकीर्णन में स्वयं मानव भी एक महत्वपूर्ण साधन है। यूरोपीय लोगों द्वारा वाणिज्यिक फसलों जैसे कपास, कहवा, रबर, काजू, तम्बाकू, अनन्नास आदि का फैलाव अफ्रीका, एशिया व लैटिन अमेरिका में स्थित अपने उपनिवेशों में बड़े पैमाने पर किया गया। अल्फा-अल्फा घास ईरान से यूरोप में लाई गई। गाजर घास, विलायती बबूल, जलकुम्भी, जैसे.समस्यामूलक पादप भारत में बाहर से लाए गए हैं या अनायास ही आयातित अनाजों के साथ आ गए हैं।

जीव विज्ञानियों द्वारा जैव प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में किए जा रहे अनुसन्धानों से निकट भविष्य में पौधों के शीघ्र फैलाव व प्रकीर्णन हेतु नवीन विधियों का प्रयोग किये जाने की संभावना है।

प्र.4. जीवोम का अर्थ बताते हुए विश्व के सभी आधारभूत जीवोम का वर्णन कीजिए।

उत्तर

जीवोम
(Biome)

जीवोम या बायोम (Biome) शब्द ग्रीक भाषा के बायोस (Bios) से बना है, जिसका अभिप्राय 'जीवन' से होता है। सम्बन्धित प्राणियों एवं पादपों के वृहद एवं प्राकृतिक सहवास जो पृथ्वी पर दूर-दूर तक बसे क्षेत्रों में पाए जाते हैं, जीवोम कहलाते हैं। जीवोम को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है—

1. **पीटर हैगेट** के शब्दों में "जीवोम पृथ्वी के वृहद पर्यावरणीय कटिबन्ध हैं, जो कि सुस्पष्ट पादप आवरण द्वारा चिह्नित होते हैं।"
2. **क्लीमेन्ट व शेफर्ड** के अनुसार, "जीवोम एक जैव समूह होता है, जो कि भौगोलिक सीमाओं में अपने विशिष्ट जैव रूप तथा जातीय श्रेष्ठता से पहचाना जाता है।"
3. **ओडम** के शब्दों में, "क्षेत्रीय जलवायु जब क्षेत्रीय वनस्पति एवं प्राणियों से अन्तर्क्रिया करती है तो विशिष्ट समुदायों का उद्भव होता है, जिन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है, को जीवोम के नाम से पुकारते हैं।"

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि एक जीवोम पादपों व प्राणियों का विशिष्ट समुदाय होता है, जो कि समान जलवायु दशाओं वाले क्षेत्र में विस्तृत होता है। जीवोम में जलवायु की समानता के कारण ही वनस्पति, प्राणी एवं उनका जीवन सामान्यत: समान होता है। प्रमुख वनस्पति समुदायों से सम्बन्धित होने के कारण ही पादप पारिस्थितिकीविदों ने इन्हें जीवोम नाम दिया।

विश्व के प्रमुख जीवोम
(Main Biome of World)

विश्व के स्थलीय जीवोम काफी विविधतापूर्ण हैं। इनकी प्रकृति को स्थलाकृति, जलवायु, मृदा, समुद्र तल से ऊँचाई आदि कारक प्रभावित करते है। सम्पूर्ण विश्व को नौ आधारभूत जीवोम या पर्यावरणीय कटिबन्धों में बाँटा जा सकता है—

विषुवत्रेखीय वन जीवोम (Equatorial Forest Biome)

स्थिति एवं विस्तार—विषुवत रेखा के दोनों ओर लगभग 10° अक्षांशों के मध्य स्थित यह क्षेत्र पृथ्वी के स्थलीय भाग का 8 प्रतिशत भाग घेरता है। इसके अन्तर्गत मध्य अफ्रीका का कांगो बेसन, मध्य अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका का अमेजन बेसिन तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया का द्वीपीय व प्रायद्वीपीय भाग सम्मिलित है।

जलवायु—उष्ण व आर्द्र जलवायु पाई जाती है। कुछ ऋत्विक भिन्नता को छोड़कर वर्ष पर्यन्त ऊँचे तापमान तथा वर्षा होती है।

वनस्पति—यह क्षेत्र पादप विविधता की दृष्टि से धनी है। अकेले मध्य अफ्रीका में ही पुष्पी पादपों की लगभग 7,000 प्रजातियाँ मिलती हैं। यहाँ मुख्यत: चौड़ी पत्ती वाले सदाबहार वन पाए जाते हैं। नदियों के बाढ़कृत मैदानों व समुद्रतटीय भागों में दलदली वन पाए जाते हैं। यहाँ त्रिस्तरीय वृक्ष पाए जाते हैं।

प्राणी—यहाँ वनस्पति के साथ ही प्राणियों में भी अत्यधिक विविधता पाई जाती है। प्राणी सम्पदा की दृष्टि से ये विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न क्षेत्र हैं। प्राणियों में हाथी, चीता, शेर, हिरण, जंगली सूअर, मेढक, छिपकली, गिलहरी, सांप, बिच्छु, सेण्टीपोड्स, मगरमच्छ, घडियाल, विषैली मक्खियां आदि प्रमुख हैं।

मानव—प्रतिकूल जलवायु दशाओं तथा सघन वनों के कारण इस जीवोम में मानवीय गतिविधियाँ सीमित क्षेत्रों में ही पाई जाती हैं। जावा में बड़ी मात्रा में वनों को साफ करके कृषि की जाने लगी है। वहाँ जनसंख्या घनत्व भी ऊँचा है।

मध्य अक्षांशीय परिधीय वन जीवोम (Mid-latitude Peripheral Forest Biome)

स्थिति एवं विस्तार—यह प्रदेश 30° से 45° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पूर्वी भाग में स्थित है। इसके अन्तर्गत पूर्वी चीन, जापान, यूरोप, पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया का दक्षिणी पूर्वी तटीय भाग आदि सम्मिलित हैं। यह स्थलीय भू-भाग का लगभग 7 प्रतिशत भाग घेरता है।

जलवायु—शीत शीतोष्ण तथा गर्म शीतोष्ण जलवायु पाई जाती है। ग्रीष्म ऋतु में पर्याप्त गर्मी जबकि शीत ऋतु में कडाके की सर्दी पड़ती है। वर्ष पर्यन्त मध्यम वर्षा होती है, जिसका औसत 75 से 100 सेमी है।

वनस्पति—यहाँ चौडी पत्ती वाले पर्णपाती तथा मिश्रित वन पाए जाते हैं, जो कि पूर्वी सीमा पर धीरे-धीरे उष्ण-शीतोष्ण सदाबहार वनों में मिल जाते हैं। इनमें पाइन, चेस्टनट, शहतूत, यूकेलिप्टिस आदि वृक्षों के साथ ही घास भी पाई जाती है।

प्राणी—इस जीवोम में विषुवतरेखीय प्रदेशों की तुलना में प्राणी विविधता कम है। सूअर, हिरण, तेंदुआ, सांप, सेलामेण्डर, वृक्ष मेढक, गिलहरी आदि यहाँ पाए जाने वाले प्रमुख जन्तु हैं।
मानव—इस प्रदेश में बड़े पैमाने पर वनों की कटाई करके कृषि भूमि का विस्तार किया गया है। यहाँ मध्यम से लेकर उच्च जनसंख्या घनत्व पाया जाता है।

शीतोष्ण कोणधारी वन (Temperate Conical Forest)

स्थिति—इसे टैगा, साइबेरिया तुल्य या कोणधारी वन जीवोम भी कहते हैं। इसकी स्थिति मुख्यत: उत्तरी गोलार्द्ध में 45° से 65° अक्षांशों के मध्य है। इसके अन्तर्गत रूस, स्केण्डीनेविया, कनाडा, अलास्का तथा उत्तरी पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका के भाग सम्मिलित हैं। यह प्रदेश 14 प्रतिशत स्थलीय भाग घेरता है।
जलवायु—उच्च अक्षांशों में स्थिति के कारण जलवायु अत्यधिक कठोर है। ग्रीष्म ऋतु बहुत छोटी एवं ठण्डी होती है। वार्षिक तापान्तर बहुत अधिक है। वर्षा 25 से 50 सेमी के मध्य तथा ग्रीष्म ऋतु में होती है। शीतकाल में कड़ाके की ठण्ड व हिमपात होता है।
वनस्पति—यहाँ नुकीली पत्ती वाले तथा सदाबहार कोणधारी वन पाए जाते हैं। दक्षिणी भाग में कम वर्षा के कारण वृक्षों के स्थान पर घास अधिक मिलती है। वृक्षों में विविधता बहुत कम पाई जाती है। स्प्रूस, फर, लार्च, पाइन आदि प्रमुख वृक्ष हैं।
प्राणी—बर्फीले धरातल के कारण सरीसृप बहुत कम पाए जाते हैं। मुख्यत: समूर वाले जन्तु जैसे खरगोश, लोमड़ी, सेबिल, गिल आदि पाए जाते हैं।
मानव—कठोर जलवायु दशाओं के कारण मानवीय गतिविधियाँ सीमित मात्रा में पाई जाती हैं। दक्षिण की ओर सीमावर्ती वनों को सीमित मात्रा में साफ किया गया है। यहाँ लकड़ी काटना एक प्रमुख व्यवसाय है। जनसंख्या घनत्व बहुत कम है।

सवन्ना जीवोम (Savannah Biome)

स्थिति—सवन्ना घास प्रदेश कर्क रेखा से मकर रेखा के मध्य स्थित है। ये स्थलीय भू-भाग का एक चौथाई भाग घेरे हुए हैं। उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा पूर्वी ऑस्ट्रेलिया के भाग इसमें सम्मिलित हैं।
जलवायु—यहाँ उष्ण जलवायु पाई जाती है, जिसमें मौसमी भिन्नता बहुत कम है। वर्षा का औसत 25 सेमी से लेकर 150 सेमी तक है, किन्तु इसमें प्रादेशिक भिन्नता बहुत अधिक पायी जाती है। वर्षा मुख्यत: बसन्त या ग्रीष्म में होती है।
वनस्पति—यहाँ लम्बी घास के विस्तृत मैदानों से लेकर पर्णपाती मानसूनी वन पाए जाते हैं। जल धाराओं के सहारे पट्टीनुमा वन पाए जाते हैं। घासें सामान्यत: सदा हरी रहने वाली हैं।
प्राणी—यहाँ बहुत बड़ी संख्या में घास पर निर्भर जन्तु पाए जाते हैं। इनमें जेब्रा, कंगारू, जिराफ, एण्टीलोप हाथी आदि प्रमुख हैं। मांसाहारी जन्तुओं में शेर, चीता, भेडिया आदि सम्मिलित हैं।
मानव—प्राकृतिक घास भूमियों व पतझड़ वनों को मानव द्वारा निरन्तर साफ करके कृषि व उन्नत पशु पालन व्यवसाय किया जा रहा है। मानसूनी एशिया के बाढ़कृत मैदानों पर जनसंख्या घनत्व बहुत अधिक है, अन्यत्र कम है।

भूमध्य सागरीय जीवोम (Mediterranean Biome)

स्थिति—ये महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में 30° से 45° अक्षांशों के मध्य पाए जाते हैं। इनका सर्वाधिक विस्तार भूमध्य सागर के चारों ओर तथा दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया में है।
जलवायु—यहाँ की जलवायु उष्ण शीतोष्ण तथा मध्यम है। ग्रीष्मकाल प्राय: शुष्क होता है। वर्षा का औसत 50 से 75 सेमी तक पाया जाता है। शीतऋतु में मूसलाधार वर्षा होती है।
वनस्पति—यहाँ पाए जाने वाले वृक्षों तथा झाड़ों में शुष्क ग्रीष्मकाल में अनुकूलन के लिए मोटी छाल व गांठदार जड़ें पाई जाती है। वृक्ष मुख्यत: सदाबहार व कठोर लकड़ी वाले होते हैं, इनमें जैतून, ओक, चीड़, फर, अंजीर, कॉर्क आदि सम्मिलित है। ऑस्ट्रेलिया में यूकेलिप्टस प्रमुख वृक्ष है। विभिन्न प्रकार के झाड़ भी यहाँ बड़ी संख्या में मिलते हैं।
प्राणी—यहाँ हिरण, खरगोश, गुआनो, सांप आदि वन्य प्राणियों के अलावा अंगोरा बकरी, मेरिनो भेड़ व घोड़े जैसे पालतू पशु भी बड़ी संख्या में हैं।
मानव—यहाँ के प्राकृतिक स्वरूप में मानव ने काफी परिवर्तन किया है। भूमध्य सागर के तटवर्ती भागों में बड़े पैमाने पर कृषि भूमि का विस्तार किया गया है।

मध्य अक्षांशीय घास भूमि जीवोम (Mid-latitude Grassland Biome)

स्थिति—मध्य अक्षांशों में स्थित शीतोष्ण घास के मैदान पृथ्वी के स्थलीय भू-भाग का 9 प्रतिशत भाग घेरते हैं। इसमें मध्य एशिया, पूर्वी यूरोप, मध्यवर्ती उत्तरी अमेरिका तथा पूर्वी ऑस्ट्रेलिया सम्मिलित है।

जलवायु—यहाँ की जलवायु में ऋतुओं के अनुसार अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है। शीतकाल काफी ठण्डा होता है तथा ध्रुवीय हवाओं का प्रभाव रहता है। वर्षा मुख्यत: ग्रीष्म व बसन्त ऋतु में होती है। वर्षा का औसत 30 से लेकर 60 सेमी तक पाया जाता है।
वनस्पति—वनस्पति में विभिन्न प्रकार की घासों की प्रधानता है। इन घास के मैदानों को मध्य एशिया में स्टेपीज, उत्तरी अमेरिका में प्रेयरीज, अर्जेण्टाइना में पम्पाज, दक्षिणी अफ्रीका में वेल्ड्स तथा ऑस्ट्रेलिया में डाउन्स कहते है। प्रेयरीज की घास लम्बी जबकि स्टेपीज की छोटी होती है। विभिन्न भागों में घास के साथ यूकेलिप्टस, ओक, पाइन, मेपल आदि वृक्ष तथा झाड़ियाँ भी पाई जाती हैं।
प्राणी—इन घास भूमियों पर बाइसन, एण्टीलोप, कंगारू, हिरण, खरगोश, भेड़िया, सियार, लोमड़ी आदि जन्तु बड़ी संख्या में पाए जाते हैं।
मानव—आखेट, पशुपालन तथा कृषि जैसी गतिविधियों के कारण मानव ने इस जीवोम में सर्वाधिक परिवर्तन किया है। अब ये घास भूमियां प्रमुख अन्न उत्पादक क्षेत्रों में परिवर्तित हो गई हैं। यहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं है।

शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क बंजर क्षेत्र जीवोम (Arid and Semi-arid Barren Area Biome)

स्थिति—शुष्क मरुस्थली या बंजर क्षेत्र का विस्तार सभी महाद्वीपों पर पाया जाता है। इनमें से अधिकतर महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में तथा कर्क व मकर रेखा के निकट स्थित है। अफ्रीका में सहारा, पश्चिमी एशिया में अरब तथा ऑस्ट्रेलिया का मध्य व पश्चिमी भाग विशाल मरुस्थल हैं। यह जीवोम विश्व के स्थलीय भाग का 21 प्रतिशत भाग घेरता है। इसे उष्ण मरुस्थलीय जीवोम भी कहते हैं।
जलवायु—उष्ण एवं शुष्क जलवायु वाले इस प्रदेश में अत्यधिक तापान्तर पाया जाता है। विश्व के सर्वाधिक तापमान ग्रीष्मकाल में इन्हीं क्षेत्रों में पाए जाते हैं। वर्षा का औसत 25 सेमी से कम रहता है।
वनस्पति—जलवायु की चरम दशाओं के कारण वनस्पति आवरण बहुत कम पाया जाता है। अधिकतर भाग पादप विहीन है। छितराए हुए रूप में कैक्टस, बबूल, खेजड़ी, केर, झाड़ियाँ, खजूर आदि मरुद्भिद पादप पाए जाते हैं। अधिकतर पादपों में पत्तियाँ बहुत कम होती हैं तथा कांटे पाए जाते हैं।
प्राणी—पादपों की संख्या बहुत कम होने के कारण जन्तु भी बहुत कम पाए जाते हैं। इनमें बिलों व मिट्टी में रहने वाले सरीसृप तथा छोटे जन्तु प्रमुख हैं। काला हिरण, नेवला, सांप, गिरगिट, गोह, गिलहरी, खरहा, सेई आदि यहाँ के प्रमुख जन्तु हैं। पालतू पशुओं में ऊंट व भेड़ प्रमुख हैं।
मानव—पर्यावरण की प्रतिकूल दशाओं के कारण मानव आवास नगण्य है। मात्र सिंचाई की सुविधा वाले तथा खनिज तेल उत्पादक क्षेत्रों में मानव गतिविधियाँ पाई जाती हैं।

टुण्ड्रा जीवोम (Tundra Biome)

स्थिति—इसके अन्तर्गत उच्च अक्षांशों में स्थित उत्तरी कनाडा, उत्तरी स्कैण्डीनेविया, साइबेरिया आदि क्षेत्र सम्मिलित हैं। ये समस्त भू-भाग पृथ्वी के स्थल का 5 प्रतिशत भाग घेरते हैं।
जलवायु—टुण्ड्रा प्रदेश में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। ग्रीष्मकाल बहुत ही छोटा एवं ठण्डा होता है। वर्षा बहुत कम मात्रा में ग्रीष्मकाल के अन्त में या पतझड़ में होती है। शीतकाल में हल्का हिमपात होता है। धरातल पर वर्ष के अधिकांश भाग में बर्फ जमी रहती है तथा बर्फीले तूफान चलते हैं।
वनस्पति—सूर्य का प्रकाश बहुत कम मात्रा में मिलने तथा हिमाच्छादित भू-भाग के कारण यहाँ पादप मात्र ग्रीष्मकाल में ही देखे जा सकते हैं। अधिकांश पौधे बहुत छोटे व गुच्छेनुमा होते हैं। ग्रीष्मकाल में उगने वाले पुष्पी पादपों के अलावा काई, मॉस, लाइकेन आदि यहाँ के प्रमुख पादप हैं।
प्राणी—यहाँ पाए जाने वाले अधिकांश प्राणी सफेद या हल्के धूसर रंग के होते हैं। रेण्डियर, ध्रुवीय भालू, ध्रुवीय लोमड़ी, कस्तूरी बैल, भेड़िया, खरहा, कैरिबो, लैमिंग आदि यहाँ के प्रमुख जन्तु हैं।
मानव—पर्यावरण की प्रतिकूल दशाओं के कारण इन क्षेत्रों में मानव के क्रियाकलाप नगण्य हैं। कृषि भूमि का अभाव है। मात्र घुमक्कड़ जातियां यहाँ निवास करती हैं।

ध्रुवीय जीवोम (Polar Biome)

इसके अन्तर्गत अण्टार्कटिका व आर्कटिक क्षेत्र सम्मिलित है। यह भू-पृष्ठ का 11 प्रतिशत भाग घेरता है। हिमटोपियों के क्षेत्र होने के कारण यहाँ सदैव बर्फ जमी रहती है। वर्ष के किसी भी माह में तापमान हिमांक बिन्दु से ऊपर नहीं जा पाता है। वनस्पति के नाम पर मात्र काई, लाइकेन व मॉस तथा प्राणियों में पेंग्विन, वालरस आदि पाए जाते हैं। मानवीय क्रियाकलापों से ये प्रदेश अछूते हैं।

सागरीय जीवोम (Oceanic Biome)

भूपृष्ठ पर 70.8 प्रतिशत भाग पर महासागरों व समुद्रों का विस्तार है। सागरीय जीवोम की कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं, जो जलीय पादपों व प्राणियों को प्रभावित करती हैं। सागरीय जल का तापमान 0° से 30°C के मध्य रहता है। जल में घुलित लवण तत्त्व जीवों के पोषण में सहायक होते हैं। यहाँ सूर्य प्रकाश, कार्बन डाइ-आक्साइड तथा आक्सीजन की सुलभता का जीवों के पर्यावास पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है।

सागरीय जीवोम को मुख्यत: दो विभागों में बाँटते हैं—

1. **पेलैजिक जीवोम**—सागर तट से लेकर तली तक का समस्त जलीय भाग इसमें सम्मिलित है। इसे भी दो भागों में बाँटते हैं—
   (i) **ऊपरी पेलैजिक जीवोम**—तल से 200 मीटर गहराई तक का भाग इसमें सम्मिलित है। इस समस्त मण्डल में सूर्य का प्रकाश पहुँचता है, किन्तु गहराई के साथ इसकी मात्रा घटती जाती है। यहाँ फाइटोप्लैंकटन (शैवाल, डायटम आदि) तथा जन्तुप्लैंकटन (कोपेपोड्स, एरोवर्म, प्लुस्टोन आदि) प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। ये सूक्ष्म स्तरीय पादप व प्राणी होते हैं। इस मण्डल को प्रकाशित जीवोम भी कहते हैं।
   (ii) **गहरे पेलैजिक जीवोम**—200 मीटर से नीचे की ओर सागर तली तक इसका विस्तार होता है। गहराई में प्रकाश की उपलब्धता घटने के साथ ही तापमान कम हो जाते हैं तथा जल दबाव बढ़ जाता है। इस मण्डल में नेक्टन समूह के प्राणी मुख्यत: बड़े आकार की मछलियाँ विचरण करती है।
2. **सागर तलीय जीवोम**—इसमें सागर तलीय भाग को सम्मिलित करते हैं। इसके तीन उपविभाग होते हैं—
   (i) **वेलांचली मण्डल**—सागर तटीय भाग,
   (ii) **उपवेलांचली मण्डल**—महाद्वीपीय मग्नतट का तलीय भाग तथा
   (iii) **गहरा तलीय मण्डल**—मग्न तट से अधिक गहरे तलीय भाग।

प्र.5. विश्व को प्रमुख प्राणि-भौगोलिक प्रदेशों में विभाजित करते हुए प्रत्येक का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्राणि-भौगोलिक प्रदेश
(Zoo-Geographic Regions)

प्राणिजात की समानता के आधार पर अनेक विद्वानों ने विश्व को प्राणि-भौगोलिक प्रदेशों में बाँटने का प्रयास किया है। ए०आर० वालेस ने समस्त भू-मण्डल को छ: प्रदेशों या परिमण्डलों में विभाजित किया जो निम्नानुसार है—

1. **पेलिआर्कटिक प्रदेश** (Palaerctic Region)—क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से पेलिआर्कटिक प्रदेश सबसे बड़ा प्राणि-भौगोलिक प्रदेश है। इसके अन्तर्गत यूरोप, सहारा के उत्तर की ओर का अफ्रीका एवं हिमालय पर्वत के उत्तर की ओर का एशिया का भाग सम्मिलित है। यह प्रदेश तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। इसकी जलवायु मुख्यत: शीतोष्ण है, किन्तु क्षेत्रीय विस्तार अधिक होने से इसके विभिन्न भागों में वर्षा व तापमान की काफी विविधता देखने को मिलती है। वनस्पति की दृष्टि से उत्तर में कोणधारी वन, शीतोष्ण कटिबंधीय घास स्थल तथा पतझड़ वन हैं। दक्षिण में बड़े-बड़े मरुस्थल हैं।

   इस प्रदेश में स्थलीय कशेरुकियों के कुल 135 वंश है। यहाँ के प्राणिजात में स्तनधारियों में बीवर, यूरोपीय बाइसन, जंगली गधा, रेण्डियर, छछुन्दर, कीटभक्षी चमगादड़, तेंदुआ, पाण्डा, याक, सियार, नेवला आदि, पक्षियों में बाज, बतख, बगुला, कोयल, किंग फिशर, हेज स्पेरो, अबाबील, कठफोड़वा आदि, सरीसृप में चीनी घड़ियाल, वाइपर आदि उभयचारियों में मेढक, सेलमेण्डर आदि तथा मछलियों में केटफिश, पर्चेज, पाइक्स आदि प्रमुख हैं। पेलिआर्कटिक प्रदेश को चार उपप्रदेशों में बाँटा जाता है—यूरोपीय, भूमध्य सागरीय, साइबेरियन तथा मंचूरियन उपक्षेत्र।
2. **निआर्कटिक प्रदेश** (Nearctic Region)—इस प्रदेश में मेक्सिको के दक्षिण से उत्तर की ओर आर्कटिक द्वीपों तक सम्पूर्ण उत्तरी अमेरिका तथा ग्रीनलैण्ड सम्मिलित है। यह प्रदेश लगभग सभी ओर से समुद्र से घिरा है। इसके उत्तरी भाग में शंकुधारी वन, पश्चिम में पर्णपाती व मिश्रित वन एवं मध्यवर्ती भाग में प्रेयरी घास स्थल हैं। इसकी जलवायु मुख्यत: शीतोष्ण है।

   यहाँ स्थलीय कशेरूकियों के कुल 155 वंश हैं। इस प्रदेश के प्राणिजात में स्तनधारियों में अमेरिकी ओपोसम, छछुन्दर, कीटभक्षी चमगादड़, गिलहरी, लोमड़ी, भेड़िया, कैरिबो, अमेरिकी बाइसन, मस्क ऑक्स आदि, पक्षियों में बाज, गिद्ध, बगुला, पेलिकन्स, सारस, अबाबील, किंग फिशर, कठफोड़वा आदि, सरीसृप में घड़ियाल, मगरमच्छ, प्रवाल सर्प, वाइपर आदि, उभयचर में सेलमेण्डर, मेढक, टॉड आदि तथा मछलियों में पेडलफिश, केटफिश, पर्चेज आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश को भी चार भागों में बाँटा जाता है : कैलिफोर्निया, रॉकी पर्वत, एलेघनी तथा केनेडियन उपप्रदेश।

3. **निओट्रोपिकल प्रदेश** (Neotropical Region)—इस प्रदेश में दक्षिणी अमेरिका, मध्य अमेरिका, दक्षिणी मेक्सिको का निचला भाग तथा पश्चिमी द्वीप समूह सम्मिलित हैं। यह भी लगभग सभी ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। यहाँ मुख्यत: उष्ण कटिबंधीय जलवायु है। इसके उत्तरी भाग में विषुवत रेखीय वन तथा दक्षिण में उष्ण कटिबंधीय व शीतोष्ण कटिबंधीय घास स्थल पाए जाते हैं।
यहाँ स्थलीय कशेरुकियों के कुल 155 वंश मिलते हैं। इस प्रदेश के प्राणिजात में स्तनधारियों में स्लॉथ, ओपोसम, ललामा, हाइना, हिरण, गिलहरी, चमगादड़ आदि, पक्षियों में रिआ, टिनामस, चट्टानी मुर्गा, सारस, बतख, बगुला, तोता, अबाबील आदि, सरीसृप में घड़ियाल, मगरमच्छ, कछुआ, लिजार्डस, सर्प आदि, उभयचर में ब्यूफो, सीसिलिएन्स आदि तथा मछलियों में केटफिश, विद्युत ईल, कैरासियन आदि मुख्य हैं। पक्षियों की अत्यधिक विविधता तथा बहुतायत के कारण दक्षिण अमेरिका को पक्षियों का महाद्वीप भी कहते हैं। यहाँ पक्षियों की 1500 जातियां पायी जाती हैं। इस प्रदेश को भी चार उपप्रदेशों में बाँटा जाता है—चिली, ब्राजील, मेक्सिको तथा पश्चिमी द्वीप समूह उपप्रदेश।
4. **इथियोपियन प्रदेश** (Ethiopean Region)—इस प्रदेश के अन्तर्गत सहारा मरुस्थल के दक्षिण की ओर का अफ्रीका, मैडागास्कर, मॉरिशस तथा दक्षिणी अरेबिया सम्मिलित हैं। यह तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। जलवायु मुख्यत: उष्ण कटिबंधीय है, किन्तु दक्षिण में कुछ भाग शीतोष्ण कटिबंधीय है। इस प्रदेश में विषुवत रेखीय वर्षा वन व सवन्ना तथा वेल्ड घास स्थलों का विस्तार है। यहाँ जीव-जन्तुओं में सर्वाधिक विविधता पाई जाती है।
स्थलीय कशेरुकियों के कुल 161 वंश पाए जाते हैं। यहाँ के प्राणिजात में स्तनधारियों में चिम्पेजी, गोरिल्ला, हाथी, गेण्डा, दरियायी घोड़ा, जिराफ, जेब्रा, लकड़बग्घा, सूअर आदि, पक्षियों में हॉर्नबिल, शुतुरमुर्ग, कोयल, बीवर्स, तोता, कबूतर, स्टार्क आदि, सरीसृप में मगरमच्छ, कछुआ, लिजार्डस, अजगर आदि, उभयचर में सीसिलिएन्स, ब्यूफो आदि तथा मछलियों में कैटफिश, साइकिड्स आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश को चार उपप्रदेशों में बाँटते हैं. उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका तथा मलागासी उपप्रदेश।
5. **ओरिएण्टल प्रदेश** (Oriental Region)—इस प्रदेश के अन्तर्गत हिमालय तथा शिंगलिंगशान पर्वतों से दक्षिण की ओर का सम्पूर्ण एशिया सम्मिलित है। यह तीन ओर से समुद्रों से घिरा हुआ है। जलवायु की दृष्टि से मुख्यत: उष्ण कटिबंधीय प्रदेश है, किन्तु इसमें अत्यधिक विविधता पाई जाती है। यहाँ उष्ण कटिबंधीय तथा शीतोष्ण कटिबंधीय वन पाए जाते हैं, किन्तु पश्चिमी भाग में मरुस्थल है।
यहाँ स्थलीय कशेरुकियों के कुल 153 वंश पाए जाते हैं। इस प्रदेश के प्राणिजात में स्तनधारियों में ओरंगउटान, मोल्स, भालू, तापीर, हाथी, सूअर, गेण्डा, शेर, बाघ, सांभर, लकड़बग्गा, छछून्दर, गिलहरी आदि, सरीसृप में मगरमच्छ, घड़ियाल, लिजार्डस, कछुआ, अजगर, कोबरा, वाइपर आदि, उभयचर में रैनिड्स, *हाइला* आदि, पक्षियों में मोर, बुलबुल, बया, तीतर, तोता, कबूतर आदि तथा मछलियों में कॉर्प, केटफिश आदि प्रमुख हैं। ओरिएन्टल प्रदेश को चार उपप्रदेशों में बाँटा जाता है—भारतीय, लंका, इण्डोचीन तथा इण्डो मलाया उपप्रदेश।
6. **ऑस्ट्रेलियन प्रदेश** (Australion Region)—इस प्रदेश में ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, न्यूगिनी, तस्मानिया एवं निकटवर्ती द्वीप सम्मिलित हैं। यह चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। यह प्रदेश आंशिक रूप से शीतोष्ण तथा उष्ण कटिबंधीय है। प्राणि-भौगोलिक प्रदेशों में यह सबसे छोटा है। इसका अधिकांश भाग बंजर व मरुस्थल है। अत: वनस्पति आवरण बहुत कम है।
यहाँ स्थलीय कशेरुकियों के कुल 134 वंश मिलते हैं। प्लेसेन्टल स्तनधारियों (जैसे हाथी, शेर आदि) की अनुपस्थिति इस प्रदेश की विशेषता है। यहाँ के प्राणिजात में स्तनधारियों में कंगारू, चमगादड़, खरगोश, डकबिल, प्लेटीपस, तस्मानियायी भेडिया, ह्वेल आदि, पक्षियों में एमू, किवि, ट्रोगन, किंगफिशर, गिद्ध, मैना, कबूतर, तोता आदि, सरीसृप में लिजार्डस, कछुआ, अजगर, मगरमच्छ, विषैले सर्प आदि, उभयचर में *हाइला*, मेढक आदि तथा मछलियों में ऑस्टिओग्लोसिड्स व विओसेरेटोड्स आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश को चार उपप्रदेशों में बाँटा जाता है-ऑस्ट्रो-मलायन, ऑस्ट्रेलियन, पॉलिनेसियन तथा न्यूजीलैण्ड उपप्रदेश।

प्र.6. वन को परिभाषित करते हुए इसके प्रमुख प्रकारों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।

उत्तर

वन
(Forest)

ऐसे पादप संघ को वन कहते हैं जिसमें वृक्षों एवं अन्य काष्ठिल (Woody) पादपों की प्रमुखता व बाहुल्य हो। रिले के शब्दों में, "वन वनस्पति का एक प्रकार है, जिसमें वृक्षों की प्रमुखता होती है।" अर्थात् यह प्राकृतिक वनस्पति का एक प्रकार है, जहाँ

उच्चावच, मृदा तथा जलवायु की अनुकूल दशाओं के कारण वृक्षों की वृद्धि अधिक होती है। अन्य वनस्पति की अपेक्षा वृक्षों को सूर्य प्रकाश, उष्णता तथा नमी की अधिक आवश्यकता होती है। इन प्राकृतिक दशाओं में भिन्नता के कारण वनों में भी प्रादेशिक भिन्नता पायी जाती है। वनों के प्रमुख प्रकार तथा विश्व वितरण निम्नानुसार हैं—

1. **उष्ण कटिबन्धीय वन** (Tropical Forest)—उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में फैले हुए वनों को दो भागों में बाँटा जाता है।
   (i) **उष्ण कटिबंधीय वर्षा वन** (Tropical Rainy Forest)—ये वन भूमध्य रेखा के दोनों ओर 8° उत्तरी तथा 8° दक्षिणी अक्षांश के मध्य मिलते हैं। अधिकांश वन निम्न भूमियों पर हैं। वर्षा का औसत 200 सेमी से अधिक तथा वर्ष भर ऊँचे तापमान जैसी अनुकूल दशाओं के कारण इन वनों में वर्ष भर हरियाली रहती है। इसीलिए उष्ण कटिबंधीय वर्षा वनों को सदाबहार वन भी कहा जाता है। भूमध्य रेखा के सहारे-सहारे पेटी के रूप में फैले हुए इन वनों की निरन्तरता को मात्र नदी घाटियाँ या मानवीय बस्तियां कहीं-कहीं भंग करती हैं।
   यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति की प्रमुख विशेषता अनेक प्रकार के कठोर लकड़ी वाले वृक्षों का पाया जाना है। वृक्षों की विविधता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इन वनों में पादपों की एक लाख से अधिक जातियां पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, ब्राजील में स्थित सदाबहार वनों में 2 वर्ग किमी क्षेत्र में 300 से अधिक जाति के वृक्ष मिलते हैं। वृक्षों के पत्ते चौडे, तने बहुत मोटे तथा ऊँचाई 50 से 60 मीटर तक पायी जाती है। ऊँचाई के अनुसार पादपों के तीन स्तर पाये जाते है, अत: इन्हें बहुमंजिले वन भी कहते हैं। सबसे ऊँची परत विशाल वृक्षों से बनी होती है, जो कि छितराये हुए होते हैं। द्वितीय मध्यवर्ती परत 25 से 35 मीटर ऊँचाई वाले वृक्षों की होती है। इनके छत्र परस्पर सटे हुए होते हैं। जहाँ कहीं इनके मध्य में खाली स्थान होते हैं वहाँ निम्न स्तर विकसित होता है, जिसमें पतले तने वाले छोटे वृक्ष तथा झाड़ पाये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न स्तर के वृक्षों के छत्रों से मिलकर पूरा वन क्षेत्र ढका हुआ लगता है, जिसे पार करके सूर्य प्रकाश भी सीधा धरातल तक नहीं पहुँच पाता है। वृक्षों पर अनेक प्रकार की आरोही लताएं तथा अधिपादप पाये जाते हैं। इन वनों में भूतलीय वनस्पति नहीं पायी जाती है।
   आबनूस, लौह-काष्ठ, रोजवुड, ताड़, महोगनी, रबर, तेलताड़, ब्राजील नट, बांस, सिनकोना, बेंत आदि इन वनो में पाये जाने वाले प्रमुख वृक्ष हैं। समुद्र तटीय भागों में मैंग्रूव पादप पाये जाते हैं।
   भूमध्य रेखीय सदाबहार वनों का विस्तार मुख्यत: तीन क्षेत्रों में पाया जाता है—
   (अ) दक्षिणी अमेरिका में अमेजन व ओरेनिको बेसिन तथा मध्य अमेरिका,
   (ब) मध्य एवं पश्चिमी अफ्रीका में कांगो, नाइजर व जेम्बेजी बेसिन तथा मेडागास्कर,
   (स) एशिया में इण्डो मलय-बोर्नियो-न्यूगिनी प्रदेश।
   अमेजन बेसिन के उष्ण कटिबंधीय वनों को सेल्वा (Selva) कहा जाता है, जो विश्व में सबसे बड़ा वर्षा वन है।
   (ii) **उष्ण कटिबंधीय मानसूनी वन** (Tropical Monsoon Forest)—उष्ण कटिबंध के ऋतुवत वर्षा वाले क्षेत्रों के वनों को मानसूनी वन कहते हैं। इनमें भी पर्याप्त वर्षा तथा अधिक तापमान अंकित किए जाते हैं। यहाँ वर्षा का औसत 100 से 250 सेमी तक पाया जाता है। इन क्षेत्रों में एक शुष्क ऋतु का होना वनस्पति के लिए एक प्रकार का विश्राम काल होता है। तब पेड़ों के नीचे उगने वाली लम्बी घास तथा लताएं सूख जाती हैं, वृक्ष पत्तियां गिरा देते है।
   इसीलिए इन वनों को पर्णपाती या पतझड़ वन भी कहते हैं। ये वन भूमध्यरेखीय सदाबहार वनों जितने घने नहीं होते हैं। यहाँ आवागमन सुलभ होने के कारण इनका आर्थिक दोहन भी अधिक हुआ है। जल की कमी होने से वृक्षों की ऊँचाई भी कम होती है। वर्षा की मात्रा में भिन्नता का प्रभाव विभिन्न स्थानों पर वनस्पति की भिन्नता के रूप में देखने को मिलता है। इनमें पादप विविधता भी अपेक्षत: कम मिलती है।
   इनमें साल, सागौन, शीशम, आम, बांस, बरगद, पीपल, नीम, जामुन, यूकेलिप्टस, चंदन आदि वृक्षों की प्रमुखता है। अधिक ऊँचाई वाले भागों में पर्वतीय वन पाए जाते हैं। इन वनों में सेन्वरस, डेक्टिलोसेटिनम, एल्युसिने आदि अनेक प्रकार की घासें भी पायी जाती हैं। उष्ण कटिबंधीय मानसूनी वनों का विस्तार उन भागों तक सीमित है, जहाँ मानसूनी पवनों से वर्षा होती है। पश्चिमी अफ्रीका तथा भारत में उष्ण कटिबंधीय वर्षा वन धीरे-धीरे मानसूनी वनों में मिल जाते हैं। पश्चिमी अफ्रीका में इन्हें शुष्क सदाबहार वन कहते हैं। इनका विस्तार मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका (ब्राजील तट), पश्चिमी अफ्रीका, उत्तरी ऑस्ट्रेलिया, भारत, दक्षिणी पूर्वी एशिया की मुख्य भूमि तथा प्रशान्त व हिन्द महासागर में स्थित उष्ण कटिबंधीय द्वीपों पर है। वास्तव में एशिया में इन वनों का विस्तार सर्वाधिक है, जहाँ ये अपने वास्तविक रूप में देखे जा सकते हैं।
2. **मध्य अक्षांशीय वन** (Mid-latitude Peripheral Forest)—मध्यवर्ती अक्षांशों में मुख्यत: शीतोष्ण कटिबंध में फैले हुए वनों को तीन वर्गों में बाँटा जाता है—

(i) **भूमध्य सागरीय वन** (Mediterranean Forest)—महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में 30° से 45° अक्षांशों के मध्य स्थित भूमध्य सागरीय जलवायु क्षेत्रों में पाये जाने वाले वनों को भूमध्य सागरीय वन कहते हैं। यहाँ वर्षा मुख्यत: शीतकाल में होती है, जिसका औसत 50 से 110 सेमी है। ग्रीष्मकाल प्राय: शुष्क रहता है। इससे अनुकूलन के लिए वृक्षों की जड़ें लम्बी, छाल मोटी तथा पत्तियां चिकनी होती हैं। ये वन अधिक घने नहीं होते हैं। वनस्पति में चौड़ी पत्ती वाले सदाबहार कठोर लकड़ी के वृक्ष प्रमुख हैं, जो कि छोटे व दूर-दूर होते हैं। इनके बीच-बीच में ऊँची-ऊँची झाडियां पायी जाती हैं। पहाडी ढालों पर कोणधारी वृक्ष मिलते हैं।

झाड़ मिश्रित वनों को यूरोप में भूमध्य सागर के निकटवर्ती क्षेत्र में माकी (Maqui) तथा उत्तरी अमेरिका के केलिफोर्निया क्षेत्र में चपराल (Chaparral) कहते हैं। ओक इन वनों का प्रमुख वृक्ष है। इसके अलावा कॉर्क, जैतून, अंजीर, शहतूत, अखरोट, सनोवर, बलूत तथा रसदार फलों के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते हैं। वृक्षों के अलावा माकी, चपराल, माचिया, मेटोरल, गेरिग आदि झाड़ पाए जाते हैं। भूमध्य सागरीय वनों का विस्तार भूमध्य सागर के निकटवर्ती क्षेत्रों, उत्तरी अमेरिका में केलिफोर्निया, दक्षिणी अमेरिका में मध्य चिली, दक्षिणी अफ्रीका में केप प्रदेश तथा दक्षिणी पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया में है।

(ii) **शीतोष्ण कटिबंधीय पतझड़ वन** (Temperate Deciduous Forest)—मध्यवर्ती अक्षांशों में महाद्वीपों के पूर्वी भाग में शीतोष्ण कटिबंध के कोष्ण (Warm) प्रदेशों में जहाँ ग्रीष्मकाल में वर्षा तथा शीतकाल में हिमपात होता है, वहाँ पतझड़ वन पाए जाते हैं। शीत ऋतु अधिक कठोर होने के कारण इस काल में प्राय: सारे वृक्ष पत्तियां गिरा देते हैं। इन भागों में वर्षा का औसत 75 से 150 सेमी रहता है।

उष्ण कटिबंध की तुलना में यहाँ पतझड़ काल लम्बा होता है। यहाँ वृक्षों की वृद्धि भी अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होती है तथा पत्तियां भी कम होती हैं। अधिकांश वृक्ष बहुवर्षीय तथा अनेक शाखाओं वाले होते हैं, जिनमें काष्ठ की मात्रा अधिक होती है। वृक्षों की ऊँचाई 40 से 50 मीटर तक पायी जाती है। इन वनों में वृक्षों के मध्य कहीं-कहीं घास भी उगती है, किन्तु लताओं तथा छोटी झाड़ियों का प्राय: अभाव है।

ओक, मेपुल, ऐश, ऐल्म, बीच, हिकरी तथा बर्च शीतोष्ण कटिबंधीय पतझड़ वनों के प्रमुख वृक्ष हैं। ऊँची भूमि व उच्च अक्षांशों की ओर कोणधारी वृक्षों हेमलॉक, पाइन आदि की प्रधानता होती है। कोणधारी वृक्षों के उगने से पतझड़ वाले वनों को कभी-कभी मिश्रित वन भी कहते हैं। इन वनों का विस्तार मुख्यत: पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, कनाडा के सेंटलारेंस क्षेत्र, पूर्वी चीन, जापान, कोरिया तथा दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी भाग में पाया जाता है। अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया में इनका लगभग अभाव है।

(iii) **शंकुधारी वन** (Coniferous Forest)—इन्हें कोणधारी वन भी कहते हैं। शीतोष्ण कटिबंध के शीतल प्रदेशों में सदाबहार शंकुधारी वन पाये जाते हैं। यहाँ ग्रीष्मकाल में भी तापमान इतना ऊँचा नहीं होता कि वृक्ष अपनी पत्तियां गिरा दें। शीतकाल में हिमपात से रक्षा के लिए इन वृक्षों की पत्तियां नुकीली होती हैं। हिमपात तथा वर्षा का औसत 25 से 100 सेमी तक पाया जाता है। संपूर्ण वर्ष में मात्र 4-5 माह ही तापमान 6° सेग्रे० से ऊपर रहते हैं।

इन वनों की प्रमुख विशेषता एक ही जाति के वृक्षों का बहुत बड़े क्षेत्र में एक साथ पाया जाना है। ये नरम लकड़ी के वन हैं, अत: इनका आर्थिक महत्व अधिक है। अत्यधिक शीत के कारण वृक्षों के नीचे घास तथा लताएं बिल्कुल नहीं उग सकती हैं। चीड़ (पाइन), देवदार (सीडर), स्प्रूस, लार्च, सिल्वर फर, डगलस फर, हेमलॉक आदि इन वनों के प्रमुख वृक्ष हैं। एशिया में 60° तथा यूरोप में $66\frac{1}{2}$° उत्तर तक इनका विस्तार है। उत्तरी यूरोप व साइबेरिया में इन वनों को टैगा कहते हैं। इनके अलावा कनाडा, हिमालय, आल्पस, रॉकीज व एण्डीज में भी शंकुधारी सदाबहार वन पाये जाते हैं।

❑

मॉडल पेपर

भौतिक भूगोल

B.A.-I (SEM-I) [पूर्णांक : 75

नोट—सभी खण्डों को निर्देशानुसार हल कीजिए।

खण्ड-अ : अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश—सभी पाँच प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **3 अंक** का है। अधिकतम 75 शब्दों में अतिलघु उत्तर अपेक्षित हैं।*

1. भौतिक भूगोल से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में लिखिए।

2. जलीय तथा स्थलीय गोलार्द्ध से आप क्या समझते हैं?

3. कायान्तरित चट्टानों के विश्व वितरण से आप क्या समझते हैं?

4. वर्षा को परिभाषित करते हुए वर्षा के पूर्व वायुमण्डल में होने वाली अनुकूल परिस्थितियों को समझाइए।

5. महासागरीय नितल की सामान्य विशेषताएँ को बताते हुए उच्चावच को संक्षेप में लिखिए।

खण्ड-ब : लघु उत्तरीय प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित तीन प्रश्नों में से किन्हीं **2 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **7.5 अंक** का है। अधिकतम 200 शब्दों में लघु उत्तर अपेक्षित हैं।

6. भौतिक भूगोल के अध्ययन क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

अथवा महासागरीय नितलों के विस्तार का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

7. यांत्रिक क्रिया जनित अवसादी चट्टानें की परिभाषा हेतु हुए इन चट्टानों को अवसादी की किस आधार पर कितने भागों में विभाजित किया गया है? संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

अथवा उष्णकटिबन्धीय चक्रवात से आप क्या समझते हैं? इसकी सामान्य विशेषताएँ को लिखिए।

8. अकार्बनिक निक्षेप से आप क्या समझते हैं? इसके अन्य विविध स्त्रोतों को उल्लेखित कीजिए।

अथवा टुण्ड्रा वनस्पति के बारे में आप क्या जानते हैं? मरुस्थलीय वनस्पति के विषय में भी बातइए।

खण्ड-स : विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित पाँच प्रश्नों में से किन्हीं **3 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **15 अंक** का है। अधिकतम 500-800 शब्दों में विस्तृत उत्तर अपेक्षित हैं।

9. भौतिक भूगोल की प्रमुख शाखाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

अथवा ज्वालामुखी क्रिया से बनी आन्तरिक भू-आकृतियों का वर्णन कीजिए तथा इसकी क्रिया के गौण रूपों की व्याख्या कीजिए।

10. प्लेट किनारों के प्रकारों की विस्तार से विवेचना कीजिए।

अथवा चट्टानों का सामान्य परिचय देते हुए अवसादी चट्टानों की उत्पत्ति एवं रचना विधि के अनुसार जैविक तत्त्वों से निर्मित तथा रासायनिक क्रिया द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानों का वर्णन कीजिए।

11. महासागरीय तट किसे कहते हैं? महासागरीय तटों के प्रमुख प्रकार समझाइए।

अथवा वायुमण्डल के ठण्डा व गर्म होने की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।

TOUCH 'n' PASS

12. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों के विकास का आदर्श क्षेत्र किसे माना जाता है? इन चक्रवातों को कितने भागों में विभाजित किया गया है तथा इन चक्रवातों का मौसम पर क्या प्रभाव पड़ता है?

अथवा महासागरीय निक्षेप को परिभाषित करते हुए महासागरों की विविध गहराइयों में पाए जाने वाले पदार्थों को स्रोत के आधार पर किन वर्गों में विभाजित किया गया है? इसका विस्तृत वर्णन कीजिए।

13. आर्कटिक महासागर के नितल के उच्चावच का वर्णन करते हुए महासागरीय कटक तथा महाद्वीपीय चबूतरे को परिभाषित कीजिए।

अथवा वन को परिभाषित करते हुए इसके प्रमुख प्रकारों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।

❑

TOUCH 'n' PASS

- यद्यपि इस पुस्तक को यथासम्भव शुद्ध एवं त्रुटिरहित प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया गया है, तथापि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि अनिच्छाकृत ढंग से रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा सन्ताप के लिए लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। सभी विवादित मामलों का न्यायक्षेत्र मेरठ न्यायालय के अधीन होगा।
- इस पुस्तक में समाहित सम्पूर्ण पाठ्य-सामग्री (रेखा व छायाचित्रों सहित) के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं। अतः कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक का नाम, टाइटिल-डिजाइन तथा पाठ्य-सामग्री आदि को आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करने का प्रयास न करें, अन्यथा कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार होंगे।
- इस पुस्तक में रह गई तथ्यात्मक त्रुटियों तथा अन्य किसी भी कमी के लिए विद्वत् पाठकगण से भूल-सुधार/सुझाव एवं टिप्पणियाँ सादर आमन्त्रित हैं। प्राप्त सुझावों अथवा त्रुटियों का समायोजन आगामी संस्करण में कर दिया जाएगा। किसी भी प्रकार के भूल-सुधार/सुझाव आप info@vidyauniversitypress.com पर भी ई-मेल कर सकते हैं।